हिन्दी दशरूपक

आचार्य धनञ्जयविरचित संस्कृत 'दशरूपकम्' तथा धनिक कृत उसकी 'अवलोक' टीका का व्याख्यात्मक हिन्दी अनुवाद

अनुवादक

डा० गोविन्द त्रिगुणायत एम० ए०, पी० एच० डी०

अध्यक्ष संस्कृत विभाग, के० जी० के० कालेज, मुरादाबाद

प्रकाशक

साहित्य निकेतन

कानपुर

हिन्दी दशरूपक

दशरूपक और उसकी हिन्दी व्याख्या

अनुवादक और व्याख्याकार
डा० गोविन्द त्रिगुणायत एम० ए० पी० यच० डी०
अध्यक्ष संस्कृत विभाग, के० जी० के० कालेज, मुरादाबाद

प्रकाशक
साहित्य निकेतन
कानपुर

मूल्य ५।।)
सजिल्द ६।)

मुद्रक :—श्री प्रेमचन्द मेहरा, न्यू एरा प्रेस, इलाहाबाद ।

धनञ्जयप्रणीतं दशरूपकम्

आनन्दाख्यया हिन्दी व्याख्यया

विभूषितम्

पूज्यपाद गुरुवर स्व० पं० चन्द्रशेखर
पाण्डेयजी की पुण्यस्मृति को
सादर समर्पित

हिन्दी दशरूपक

विषय-सूची

—

प्राक्कथन

दशरूपक नाट्य विषय का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके रचयिता आचार्य धनञ्जय हैं। इसमें लगभग ३०० कारिकाएँ हैं। इनमें रूपक सम्बन्धी समस्त आवश्यक बातें प्रतिष्ठित कर दी गई हैं। विद्वान् आचार्य ने अपने पूर्वाचार्यों के मतों का पुनःस्थापन ही नहीं किया है, वरन् अपने मौलिक सिद्धांत भी प्रतिपादित किये हैं। यह ग्रन्थ अपनी संक्षिप्तता, मौलिकता, विषय प्रतिपादन की साङ्गता और सुबोधता के लिए प्रसिद्ध है। इतना होते हुए भी विद्वान् लोग इसके सूक्ष्म अध्ययन की ओर बहुत कम प्रवृत्त हुए हैं। यही कारण है कि जिस ग्रन्थ की सैकड़ों टीकाएँ उपलब्ध होनी चाहिए थीं, उसकी आज केवल दो एक टीकाएँ ही प्राप्त हैं। दो-चार के उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में मिल जाते हैं। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध और पांडित्यपूर्ण धनिक की 'अवलोक' टीका है। यह टीका ही इस समय दशरूपक के अध्ययन का आधार बनी हुई है। सच तो यह है कि यदि यह टीका न होती तो मूल ग्रन्थ के बहुत से अंशों को समझना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता। इतना होते हुए भी इस टीका को हम पूर्ण नहीं कह सकते हैं। यह बहुत सुबोध और बालोपयोगी भी नहीं है तभी तो नृसिंह पण्डित को इस टीका की भी टीका लिखनी पड़ी थी। किन्तु दुर्भाग्यवश आज वह उपलब्ध नहीं है। दशरूपक की एक टीका और प्राप्त है। किन्तु अभी तक वह मुद्रित होकर प्रकाश में नहीं आई है। इसका विस्तृत विवरण डॉ० राघवन ने अपने एक लेख में किया है। इसके लेखक बहुरूप मिश्र नामक कोई आचार्य थे। इनके अतिरिक्त संस्कृत में दशरूपक की दो टीकाएँ और लिखी गई थीं। आजकल वे अप्राप्य हैं। कुछ प्राचीन ग्रंथों में उनका नामोल्लेख मात्र मिलता है। एक टीका किसी देवपाणि नामक आचार्य ने लिखी थी। इसका उल्लेख रंगनाथजी ने अपनी विक्रमोर्वशीय की टीका में किया है। एक दूसरी टीका का उल्लेख भी कुछ ग्रन्थों में मिलता है। इसके रचयिता कोई कुरविराम नामक विद्वान् थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि ६०० वर्षों में इस ग्रन्थ की नौ टीकाएँ भी नहीं लिखी गईं। वास्तव में इस ग्रन्थ की जितनी विवेचना और व्याख्या की जानी चाहिए थी, नहीं की गई।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी दशरूपक के अध्ययन की ओर ध्यान नहीं दिया। अमेरिकन विद्वान् हास महोदय ने बहुत प्रयत्न करके इसका एक अँगरेजी अनु-

वाद प्रस्तुत भी किया। किन्तु वह अपूर्ण असफल और अशुद्ध ही रहा। फिर भी यह ग्रन्थ बहुत दिनों तक संस्कृत के अँगरेजी ढङ्ग के विद्वानों के लिए दशरूपक के अध्ययन का आधार बना रहा। अब वह भी अप्राप्त है। दशरूपक के एक-एक अध्याय को लेकर भी कुछ अँगरेजी टीकाएँ लिखी गई थीं किन्तु अधिकारी विद्वानों के द्वारा न लिखी जाने के कारण लोकप्रियता को नहीं प्राप्त हो सकीं। हिन्दी में इसके अनुवाद या व्याख्या करने का साहस अभी तक किसी भी विद्वान् ने नहीं किया है। फलस्वरूप यह ग्रन्थ दुर्बोध ही बना रहा। इसकी सुबोध हिन्दी टीका के अभाव की अनुभूति भारत के विद्वानों और विद्यार्थियों को बुरी तरह से हो रही है। इस लेखक ने उस अभाव की पूर्ति करने का प्रयास किया है। वह अपने प्रयास में कहाँ तक सफल हुआ इसका निश्चय तो विद्वान् लोग ही करेंगे किन्तु उसे यह संकोच नहीं है कि उसने ग्रन्थ को यथाशक्ति पूर्ण बनाने की चेष्टा की है। इसमें धनञ्जय की कारिकाओं और धनिक की अवलोक टीका का छायानुवाद तो दिया ही गया है; साथ-साथ आवश्यकतानुकूल दुरूह अंशों की स्पष्ट व्याख्या भी कर दी गई है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में एक छात्रोपयोगी सुबोध एवं संक्षिप्त भूमिका भी जोड़ दी गई है। इस भूमिका में लेखक और टीकाकार का परिचय, उनका समय और दशरूपक के प्रतिपाद्य विषय आदि पर सरल विश्लेषणात्मक शैली में प्रकाश डाला गया है। यह विवेचन भी पूर्णतया दशरूपक और उसकी अवलोक टीका पर ही आधारित है।

इस ग्रन्थ की रचना में मेरी सबसे अधिक सहायता मेरे मित्र और मेरी ही देख-रेख में शोध कार्य करनेवाले पण्डित श्री रामसागर त्रिपाठी एम० ए० व्याकरणाचार्य ने की है। मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। भूमिका लिखने में मैंने श्री काणे महोदय और डॉ० डे साहब के ग्रन्थों का पूरा उपयोग किया है। मैं उनका हृदय से ऋणी हूँ।

बहुत प्रयत्न करने पर भी ग्रन्थ में बहुत सी मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियाँ रह गईं। इनका परिहार अब दूसरे संस्करण में ही किया जा सकेगा। आशा है विद्वान् पाठक इनके लिए हमें क्षमा करेंगे।

भूमिका

ग्रन्थकार का परिचय

संस्कृत में नाट्य-विषय को लेकर लिखे गये ग्रन्थों में दशरूपक का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण है। नाट्यशास्त्र के बाद यही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें नाट्य-विषय सम्बन्धी समस्त सामग्री का सरल एवं बोधगम्य शैली में विवेचन किया गया है। फिर भी इसे हम संग्रह-ग्रन्थ नहीं कह सकते। यह एक प्रौढ़ और मौलिक रचना है। प्राचीन आचार्यों के मतों का इसमें प्रतिभा के साथ पुनः-प्रस्थापन किया गया है। साथ-ही-साथ लेखक ने अपने मतों का प्रतिपादन भी यथास्थान किया है। अपनी इस मौलिकता और शैलीगत सरलता के कारण ही यह ग्रन्थ इतना लोकप्रिय है।

अब थोड़ा सा दशरूपक के रचयिता और उसके टीकाकार का परिचय दे देना चाहिए। दशरूपक के रचयिता आचार्य धनञ्जय थे। यह बात उसके ही निम्नलिखित श्लोक से प्रगट होती है :—

विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन,
विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः।
आविष्कृतं मुञ्जमहीश गोष्ठी,
वैदग्ध्य भाजा दशरूपमेतत् ॥

अर्थात् श्री विष्णु पण्डित के पुत्र धनञ्जय ने विद्वानों के मनोविनोदार्थ महाराज मुञ्ज की सभागोष्ठी में वैदग्ध्य प्रदर्शन के हेतु इस दशरूपक ग्रन्थ की रचना की थी। इससे स्पष्ट प्रकट है कि दशरूपक का मूल ग्रन्थ आचार्य धनञ्जय रचित है। दशरूपक की कारिकाओं पर अवलोक नामक एक अत्यन्त प्राचीन टीका भी मिलती है। इस टीका के प्रणेता सम्भवतः आचार्य धनञ्जय के अनुज आचार्य धनिक थे। यह बात अवलोक टीका की समाप्ति पर लिखे गये अधो-लिखित श्लोक से प्रकट है—

इति श्रीविष्णुसूनो धनिकस्य कृतौ।
दशरूपावलोके रस विचारो नाम चतुर्थः प्रकाशः ॥

अर्थात् विष्णु के पुत्र धनिक द्वारा रचित दशरूपक की अवलोक टीका में रस विचार नामक चतुर्थ प्रकाश समाप्त होता है। इससे स्पष्ट प्रगट है कि धनञ्जय और धनिक दोनों ही विद्वान् किसी विष्णु पण्डित नामक आचार्य के पुत्र थे।

धनिक और धनञ्जय के विषय में एक भ्रान्ति और प्रचलित है। बहुत से प्राचीन विद्वान् धनञ्जय और धनिक दोनों को एक ही मानते थे। उनकी दृष्टि में दोनों ही नाम सम्भवतः एक ही व्यक्ति के थे। ऐसे विद्वानों में साहित्य दर्पण-कार विश्वनाथ प्रतापरुद्रीय यशोभूषण के रचयिता विद्याधर प्रमुख हैं। उन्होंने दशरूपक की कारिकाएँ धनिक के नाम से उद्धृत की हैं। हमारी समझ में धनञ्जय और धनिक दोनों अलग-अलग व्यक्ति थे और भाई-भाई भी थे। इस मत की पुष्टि में निम्नलिखित तक दिये जा सकते हैं :—

(१) जब मूल ग्रन्थ के रचयिता की बात कही गई है तब केवल धनञ्जय का ही उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार टीका की समाप्ति पर केवल टीका-कार धनिक का उल्लेख किया गया है। यदि दोनों व्यक्ति एक ही होते तो फिर दशरूपक में कोई न कोई श्लोक ऐसा अवश्य होता जिससे यह स्पष्ट होता कि धनिक और धनञ्जय एक ही व्यक्ति के नाम थे। इस प्रकार का कोई उल्लेख न होने के कारण दोनों को अलग-अलग मानना ही उचित है।

(२) कुछ लोग यह तर्क दे सकते हैं कि दशरूपक में दो स्थलों पर विष्णु पण्डित के पुत्र का दो भिन्न-भिन्न नामों से उल्लेख किया गया है। एक स्थल पर उनका नाम धनञ्जय दिया गया और दूसरी जगह धनिक; किन्तु यह तर्क सशक्त नहीं है। दो नामों का एक ही पिता से सम्बन्धित होना इस बात का प्रमाण नहीं हो सकता कि वे दोनों नाम उसके एक ही पुत्र के होंगे। एक व्यक्ति के दो पुत्र भी हो सकते हैं। यदि कारिकाओं के रचयिता के रूप में ही दोनों नामों का उल्लेख किया गया होता तो कुछ सम्भावना भी हो सकती थी कि शायद दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हों। किन्तु दशरूपक में एक नाम के व्यक्ति को मूल ग्रन्थ का रचयिता बताया गया है और दूसरे व्यक्ति को केवल टीका का प्रणेता कहा गया है। अतएव दोनों नाम एक ही व्यक्ति के नहीं हो सकते।

(३) कारिकाओं और उनकी टीकाओं का यदि ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाय तो ऐसा प्रतीत होता है, कि टीकाकार कहीं मूलग्रन्थ के लेखक के मतों से पूर्ण सहमत नहीं है। ऐसे स्थलों पर उसने अपने दृष्टिकोण को भी स्पष्ट कर दिया है।

(४) धनिक ने अपनी टीका में जहाँ कहीं धनञ्जय के मत का समर्थन किया है वहाँ उन्होंने अपने लिए एक वचन का प्रयोग न करके बहुवचन का प्रयोग किया है जैसे एक कारिका की टीका करते हुए वे लिखते हैं "सर्वथा नाटकादावाभिनयात्मनि स्थायित्व अस्माभिः निषिध्यते"। यहाँ अस्माभिः शब्द

स्पष्ट द्योतित करता है कि धनिक अपना और अपने मूलग्रन्थ लेखक दोनों के मतों का समर्थन कर रहे हैं।

(५) धनिक और धनञ्जय के समय में बहुत बड़ा अन्तर नहीं है। कारिकाओं की रचना महाराज मुञ्ज के समय में हुई थी। महाराज मुञ्ज का राज्यारोहण समय जैसा कि आगे के विवेचन से प्रकट हो जायगा लगभग ९७४ ई० के माना जाना चाहिए। अतः दशरूपक की कारिकाओं की रचना इसके बाद ही हुई होगी। मुञ्ज ने लगभग ९९४ ई० तक राज्य किया होगा, क्योंकि तैलप द्वितीय ने इसी समय के आस-पास उसकी हत्या की थी। अतएव दशरूपक की रचना भी ९७४ से लेकर ९९४ ई० के बीच में हुई होगी। अवलोक टीका की रचना कुछ दिनों बाद हुई होगी। अवलोक टीका में धनिक ने नवसाहसाङ्क चरित का एक श्लोक उद्धृत किया है। नवसाहसाङ्क चरित की रचना सिन्धुराज के समय में हुई थी। सिन्धुराज महाराज मुंज के बाद ही सिंहासनारूढ़ हुए थे। यदि सिन्धुराज ने दस-पन्द्रह वर्ष भी राज्य किया होगा तो भी धनिक को धनञ्जय का अनुज मानने में बाधा नहीं पड़ती। अनुज और अग्रज में दस-बारह वर्ष का अन्तर बहुत नहीं है। हो सकता है सिन्धुराज के शासन के प्रारम्भ में ही टीका लिखी गई हो तो दोनों में और भी कम अन्तर हुआ। जो भी हो समय की दृष्टि से भी दोनों भाई ही ठहरते हैं।

दशरूपक का रचना-काल—दशरूपक भारतीय नाट्य-शास्त्र का एक सुन्दर ग्रन्थ है। इसकी रचना महाराज मुंज के सभा पण्डित और कवि धनञ्जय ने की थी। यह बात दशरूपक के ही निम्नलिखित श्लोक से प्रकट है:—

विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन
विद्वन्मनोराग निबन्ध हेतुः।
आविष्कृतं मंजुमहीश गोष्ठी
वैदग्धभाजा दशरूपमेतत्॥

यह महाराज मुञ्ज वाग्पति राज भी कहलाते थे। यह बात भी दशरूपक के ही एक उद्धरण से प्रकट होती है। धनिक ने निम्नलिखित पद्य को एक स्थल पर तो मुञ्ज के नाम से उद्धृत किया है और दूसरे स्थल पर वाग्पति राज के।

प्रणय कुपितां दृष्ट्वा देवीं ससंभ्रमविस्मित-
स्त्रिभुवनगुरु भीत्या सद्यः प्रणामपरोऽभवत्।
नमितशिरसो गंगा लोके तया चरणाहता
भवतु भवतस्त्र्यक्षस्यैतद्विलक्षमवस्थितम्॥

अब विचारणीय यह है कि वाग्पति राज के नाम से प्रसिद्ध महाराज मुञ्ज

का शासन-काल कब से कब तक था। महाराज मुञ्ज मालव के एक परमारवंशी राजा थे। इनकी चर्चा हमें निम्नलिखित स्थलों पर मिलती है।

(१) **एपीग्रेफिका इण्डिका**—वाल्यूम १-पृ० २२२-२३८ इस स्थल पर बुलर साहब ने मालवा के राजाओं का निर्देश उदययुर प्रशस्ति के आधार पर किया है।

(२) **एपीग्रेफिका इण्डिका**—वाल्यूम २-पृ० १८०-६४ इस स्थल पर कीलहार्न नामक विद्वान् ने नागपुर प्रशस्ति के आधार पर मालवा के परिमार राजाओं की वंशावली का उल्लेख किया है।

आलोचना—एपीग्रेफिका इण्डिका के उपर्युक्त दोनों स्थलों पर परमार-वंशी मालव राजाओं की वंशावलियाँ लगभग एक सी हैं। वंशवृक्ष के ढङ्ग पर उनका निर्देश हम इस प्रकार कर सकते हैं—
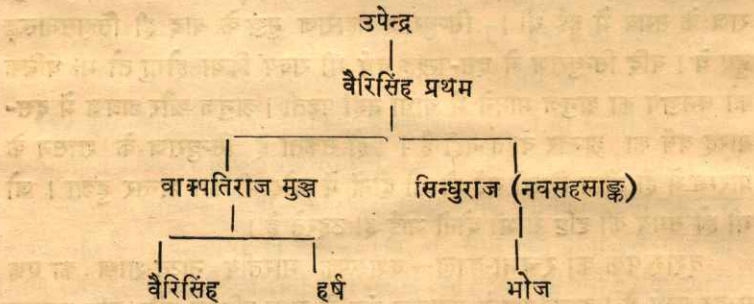
इस वंशवृक्ष के आधार पर हम वाग्पतिराज और सिन्धुराज को एक प्रकार से समकालीन मान सकते हैं। महाराज भोज इनके एक पीढ़ी बाद हुए थे। इसका अर्थ हुआ कि वाग्पतिराज का समय महाराज भोज से कुछ पहले होगा। महाराज भोज का समय एलबरूनीकृत इण्डिया में १०३० ई० माना गया है (इण्डियन इन्टीक्वेरी भाग ६ पृ० ५३-५४)। भोज का उत्तराधिकारी जयसिंह था। जयसिंह का दानपत्र १०५५ ई० का है। इससे यह प्रकट होता है कि भोज ने लगभग १०५० के आस-पास तक शासन किया था। अब हमें यह देखना है कि इनके शासन का प्रारम्भिक काल क्या हो सकता है। इसके लिए हमें निम्नलिखित घटनाओं और बातों पर विचार करना होगा :—

(१) वाग्पतिराज का ९७४ ई० का एक शिलालेख। इस शिलालेख में लिखा है कि उसने अहिछत्र देश से आये हुए किसी धनिक पण्डित के पुत्र वसंताचार्य को कुछ पृथ्वी दान दी थी।

(२) ९७९ ई० का एक लेखपत्र—इसने लिखा है कि वाग्पतिराज ने उज्जयिनी की वसंतदेवी के नाम एक गाँव समर्पित किया था।

उपर्युक्त दोनों उल्लेखों से प्रगट है कि वाक्पतिराज ९७४ से ९७९ के बीच

में सिंहासनारूढ़ हो चुका होगा, क्योंकि इस प्रकार के दान देने में वह तभी समर्थ हो सकता था। अब देखना यह है कि उसके शासन की अन्तिम सीमा क्या है। इसका निश्चय करने में निम्नलिखित दो बातें सहायक हैं :—

(१) तैलप द्वारा वाक्पतिराज की हत्या।

(२) सुभाषित रत्न संदोह में दी गई मुञ्ज की वर्णना।

इण्डियन एन्टेक्वेरी भाग ३६ पृ० १७० पर लिखा है कि तैलप द्वितीय ने वाक्पतिराज को पराजित कर उसकी हत्या की थी। तैलप द्वितीय का मृत्यु काल ९९७ और ९९८ ई० के आस-पास माना जाता है। इससे यह निश्चित हो जाता है कि वाक्पतिराज की हत्या ९९७ से पहले की गई होगी। अमितगति नामक किसी कवि ने सुभाषित संदोह की रचना मुञ्ज के राज्यकाल में की थी। इस ग्रन्थ का रचनाकाल विक्रम स० १०५० तद-नुसार ९९३ या ९४ ई० दिया हुआ है। इससे प्रगट है कि मुञ्ज की मृत्यु ९९३ या ९९४ ई० से पहिले किसी प्रकार नहीं मानी जा सकती। इस प्रकार मुञ्ज का समय ९७४ से ९९४ ई० निश्चित होता है। दशरूपक की कारिकाएँ इन्हीं दोनों सनों के बीच किसी समय हुई होंगी। दशरूपक की रचना मुञ्ज महाराज की सभागोष्ठी के लिए हुई थी। अतएव उसकी रचना उसके शासन के स्वर्ण युग में ही हुई होगी, क्योंकि राज्य में बाह्य और आन्तरिक शान्ति स्थापित करके ही कोई भी राजा कला की उन्नति में सहयोग देता है। अत: दशरूपक का रचनाकाल लगभग ९८५ ई० के आस-पास के निश्चित किया जाना चाहिए।

अब थोड़ा-सा अवलोक टीका के रचनाकाल पर विचार कर लेना चाहिए। टीका के रचनाकाल को निश्चित करने के लिए टीकाकार के समय पर विचार कर लेना भी आवश्यक है। धनिक ने अपनी अवलोक टीका में अनेक ग्रंथों से श्लोक उद्धृत किये हैं। इन ग्रंथों में निम्नलिखित ग्रंथ उसका समय निश्चित करने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

(१) नवसाहसाङ्क चरित।

(२) विद्धशाल भंजिका।

(३) कर्पूर मंजरी।

इन तीनों में भी सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ नवसाहसाङ्क चरित है। यह एक सुन्दर महाकाव्य है। इसकी रचना महाराज सिन्धुराज की आज्ञा से किसी पद्मगुप्त नामक कवि ने की थी। यह बात उसी की निम्नलिखित पंक्ति से प्रगट होती है :—

"नैते कवीन्द्राः कति काव्यबन्धे तदेष राज्ञा किमहं नियुक्तः"

उसी के अन्तिम पद में भी इस प्रकार लिखा है :—

"यच्चापलं किमपि मन्द धिया मयैवभासूत्रितं नरपते नवसाहसाङ्क।
आज्ञैव हेतु रिहि ते सयनीकृतो अराजन्य मौलिकुसुमः न कवित्व दर्पः"॥

सिन्धुराज वाक्पतिराज के बाद सिंहासनारूढ़ हुए थे। वाक्पतिराज का शासनकाल सन् ६६४ तक माना गया है। अतएव स्पष्ट है कि धनिक ने अवलोक टीका सिन्धुराज के शासन-काल में ही लिखी होगी। बुहलर महोदय ने उदयपुर प्रशस्ति के आधार पर लिखा है कि धनिक उत्पलराज या वाक्पतिराज के महासाध्यपाल थे। यदि यह बात सत्य है तो धनिक मुञ्ज महाराज के शासनकाल में ही अच्छी प्रतिष्ठा और वयस् प्राप्त कर चुके होंगे। अतः अवलोक टीका उन्होंने सिन्धुराज के शासनकाल के प्रारम्भ में लिखी होगी। सिंधुराज का शासनकाल सन् १६६४ से प्रारम्भ हुआ होगा। उन्होंने अवलोक टीका सन् ६६४ से लेकर सन् १००० ई० के बीच में रची होगी। यहाँ पर थोड़ा-सा विचार धनिक पण्डित वाली बात पर भी कर लिया जाय। वाक्पतिराज का एक सन् ६७४ ई० का शिलालेख प्राप्त हुआ है। इस शिलालेख में लिखा है कि उसने अहिछत्र देश से आए हुए किसी धनिक पण्डित के पुत्र वसन्ताचार्य को कुछ पृथ्वी दान में दी थी। मेरी समझ में अवलोक टीकाकार धनिक और वसन्ताचार्य के पिता धनिक एक ही थे। क्योंकि धनिक नाम इतना प्रचलित नहीं रहा है कि एक समय में बहुत से धनिक नाम के व्यक्ति प्रसिद्ध रहे हों। मेरी समझ में वसन्ताचार्य धनिक के सुयोग्य पुत्र थे। गुणग्राही राजा वाक्पति ने पाण्डित्य से प्रसन्न हो दान दिया हो। दान के समय वसंताचार्य २० वर्ष के लगभग रहे ही होंगे। उस समय पिता की आयु लगभग ४५ वर्ष की रही होगी। इस दृष्टि से यह निश्चित होता है कि धनिक ने लगभग ६५ वर्ष की अवस्था में अपनी टीका का प्रणयन किया होगा। इस प्रकार धनिक पण्डित और धनिक को एक मानने में कोई बाधा नहीं पड़ेगी।

दशरूपक के प्रतिपाद्य विषय—अब हम अत्यन्त संक्षेप में दशरूपक के प्रमुख प्रतिपाद्य विषयों का विवेचन कर देना चाहते हैं। उसके प्रमुख विवेच्य विषय निम्नलिखित हैं :—

(१) नाट्य, नृत्य और नृत्त।
(२) वस्तु का विश्लेषण और विन्यास क्रम।
(३) दशरूपकों का स्वरूप निरूपण।
(४) नायक और नायिका भेद तथा उनकी विशेषताएँ।
(५) नाट्य वृत्तियाँ।
(६) नाटक के पूर्व में प्रयुक्त किये जानेवाली विशेषताएँ।
(७) रस सिद्धान्त।

इनमें से प्रथम, द्वितीय और सप्तम विशेष विचारणीय हैं। क्योंकि यह विषय मौलिक दृष्टिकोण के साथ प्रतिपादित किये गये हैं। हम यहाँ इन्हीं पर विचार करेंगे। शेष का अध्ययन पुस्तक से किया जा सकता है।

नाट्य, नृत्य और नृत्त

नाट्यशास्त्र के ग्रंथों में प्रायः इन तीनों की चर्चा मिलती है। किन्तु इस चर्चा का श्रेय दशरूपककार को ही है क्योंकि दशरूपक के पूर्व के ग्रंथों में इन पर कहीं भी शास्त्रीय ढङ्ग से विवेचन नहीं किया गया है। नाट्यशास्त्र में यह विषय स्पर्श करके छोड़ दिया गया है। उसके शास्त्रीय विवेचन की उपेक्षा की गई है। दशरूपक के अनुकरण पर धनञ्जय और धनिक के परवर्ती आचार्यों ने इस विषय का अच्छा विवेचन किया है। इन आचार्यों में भाव-प्रकाश के रचयिता शारदातनय, प्रतापरुद्रदेव यशोभूषण के प्रणेता विद्या-नाथ, संगीत रत्नाकर के प्रणेता 'निःशङ्क शार्ङ्गदेव' आदि प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त साहित्यदर्पण-नाट्यदर्पण, सिद्धान्त-कौमुदी आदि ग्रन्थों में भी इस विषय पर प्रकाश डाला गया है।

'नाट्य' की व्युत्पत्ति —नाट्य शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में थोड़ा मतभेद है। नाट्यदर्पण में (पृ० २८) में रामचन्द्र ने इसकी व्युत्पत्ति नाट् धातु से मानी है। नाट्य सर्वस्व दीपिका में मूल धातु नट मानी गई है। उनके मतानुसार नाट्य शब्द नट् धातु से ही सम्पन्न हुआ है। वेबर साहब ने नाट्यदीपिका सर्वस्व के मत को स्वीकार करते हुए उसमें थोड़ा-सा परिष्कार किया है। उनका कहना है कि नट् धातु नृत् धातु का प्राकृत रूप है। कुछ लोगों की धारणा है कि मूल धातु तो नृत् ही है किन्तु उसका आदेश नट् में हो जाता है मन्कद साहब ने अपनी Types of Sansnut Drama नामक पुस्तक में वेबर के मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि प्राकृत के साहित्य में कहीं भी नृत् धातु का नट् रूप नहीं मिलता। उनके मतानुसार मूल धातु नृत ही है। यह धातु ऋग्वेद तक में प्रयुक्त हुई है। मेरी अपनी धारणा है कि नाट्य शब्द नट् धातु से बना है। यह भ्वादि की धातु है इसका अर्थ अभिनय करना होता है।

नाट्य के स्वरूप को धनञ्जय और धनिक दोनों ने ही विस्तार से समझाने की चेष्टा की है। उन दोनों के मतानुसार नाट्य में निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं :—

(१) नाट्य में नायकों की धीरोदात्तादि अवस्थाओं का और उनकी वेश रचना आदि का अनुकरण प्रधान रहता है।*

(२) उसमें अंगों के संचालन की विविध कलाएँ भी दिखाई पड़ती हैं।

(३) नाट्य को रूपक भी कहते हैं क्योंकि यह देखा जाता है। इसकी यह चाक्षुष प्रत्यक्षता इसकी तीसरी प्रधान विशेषता है।§

(४) नाट्य रसाश्रित होता है।$

(५) सात्विक अभिनय की बहुलता होती है।

(६) नाट्य में वाक्यार्थ का अभिनय होता है।

नृत्य—यह शब्द 'नृती गात्रविक्षेपे' इस धातु से क्यप् प्रत्यय लगकर सम्पन्न हुआ है। नृत्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए दशरूपककार ने लिखा है।

'अन्यद्भावाश्रयं नृत्यम्'

इस कारिका की टीका में धनिक में नृत्य की निम्नलिखित विशेषताएँ ध्वनित की हैं :—

(१) 'नृत्य में' भावों का अनुकरण प्रधान रहता है।

(२) इसमें आङ्गिक अभिनय की ही प्रधानता रहती है।

(३) नृत्य में पदार्थ का अभिनय रहता है।

नाट्य और नृत्य की तुलना

नाट्य और नृत्य दोनों आपस में इतने मिलते-जुलते हैं कि लोगों को भ्रम हो जाता है कि दोनों एक ही वस्तु हैं। किन्तु दोनों कुछ बातों में समान होते हुए भी एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होते हैं।

समानताएँ

(१) नाट्य और नृत्य दोनों में ही अंगों का कलात्मक ढंग से संचालन करना पड़ता है।

(२) नाट्य और नृत्य दोनों ही अनुकरणात्मक होते हैं। एक में अवस्थाओं का अनुकरण किया जाता है, दूसरे में भावों का।

अन्तर

(१) नाट्य रसाश्रित होता है। रस के अंग होते हैं—विभाव, अनुभाव, संचारी आदि। विभाव के भी दो पक्ष प्रधान होते हैं—आलम्बन और उद्दीपन।

---

* अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्।

§ रूपकं तत्समारोपात्।

$ दशधैव रसाश्रयम्।

नाट्य में इन सभी का अनुकरण किया जाता है। इसके अतिरिक्त नाट्य में वाक्य का अभिनय प्रधान रहता है। रस-निष्पत्ति के लिए विभाव इत्यादि का संयोग अनिवार्य होता है। विभाव इत्यादि का परिणाम सर्वदा पदार्थ के अधीन हुआ करता है। उन पदार्थों से जो वाक्यार्थ बनता है वही रस-निष्पत्ति का हेतु हुआ करता है। इस प्रकार नाट्य में वाक्यार्थ का अभिनय करते हुए रस का आश्रय लिया जाता है। इसके विपरीत नृत्य भावाश्रित होता है। उसमें केवल भावों का अनुकरणात्मक प्रदर्शन किया जाता है। इसीलिए नाट्य में कथोपकथन भी पाये जाते हैं। किन्तु नृत्य में इनकी अपेक्षा नहीं होती है।

(२) नृत्य में केवल आङ्गिक अभिनय की प्रधानता रहती है किन्तु नाट्य में आङ्गिक अभिनय के साथ-साथ सात्विक अभिनय को भी विशेष महत्त्व दिया जाता है।

(३) नृत्य में काव्य का सम्बन्ध नहीं होता और उसमें कोई सुनने की बात भी नहीं होती। इसीलिए प्रायः लोग कहा करते हैं कि नृत्य केवल देखने की वस्तु है; किन्तु नाट्य में देखने के साथ-साथ कुछ सुनने की सामग्री भी होती है। यह दोनों में मौलिक भेद है।

(४) नृत्य में पदार्थ का अभिनय प्रस्तुत किया जाता है। इसके विपरीत नाट्य में वाक्य के अभिनय को प्रधानता दी जाती है।

नृत्य और नृत्त का तुलनात्मक विवेचन

अब थोड़ा-सा विचार नृत्य और नृत्त के स्वरूपों पर तुलनात्मक ढङ्ग से कर लेना चाहिए। यों तो नृत्य और नृत्त दोनों ही शब्द नृत् नामक एक ही धातु से बने हैं किन्तु दोनों के स्वरूपों में परस्पर बड़ा अन्तर है। नृत्य का स्वरूप हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं यहाँ पर नृत्त के स्वरूप पर थोड़ा सा प्रकाश डाल देना चाहते हैं। नृत्य को स्पष्ट करते हुए दशरूपककार ने लिखा है।

नृत्तं ताल लयाश्रयम्।

अर्थात् नृत्त उसे कहते हैं जो ताल और लय के आश्रित हो। नृत्त में ताल और लय के अनुरूप गात्र विक्षेपण किया जाता है।

नृत्य और नृत्त की तुलना

समानताएँ—(१) अङ्गों का विक्षेप दोनों में ही अपेक्षित समझा जाता है।

(२) दोनों ही नाटक के अभिनय की सफलता में सहायक होते हैं। नृत्य

दे दी गई है। यह सूचना लता और नायिका के समान विशेषणों के आधार पर प्राप्त होती है। अतएव यह समासोक्ति मूलक पताका स्थानक का उदाहरण है।

इस प्रकार इतिवृत्त के तीन भेद हो गये—एक प्रकार का आधिकारिक और दो प्रकार के प्रासङ्गिक।

प्रख्यातोत्पाद्य मिश्रत्व भेदान्त्रेधापि तन्त्रिधा।
प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम् ॥१५॥
मिश्रं च सङ्करा त्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादि भेदतः।

[इन तीनों में प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं (१) प्रख्यात, (२) उत्पाद्य और (३) मिश्र। (१) इतिहास इत्यादि से ली हुई कथा वस्तु को प्रख्यात इतिवृत्त कहते हैं। (२) कवि कल्पित कथा वस्तु को उत्पाद्य इतिवृत्त कहते हैं और (३) प्रख्यात तथा उत्पाद्य इन दोनों प्रकार के इतिवृत्तों के सङ्कट से मिश्र-इतिवृत्त कहा जाता है। इन सब में प्रत्येक के दिव्य और मर्त्य ये दो भेद होते हैं।]

इस प्रकार इतिवृत्त के कुल मिलाकर १८ भेद होते हैं। प्रख्यात इतिवृत्त के उदाहरण जैसे अभिज्ञान शाकुन्तल, वेणी संहार, उत्तर रामचरित इत्यादि। उत्पाद्य इतिवृत्ति के उदाहरण जैसे—मालतीमाधव, कादम्बरी इत्यादि। मिश्र इतिवृत्त का उदाहरणजैसे हर्ष चरित इत्यादि। (हर्ष चरित में प्रारम्भ सरस्वती को दुर्वासा का शाप और उनका मर्त्यलोक में अवतार इत्यादि की कथा उत्पाद्य इतिवृत्त के अन्दर आती है और हर्ष का चरित्र प्रख्तात इतिवृत्त है। हर्ष के चरित्र में भी वारुण आतपन्त्र की कथा इत्यादि उत्पाद्य ही है।) दिव्य कथा वस्तु का उदाहरण जैसे कुमारसम्भव; मर्त्य का उदाहरण जैसे रघुवंश। इसी प्रकार अन्य भेदों के भी उदाहरणों को समझना चाहिये।

इतिवृत्त के फल

कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुवन्धि च ॥१६॥

[उस इतिवृत्त का फल त्रिवर्ग सिद्ध है। वह तीन प्रकार का होता है या तो एकानुवन्धि या अनेकानुवन्धि।]

नाट्य का फल होता है धर्म अर्थ और काम इन तीनों वर्गों को सिद्ध करना। इन तीनों में या तो कोई एक ही शुद्ध प्रयोजन होता है या कोई मिले हुये दो फल होते हैं या तीनों ही मिले फल होते हैं। इस प्रकार फल के भी तीन भेद हो जाते हैं—एकानुवन्धि, + द्वयनुवन्धि और त्र्यनुवन्धि। नाट्य-शास्त्र की भाषा में इतिवृत्त के फल को कार्य कहते हैं।

फल साधन की प्रक्रिया

स्वल्पोद्दष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा ।

[कार्य को सिद्ध करनेवाला जो हेतु प्रारम्भ में बहुत ही स्वल्पमात्रा में निर्दिष्ट किया गया हो और जिसका नाट्य के अग्रीय भाग में अनेक प्रकार से विस्तार होनेवाला हो उसे बीज कहते हैं ।]

जिस प्रकार बीज प्रारम्भ में बहुत छोटा होता है। और बाद में विस्तृत होकर वृक्ष का रूप धारण कर लेता है उसी प्रकार नाट्य बीज भी प्रारम्भ में बहुत संक्षिप्त होता है किन्तु बाद में अनेक प्रकार से विस्तृत होकर नाटक इत्यादि का रूप धारण कर लेता है। जैसे रत्नावली में वत्सराज का रत्नावली की प्राप्ति में हेतु है दैव की अनुकूलता के साथ यौगन्धरायण का कार्य व्यापार जो कि विष्कम्भक में ही बीज रूप में रख दिया गया है--'अभिमुख विधाता दूसरे द्वीप से भी महासागर के मध्य से भी और दिशाओं के छोर से भी अभीष्ट वस्तु को ले आकर शीघ्र ही संघटित कर देता है।' यहाँ से लेकर--"यौगन्धरायण--'यद्यपि यह कार्य स्वामी की वृद्धि के लिये ही प्रारम्भ किया गया है और दैव ने भी इसमें अपने हाथ का सहारा दे दिया है, यह सच है कि इसके सिद्ध होने में कोई सन्देह नहीं है; किन्तु फिर भी बिना स्वामी की अनुमति लिए अपनी इच्छा से ही सारा कार्य कर उठाने के कारण मैं स्वामी से डर ही रहा हूँ।' यहाँ तक नाट्य बीज का निर्देश कर दिया गया है।

अथवा दूसरा उदाहरण जैसे वेणी संहार में द्रौपदी के केश संयमन के लिए उत्पन्न होनेवाले भीम के क्रोध से बढ़ा हुआ युधिष्ठिर का उत्साह ही नाट्य का बीज है जिसका उल्लेख नाट्य के प्रारम्भ में ही कर दिया गया है। इस बीज के कई एक भेद होते हैं जैसे महाकार्य का बीज अवान्तर कार्य का बीज इत्यादि। अवान्तर कार्य के बीज को विंदु भी कहते हैं।

विंदु की परिभाषा यह है :--

अवान्तरार्थ विच्छेदे विन्दुरच्छेद कारणम् ॥१७॥

[जहाँ पर अवान्तर अर्थ का विच्छेद हो गया हो वहाँ पर जो हेतु अविच्छेद में कारण होता है अर्थात् कथावस्तु को आगे बढ़ाता है उस हेतु को विंदु कहते हैं।]

जैसे रत्नावली में अनङ्ग--पूजा एक अवान्तर प्रयोजन है। उसके समाप्त हो जाने पर कथा के अर्थ विच्छेद हो जानेवाला था। उसी समय वैज्ञानिक लोगों ने चंद्र वर्णन करते हुए कहा--'यह राजसमूह चंद्रकिरणों के समान उदयन के चरणों की प्रतीक्षा कर रहा है।' सागरिक--(सुनकर) 'क्या ये वे ही

महाराज उदयन हैं जिनके लिए पिता जी ने मुझको प्रदान किया है।' इत्यादि इस प्रकार चंद्र वर्णन में महाराज उदयन का नाम ले लेने से सागरिका के चित्त में उदयन के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाता है और सागरिका और उदयन के प्रेम का बीजारोपण हो जाता है। इससे कथा आगे को बढ़ जाती है। यही विंदु कहलाता है। जिस प्रकार तैल विंदु जल में फैल जाता है उसी प्रकार नाट्य-विंदु भी अग्रिम कथा-भाग में फैलता चला जाता है। इसीलिए इसे विन्दु कहते हैं।

अर्थ प्रकृतियों का उपसंहार

ऊपर प्रसङ्गवश पताका इत्यादि का उल्लेख बिना क्रम के ही किया गया है। यहाँ पर क्रमपूर्वक उनका उपसंहार किया जा रहा है :—

बीज विन्दु पताकाख्य प्रकरी कार्यलक्षणाः।
अर्थ प्रकृतयः पञ्चता एताः परिकीर्तिताः ॥१८॥

[ये बीज विंदु पताका प्रकरी और कार्य नामवाली ये पाँच अर्थ प्रकृति बतलाई गई हैं। उस सभी के ऊपर लक्षण भी दे दिया गया है।]

अर्थ प्रकृति शब्द का अर्थ है प्रयोजन की सिद्धि में हेतु अर्थ-प्रयोजन; प्रकृति-सिद्धि में हेतु। आधिकारिक कथा-वस्तु के निर्वाह में जिन तत्वों से सहायता मिलती है उन्हें अर्थ प्रकृति कहते हैं। बीज के द्वारा आधिकारिक कथा-वस्तु के उद्गम में सहायता मिलती है, विंदु से विच्छिन्न कथा-वस्तु को आगे बढ़ाया है; पताका और प्रकरी इन दोनों अर्थ प्रकृतियों के आधार पर प्रासङ्गिक कथा-वस्तु के द्वारा मुख्य कथा-वस्तु का उपकार किया जाता है और कार्य (फल) के आधार पर कथा-वस्तु का उपसंहार किया जाता है। इस प्रकार ये पाँच अर्थ प्रकृति आधिकारिक इतिवृत्त के विकास में सहायक होती हैं।

कार्यावस्था

जब साधक धर्म, अर्थ, काम इन तीनों की अथवा इनमें किसी एक अथवा किन्हीं दो की प्राप्ति की चेष्टा करता है उस समय उसके समस्त क्रिया कलापों में एक निश्चित क्रम रहा करता है। पहले साधक किसी फल की प्राप्ति के लिए दृढ़ निश्चय करता है; जब उसे फल प्राप्ति सुगमतापूर्वक होती हुई दृष्टिगत नहीं होती तब वह बड़ी ही तीव्रता के साथ कार्य में लग जाता है; मार्ग में विघ्न भी उपस्थित होते हैं, उनके प्रतिकार के लिए प्रयत्न किया जाता है उस समय साध्य सिद्धि दोनों ओर की खींचातानी में पड़कर संदिग्ध हो जाती है; धीरे-धीरे विघ्नों का नाश होने लगता है और फल प्राप्ति निश्चित हो जाती है और अंत में समस्त फल

प्राप्त हो जाता है। यही कार्य की अवस्था का क्रम हुआ करता है। इस प्रकार कार्यावस्था पाँच भागों में विभाजित की जाती है। उनके नाम ये हैं :—

अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः।
आरम्भ यत्नप्राप्त्याशा नियताप्ति फलागमाः ॥१९॥

[फल चाहनेवालों के द्वारा प्रारम्भ किये हुए कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती हैं (१) आरम्भ, (२) यत्न, (३) प्रत्याशा, (४) नियताप्ति और (५) फलागम।]

(१) इनके क्रमशः लक्षण ये हैं :—

औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे।

[बहुत बड़े फल की प्राप्ति के लिए जहाँ केवल उत्कण्ठा ही होती है उसे आरम्भ कहते हैं।]

आशय यह है जहाँ पर मैं यह कार्य करूँगा। इस प्रकार अध्यवसाय ही विद्यमान होता है वह प्रयत्न के रूप में परिणत नहीं होता तब कार्य की उस अवस्था को आरम्भ कहते हैं। जैसे रत्नावली में वत्सराज उदयन की सिद्धि सचिवायत्त है। वहाँ पर उनके कार्य का प्रारम्भ उनके सचिव यौगन्धरायण के मुख से दिखला दिया गया है—'यह कार्य स्वामी की वृद्धि के लिए ही प्रारम्भ किया गया है और दैव भी इसमें सहारा दे रहा है।' इत्यादि। यहाँ पर फल प्राप्ति के लिए उत्कण्ठा और अध्यवसाय की ही सत्ता है अभी तक प्रयत्न का प्रारम्भ नहीं हुआ है। अतएव कार्य का इस अवस्था को आरम्भ कहते हैं।

(२) प्रयत्न का लक्षण यह है :—

प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः ॥२०॥

[फल के प्राप्त न होने पर अत्यंत शीघ्रता के साथ जो कार्य किया जाता है उसे प्रयत्न कहते हैं।]

जब फल सरलतापूर्वक प्राप्त नहीं हो सकता है तब अत्यंत शीघ्रता के साथ उसमें उपाय की योजना की जाती है। उस विशेष प्रकार की उपाय संयोजन रूप चेष्टा को प्रयत्न कहते हैं। जैसे रत्नावली में अनङ्ग-पूजन के अवसर पर सागरिका वत्सराज के दर्शन कर चुकी है और उसके अंतःकरण में उत्कट अनुराग जागृत हो चुका है। किंतु उसे कोई सरलतापूर्वक उदयन का समागम सुलभ प्रतीत नहीं होता। अतएव वह उदयन का चित्र बनाती है और उसके द्वारा अपनी दर्शनाभिलाषा को शांत करना चाहती है—"तथापि दर्शन का कोई दूसरा उपाय नहीं है अतएव जैसे-तैसे चित्र बनाकर अपना अभीष्ट प्राप्त करूँगी।" बाद में वही चित्र दोनों के समागम में निमित्त होता है। इस प्रकार प्रथम

अवस्था की उत्कण्ठा व्यापार से संयुक्त होकर द्वितीय अवस्था में प्रयत्न का रूप धारण कर लेती है।

(३) प्राप्त्याशा का लक्षण :—

'उपायापाय शङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्ति सम्भवः।'

[जहाँ पर प्राप्ति की सम्भावना उपाय और विघ्न शङ्का इन दोनों से आक्रांत हो उसे प्राप्त्याशा कहते हैं।]

जहाँ पर उपाय भी विद्यमान हो और विघ्न की शङ्का भी विद्यमान हो तथा इन्हीं दोनों की खींचातानी में फल प्राप्ति के निश्चय का निर्धारण न किया जा सके उस अवस्था को प्राप्त्याशा कहते हैं। जैसे रत्नावली के तीसरे अङ्क में वेष परि-वर्तन और अभिसरण इत्यादि समागम के उपाय विद्यमान हैं और साथ में ही वासवदत्ता रूपी विघ्न की आशङ्का भी विद्यमान है। "राजा सागरिका का आकस्मिक समागम तो अनभ्र वृष्टि के समान है। विदूषक—यह है तो ऐसा ही यदि कहीं अकाल वातावली के समान देवी वासवदत्ता अन्यथा न कर दे।" इत्यादि में उपाय और अपाय-शङ्का इन दोनों की सत्ता दिखलाई गई है। इससे सागरिका के समागम की फल प्राप्ति सन्दिग्ध हो जाती है। कार्य की इस अवस्था को प्राप्त्याशा कहते हैं।

(४) नियताप्ति का लक्षण :—

अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता॥२१॥

[अपाय के न होने के कारण जहाँ पर फल प्राप्ति पूर्णरूप से निश्चित हो उसे नियताप्ति कहते हैं।]

जैसे—'विदूषक-सागरिका का जीवन दुष्कर हो जावेगा।' इस उपक्रम के साथ 'उपाय क्यों नहीं सोचते।' यह कहकर बाद में 'राजा ने कहा—'हे मित्र देवी को प्रसन्न करने से भिन्न और कोई उपाय ही मुझे नहीं दिखाई देता।' यह कथन अग्रिम कथानक का बिन्दु है। सागरिका और राजा के समागम में सबसे बड़ा विघ्न वासवदत्ता है। वासवदत्ता को मनाकर विघ्न-निवारण की सम्भावना उत्पन्न हो गई है जिससे फल प्राप्ति भी निश्चित हो गई है। अतएव यहाँ पर नियताप्ति नामक कार्य की अवस्था है।

(५) फलागम का लक्षण :—

समग्रफलसम्पत्तिः फलयोगो यथोदितः।

[जैसा फल अभीष्ट हो उसका पूर्ण रूप से प्राप्त हो जाना फलयोग या फलागम कहलाता है।]

जैसे रत्नावली में रत्नावली की प्राप्ति और चक्रवर्तित्व की प्राप्ति फलागम नामक अवस्था के अन्तर्गत आती हैं।

सन्धि-परिचय

ऊपर पाँच अर्थ प्रकृतियों और पाँच कार्य की अवस्थाओं का वर्णन किया जा चुका है। इनके क्रमिक संयोग से पाँच सन्धियों का जन्म होता है। सन्धि शब्द का अर्थ है सन्धान करना या ठीक रूप में लाना। किसी कथानक का ठीक रूप में निर्वाह करने के लिए उसको भागों में विभक्त कर लेना चाहिए। इससे कथानक का सन्धान ठीक रूप में हो जाता है। सन्धि का लक्षण यह है :—

अर्थ प्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः ॥२२॥
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च सन्धयः ॥

[पाँच प्रकार की अर्थ प्रकृतियों का क्रमशः पाँच प्रकार की अवस्थाओं से समन्वय होने पर मुख इत्यादि पाँच सन्धियाँ उत्पन्न होती हैं।]

सन्धि का सामान्य लक्षण यह है :—

अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति ॥२३॥

[एक ही में अन्वय होने पर एक अवान्तर अर्थ के साथ सम्बन्ध होना सन्धि कहलाता है।]

एक नाटक में कई एक कथांश होते हैं। उन कथांशों के प्रयोजन भी पृथक्-पृथक् हुआ करते हैं। एक ही प्रयोजन से जहाँ कई एक कथांश परस्पर अन्वित हों वहाँ पर उन कथांशों का उस अवान्तर प्रयोजन सम्बन्ध होना ही संधि कहलाता है।

संधियों के नाम ये हैं :—

मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहृतिः।

[मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और उपसंहृति ये पाँच संधि होती हैं।]

बीज, बिंदु, पताका, प्रकरी और कार्य इन पाँच अर्थ प्रकृतियों का जब क्रमशः आरम्भ, यत्न, प्रत्याशा, नियताप्ति और फलागम इन पाँच कार्य की अवस्थाओं से संयोग होता है तब क्रमशः मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और निर्वहण नामक पाँच संधियाँ बनती हैं। नाट्यशास्त्र में लिखा है कि ये पाँच संधियाँ मुख्य होती हैं। इनके अतिरिक्त २१ प्रकार की अन्य संधियों का भी वहाँ पर उल्लेख किया गया है। किंतु वे संधियाँ इन्हीं पाँच संधियों के आधीन रहती हैं और इन्हीं की सहायक होकर आती हैं। इन संधियों में प्रत्येक के अनेक अंग भी होते हैं। शास्त्रकारों का मत है कि इन संधि और संध्यङ्गों से कथानक के निर्वाह करने में सहायता लेनी चाहिए। यदि इनसे कथानक का निर्वाह ठीक रूप में हो जाता हो तो इनका प्रयोग अविकल रूप में करना

चाहिए। किंतु यदि इनसे कथानक में व्याघात उपस्थित हो तो इन संधियों के प्रयोग में यथा स्थान परिवर्तन या परित्याग कर लेना चाहिए। इनका निर्वाह शास्त्र मर्यादा-पालन की दृष्टि से कभी नहीं करना चाहिए। नाट्यशास्त्र में अव-मर्श के लिए विमर्श और उपसंहृति के लिए निर्वहरण शब्द का प्रयोग किया गया है। शास्त्र का नियम है कि जहाँ पर पाँचों संधियों में किसी एक संधि का छोड़ना अभीष्ट हो वहाँ गर्भ संधि को छोड़ देना चाहिए। अर्थात् वहाँ पर आरम्भ और प्रयत्न दिखलाकर सफलता की आशा दिखलानी चाहिए और उसके बाद फल प्राप्ति दिखला देनी चाहिए। यदि दो संधियों का छोड़ना अभीष्ट हो तो गर्भ और विमर्श को छोड़ देना चाहिए और आरम्भ तथा प्रयत्न दिखला-कर तत्काल फल प्राप्ति दिखला देनी चाहिए। यदि तीन सन्धियों का परित्याग करना हो तो प्रति मुख गर्भ और विमर्श को छोड़ना चाहिए अर्थात् आरम्भ के बाद एकदम फल प्राप्ति दिखला देनी चाहिये। कवि को चाहिये कि सर्वदा रस-परतंत्र ही रहे। रस का विचार छोड़कर कभी भी सन्धि और सन्धि के अङ्गों का सङ्घटन न करे।

मुखसन्धि और उसके भेद

मुखसन्धि का लक्षण यह है :—

मुखंबीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससंभवा ॥२४॥
अङ्गानि द्वाद शैतस्यबीजारम्भ समन्वयात्।

[जहाँ पर नाना अर्थ और रस को उत्पन्न करनेवाली बीज नामक प्रथम अर्थ प्रकृति की उत्पत्ति हो उसे मुख सन्धि कहते हैं। बीज और आरम्भ के समन्वय से उस मुख सन्धि के बारह भेद होते हैं।]

बीजोत्पत्ति नाना प्रकार के अर्थों और नाना प्रकार के रसों के उत्पन्न करने में पृथक्-पृथक् कारण हुआ करती है। अर्थ से नाना प्रकार के प्रयोजनों का उपादान हो जाता है। आशय यह है कि बीजोत्पत्ति धर्म, अर्थ और काम इन तीनों प्रयोजनों में किसी एक दो अथवा तीनों की उत्पन्न करनेवाली होनी चाहिये या केवल रसों की उत्पन्न करनेवाली होनी चाहिये अथवा अर्थ और रस इन दोनों की उत्पन्न करनेवाली होनी चाहिये। यह अनिवार्य नहीं है कि प्रयोजन और रस दोनों की उत्पत्ति प्रत्येक स्थान पर अवश्य हो। प्रहसन इत्यादि में धर्म, अर्थ और काम इन तीनों प्रयोजनों में एक भी नहीं होता; वहाँ पर बीजोत्पत्ति केवल हास्य रस में ही हेतु हुआ करती है। वहाँ पर भी मुख सन्धि कही ही जाती है; यदि प्रयोजन और रस दोनों की हेतुता अनिवार्य होती तो वहाँ पर मुख-सन्धि कही ही न जाती अतएव किसी एक की ही हेतुता अनि-वार्य है दोनों की नहीं।

मुख सन्धि के बारह अङ्गों के नाम ये हैं :—

उपक्षेपः, परिकरः, परिन्यासोविलोभनम् ॥२५॥
उक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना ।
उद्भेद भेद करणान्यन्वर्थान्यथलक्षणम् ॥२६॥

[उपक्षेप इत्यादि मुखसन्धि के १२ अङ्ग होते हैं। इनके नाम से ही इनका लक्षण प्रगट हो जाता है। फिर भी सुगमता की दृष्टि से इनके लक्षण बनाये जा रहे हैं।]

(१) उपक्षेप—

व जन्यास उपक्षेप

[नाट्य बीज को स्पष्ट शब्दों में रख देने को उपक्षेप कहते हैं।] उपक्षेप शब्द का अर्थ है रख देना।

जैसे रत्नावली में दैव की अनुकूलता और यौगन्धरायण का व्यापार ही नाट्य-बीज है। इसको नाट्य के प्रारम्भ में ही यौगन्धरायण के मुख से कहला दिया गया है :—

द्वीपानन्यस्मादपि, मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।
आनीय झटिति घटयाति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥

'अनुकूलता दैव को प्राप्त होनेवाला दैव दूसरे द्वीपों से भी, समुद्र के मध्य से भी और दिशाओं के छोर से भी अभीष्ट वस्तु को लाकर शीघ्र ही सङ्घटित कर देता है।

यहाँ पर यौगन्धरायण ने वत्सराज के द्वारा रत्नावली की प्राप्ति में हेतु भूत दैव की अनुकूलता और अपने व्यापार को वीज के रूप में उपक्षिप्त कर दिया है। इसीलिये यहाँ पर मुख सन्धि का उपक्षेप नामक अङ्ग है।

(२) परिकर :—

तद्बाहुल्यं परिक्रिया

[वीज की बहुलता को परिकर कहते हैं।]

जैसे रत्नावली में उपर्युक्त वीजोपन्यास के बाद में लिखा है "नहीं—तो यह कैसे हो सकता था कि सिद्धों की भविष्यवाणी पर विश्वास करके मैंने जिस सिंहलराज की पुत्री की प्रार्थना अपने स्वामी के लिये की थी, जहाज के टूट जाने पर, समुद्र में उसके डूब कर उछलने पर एक तख्ता प्राप्त हो जाता और यह भी कैसे हो सकता था कि कौशाम्बी का व्यापारी सिंहल से लौटते हुये उसकी उस दशा में रक्षा करता और रत्नमाला के द्वारा पहिचान

कर यहाँ ले आता । (प्रसन्नता-पूर्वक) अभ्युदय सर्वथा स्वामी का स्पर्शकर रहे हैं (विचार कर) । इत्यादि ।

यहाँ पर दैव की अनुकूलता और यौगन्धरायण के व्यापार रूप वीज को ही अधिक बढ़ाकर कहा गया है ।

(३) परिन्यास :—

तन्निष्पत्तिः परिन्यासः—

[जिस वीजोत्पत्ति को बढ़ाकर कहा गया था उसकी ही सिद्धि परिन्यास कहलाती है ।]

जैसे रत्नावली में ही लिखा है :—

प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनोवृद्धि हेतौ । दैवे चेथंदत्त हस्तावलम्वे
सिद्धेर्भ्रान्तिर्नास्ति सत्यं तथापिस्वैच्छाचारी भीतएवास्मिभर्तुः ॥

'यह कार्य मैंने ऐसा प्रारम्भ किया है जो स्वामी की वृद्धि में हेतु है और दैव भी इसमें इस प्रकार सहारा दे रहा है । इस प्रकार यह सच है कि इस कार्य की सिद्धि में कुछ भी संदेह नहीं है । किंतु फिर भी स्वामी की अनुमति के बिना मैंने जो स्वेच्छापूर्वक आचरण किया है उससे मैं स्वामी से डर ही रहा हूँ ।'

यहाँ पर वीज का उपसंहार किया गया है और यौगंधरायण के व्यापार तथा दैव की सहायता की आशा प्रगट की गई है । अतएव यहाँ पर परिन्यास नाम का मुखाङ्ग है ।

(४) विलोभन :—

गुणाख्यानं विलोभनम् ॥२७॥

[गुणों के वर्णन करने को विलोभन कहते हैं ।]

जैसे रत्नावली में वैतालिक ने चंद्र और उदयन के गुणों का एक साथ इस प्रकार वर्णन किया है :—

आस्तापास्त समस्तभासि नभसःपारं प्रयातेरवा—
वास्थानीं समये समं नृपजनः सायन्तने सम्पतन् ॥
सम्प्रत्येष सरोरुहद्युतिमुषः पादांस्तवासेवितुम् ।
प्रीत्युत्कर्ष कृतो दृशामुदी यनस्येरिवोद्वीक्षते ॥

'इस शाम के समय में सूर्य आकाश के पार पहुँच गया है और उसकी सारी दीप्ति अस्ताचल ने छीन ली है । इस समय सारा राज-समूह एक साथ सभा भवन की ओर शीघ्रता-पूर्वक बढ़ता चला आ रहा है । वह राज-समूह आप उदयन के उन चरणों की सेवा करने की प्रतीक्षा कर रहा है जो अपने

सौन्दर्य से कमलों की शोभा को नष्ट करने वाले है और जो उन राजाओं के अन्तःकरण में प्रेम के उत्कर्ष को उत्पन्न करने वाले हैं मानों वे कमलों की कान्ति का अपहरण करने वाले और हृदय में प्रेम के उत्कर्ष को उत्पन्न करने वाले चन्द्र के चरणों (किरणों) के सेवन करने की प्रतीक्षा कर रहे हों।'

यहाँ पर वैतालिक ने चन्द्र के समान वत्सराज के गुणों का वर्णन किया है जिसको सुनकर सागरिका के चित्त में अनुराग का वीजारोपण हो गया है। यह अनुराग समागम का हेतु है। इस प्रकार अनुराग रूप बीज के अनुकूल ही सागरिका को वत्सराज के गुणों के प्रति लोभ दिलाया गया है। अतएव यहाँ पर विलोभन नाम का मुखाङ्ग है।

दूसरा उदाहरण जैसे वेणी संहार में भीमसेन कह रहे हैं :—

मन्थायस्तार्णवाम्भः प्लुत कुहर वलन्मन्दरध्वन धीरः,
कोणाघातेषु गर्जत्पलय घनघटान्योन्य सङ्घट्टचण्डः !
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुल निधनोत्पात निर्घातवतः
केनास्मत्सिंह नाद प्रति रसित सखो दुन्दुभिस्ताड़ि तोऽयमू ॥

'यह किसने मेरे सिंहनाद के गर्जन के समान दुन्दुभी को पीट दिया है ? यह दुन्दुभी का शब्द मन्थन के अवसर पर विस्तीर्ण महासागर के जल में विशाल गह्वरों में घूमनेवाले मन्दर पर्वत के भयानक शब्द के समान गम्भीर है; यह प्रलय काल में गर्जन करने वाली घनघोर घटाओं के एक दूसरे से टकराने के शब्द के समान प्रचण्ड है; यह द्रौपदी के क्रोध का अग्रदूत है और कुरुवंश विनाश के उत्पात में निर्घात वायु के समान है।'

यहाँ से लेकर 'यशो दुन्दुभि' तक द्रौपदी के विलोभन करने के कारण विलोभन नाम की मुख सन्धि है।

(४) युक्ति : –

सम्प्रधारणमर्थानां युक्तिः—

[अर्थों के सम्प्रधारण को युक्ति कहते हैं। एक ही स्थान पर विभिन्न प्रयोजनों को संगृहीत करके कल को सम्भव कर देना युक्ति कहलाता है।]

जैसे रत्नावली में यौगन्धरायण कह रहे हैं —'मैंने भी बहुत अधिक आदर के साथ देवी के हाथ में धरोहर के रूप में रखकर उचित ही किया। सुना जाता है कि वाभ्रव्य नामका कञ्चुकी वसुभूति नामक सिंहलेश्वर के मन्त्री के साथ से किसी न किसी प्रकार समुद्र को पार करके कोशल नरेश उच्छेदन के लिये हुये रुमण्वान् मिलगया है।'

यहाँ पर वास्तविक प्रयोजन है उदयन और रत्नावली में प्रेम उत्पन्न करना। यह तभी सम्भव है जब कि रत्नावली और राजा का परस्पर साक्षात्कार हो जावे

और राजा को यह ज्ञात हो जावे कि रत्नावली सिंहलेश्वर की पुत्री है तथा सिंहलेश्वर ने विवाह के लिये उदयन के पास उसको भेजा है। अन्तःपुर में रहने पर राजा और रत्नावली का साक्षात्कार इत्यादि सुगमतापूर्वक हो सकता है और उदयन के कञ्चुकी वाभ्रव्य तथा सिंहलेश्वर के अमात्य वसुभूति के मिल जाने से यह भी सम्भव हो गया है कि सिंहलेश्वर और उदयन में सम्पर्क स्थापित हो जावे। इस प्रकार प्रयोजनों के सम्प्रधारण के कारण यहाँ पर युक्ति नाम का मुखाङ्ग है।

(६) प्राप्ति :—

प्राप्तिः सुखागमः।

[सुख के प्राप्त हो जाने को प्राप्तिकहते हैं।]

जैसे वेणी-संहार में—'चेटी—हे स्वामिनि! कुमार कुपित से प्रतीत हो रहे हैं।' इस उपक्रम के साथ लिखा है—'भीम : —

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपा—
दुश्शासनस्य रुधिरंन पिबाम्युरस्तः।
सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू,
सन्धि करोतु भवतां नृपतिः पणेन॥

यह कैसे सम्भव है कि 'मैं क्रोध के साथ सौ कौरवों को युद्ध में न मथूं; छाती से दुश्शासन का रक्त न पीलूं; गदा से दुर्योधन की उरूओं को चूर्ण न करूं। आप लोगों के (सहदेव इत्यादि के) राजा मूल्य पर सन्धि करें। (मैं युधिष्ठर को राजा नहीं मानता न मैं उनकी की हुई सन्धि को ही स्वीकार करूंगा। मैं अपनी उन प्रतिज्ञाओं को अवश्य पूरा करूंगा)।

'द्रौपदी— (सुनकर सहर्ष) हे नाथ ये वचन मैंने पहले कभी नहीं सुने थे। अतएव इन्हें पुनः पुनः कहो।

यहाँ पर भीमसेन के क्रोध रूप बीज के सम्बन्ध से ही द्रौपदी को सुख प्राप्त हुआ है। अतएव यहाँ पर प्राप्ति नामक मुखाङ्ग है।

दूसरा उदाहरण—जैसे रत्नावली में—'सागरिका—(सुनकर और घूमकर) क्या यह वही राजा उदयन हैं जिनके लिये पिताजी ने मुझे प्रदान किया है। अतएव दूसरे की सेवा करने के कारण दूषित भी मेरा जीवन इनके दर्शन से बहुत अधिक आदरणीय हो गया है।'

यहाँ पर सागरिका को सुख की प्राप्ति हुई है। अतएव यहाँ पर सुखागम नाम का मुखाङ्ग है।

(७) समाधान :—

वीजगमः समाधानम् —

[वीज के आगमन को समाधान कहते हैं] समाधान का अर्थ है सम्यक् आधा या वीज का ठीक रूप में स्थापित करना।

जैसे रत्नावली में—'वासवदत्ता—तो फिर मेरे पास सामग्री ले आया। सागरिका—हे स्वामिनी ! सब तैयार है।' वासवदत्ता—(समझकर मन में) परिजनों के प्रमाद पर आश्चर्य है। जिसके लिये प्रयत्न पूर्वक चेष्टा की जाती है कि कहीं सागरिका राजा उदयन की निगाह में न पड़ जावे उन्हीं के सामने यह कैसे आ गई ? अच्छा इस प्रकार कहें--(प्रगट रूप में) अरे सागरिका आज इस मदनमहोत्सव में सभी परिजन काम में लग रहे हैं तब तुम सारिका को छोड़कर यहाँ कैसे चली आईं ? जाओ वहीं रहो।' इस उपक्रम के बाद 'सागरिका (मन में) सारिका को तो मैंने सुसङ्गता के हाथ में सौंप दिया है। अब मुझे उत्सव का कौतूहल देखना ही है। अतएव अलक्षित होकर देखूँ।'

यहाँ पर वासवदत्ता महाराज उदयन के सामने पड़ने से सागरिका को बचाने की चेष्टा कर रही है। किन्तु सागरिका ने सुसङ्गता के हाथ में सारिका को सौंप दिया है और अदृश्य होकर उत्सव देखने का आयोजन कर रही है। इससे वत्सराज के समागम के बीज औत्सुक्य का उपादान कर दिया गया है। अतएव यहाँ पर समाधान नामक मुखाङ्ग है।

दूसरा उदाहरण--जैसे वेणी संहार में लिखा है--'भीम-अच्छा पाञ्चाल राजपुत्रि सुनो—बहुत थोड़े ही समय में यह होगा :—

'चञ्चद्भुज भ्रमित चण्डगदाभिघात, सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्ध घन शोणितशोणपाणि रुत्तंसपिष्यीत कचांस्तवदेवि भीमः।'

'हे देवि ! चञ्चल भुजाओं से घुमाये हुए प्रचंड गदा के अभिघात से सुयोधन के दोनों उरुओं को चूर्ण करके गीले लिपटे हुए गाढ़े खून से लाल हाथोंवाला यह भीम तुम्हारे बालों को बाँधेगा।'

यहाँ पर वेणी संहार में हेतु क्रोध रूपी बीज के पुनः उल्लेख कर देने से समाधान नामक मुख-संधि का अंग है।'

(८) विधान :--

विधानं सुखदुःखकृत् ॥२८॥

[जो सुख और दुःख दोनों उत्पन्न करनेवाला हो उसे विधान कहते हैं।]
जैसे मालती माधव के प्रथम अंग में माधव कह रहे हैं :--

यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं त—
दावृत्तवृत्तशतपत्र निभं वहन्त्या,

दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या,
गाढं निखात इव में हृदये कटाक्षः ।

'जिस समय मालती जा रही थी उसने धीरे से अपने कन्धे को झुकाकर मेरी ओर देखा । उस समय उसका मुख ऐसा शोभित हो रहा था जैसे मानों झुकी हुई नालवाला शतपत्र का सुन्दर फूल हो । उस समय सुन्दर पक्ष्मो से युक्त नेत्रोंवाली उस मालती ने मानों अमृत और विष से बुझा हुआ कटाक्ष रूपी बाण मेरे हृदय में बड़ी गहराई से गाड़ दिया ।

यद्विस्मय स्तिमितमस्तभितान्य भाव-
मानन्दमनंममृत प्लवना दिवाभूत् ।
तत्सन्निधौ तदधुना हृदयंमदीय-
मङ्गारचुम्बितमिवव्य थमान मास्ते ॥

'जो मेरा हृदय उस मालती के निकट विस्मय से जकड़ जाता था, जिसमें सारे अन्य भाव तिरोहित हो जाया करते थे और जो आनन्द में इतना भर जाया करता था कि उसकी सम्पूर्ण वृत्ति शिथिल पड़ जाती थी, उस समय ऐसा प्रतीत होने लगता था मानों वह हृदय इस समय हमारे ज्येष्ठ युधिष्ठर क्या अमृत के सरोवर में तैरने लगा हो । आज इस समय वही मेरा हृदय इतना अधिक व्यथित हो रहा है जैसे मानों चारों ओर से अंगारों ने उसका स्पर्श कर लिया हो ।'

यहाँ पर मालती के अवलोकन से माधव के हृदय में अनुराग उत्पन्न हुआ है । यह अनुराग समागम रूप वीज का हेतु है । इस प्रकार बीज के गुणों के अनुकूल ही अनुराग माधव के हृदय में सुख और दुःख को उत्पन्न कर रहा है । अतएव यहाँ पर मुख संधि का विधान नामक अंग है ।

दूसरा उदाहरण जैसे वेणी संहार में--

'द्रौपद्री--हे नाथ ! क्या फिर भी आकर आप हमें इसी प्रकार आश्वासन् देंगे ?'

भीम--हे पाञ्चाल राज पुत्रि ! क्या आज भी इन झूठे आश्वासनों की आवश्यकता बनी ही हुई है ?

भूयः परिभवक्लान्ति लज्जाविधुरिताननम् ।
अनिः शेषितकौरव्यं न पश्यसि वृकोदरम् ॥

'अब इसके बाद तुम भीम को ऐसी दशा में नहीं देखोगी जब कि निरंतर पराभव के दुःख और लज्जा से उसका मुख मलीन हो रहा हो और उसने कौरवों का समूल नाश न कर दिया हो ।'

संग्राम सुख और दुःख दोनों को उत्पन्न करनेवाला होता है। यहाँ पर भीम संग्राम के लिये प्रस्थान कर रहें हैं। अतएव यहाँ पर विधान नाम की मुख-संधि है।

(६) परिभावना :—

परिभावोऽद्भुतावेशः।

[विचित्र प्रकार के आवेश में पड़ जाने को परिभावना कहते हैं।]

जैसे रत्नावली में—'सागरिका—(देखकर विस्मय के साथ) क्या प्रत्यक्ष ही कामदेव पूजा को स्वीकार कर रहा है। मैं भी यहीं स्थित होकर इनकी पूजा करूँगी।'

यहाँ पर वत्सराज को कामदेव के रूप में अपह्नुत किया है और कामदेव के प्रत्यक्ष पूजन स्वीकार करने में एक लोकोत्तर विलक्षणता है। अतएव अद्भुत रस के आवेश के कारण यहाँ पर परिभावना नामक मुख-संधि है।

दूसरा उदाहरण जैसे वेणी संहार—'द्रौपदी—इस समय यह कैसी प्रलय कालीन जलधर के गर्जन के समान उच्च शब्दवाली युद्ध की दुन्दु भी क्षण-क्षण पर पीटी जा रही है।'

यहाँ पर युद्ध की दुन्दुभि के विस्मय रस के आवेश के कारण द्रौपदी के लिये परिभावना नामक मुख-संधि है।

(१०) उद्भेद :—

उद्भेदो गूढ़ भेदनम्।

[गुप्त बात के प्रगट कर देने को उद्भेद कहते हैं।]

जैसे रत्नावली वत्सराज कामदेव के नाम से छिपे हुए थे। वैतालिक ने 'अस्तापास्त समस्तभासि' इत्यादि श्लोक में उदयन का नाम ले लेने से उनको प्रगट कर दिया। इस प्रकार यहाँ पर रत्नावली और वत्सराज के समागम रूप बीज के अनुकूल ही उदयन के स्वरूप का उद्भेदन हुआ है। अतएव यहाँ पर उद्भेद नामक मुख-संधि है।

दूसरा उदाहरण—जैसे वेणी संहार में भीमसेव ने कञ्चुकी से पूछा है कि इस समय हमारे ज्येष्ठ भाई युधिष्ठिर क्या करना चाहते हैं; कञ्चुकी उत्तर देता है आप सब बातें स्वयं ही जान लेंगे। उसी समय नेपथ्य में कहा जाता है :—

यत्सत्यव्रतभङ्ग भीरुमनसा यत्नेन मन्दीकृतम्।
यद्विस्मर्तुमपीहितं शमवता शान्तिं कुलस्येच्छता॥
तद्यूतारणि सम्भृतं नृप सुता के शाम्बरा कर्षणैः।
क्रोधज्योति रिदं महत्कुरुवने यौधिष्ठरं ज्रम्भते॥

'कहीं सत्यव्रत भङ्ग न हो जावे इस भय से भीत मन होकर युधिष्ठर ने जिस क्रोधाग्नि की लपट को प्रयत्नपूर्वक मन्द• कर दिया था; शान्त शील होने के कारण कुल की शान्ति की कामना करते हुए जिस जिसे भुला देने की भी इच्छा की थी, जो द्यूत रूपी अरणियों के मन्थन से उत्पन्न हुई थी और जो राजपुत्री द्रौपदी के केश और वस्त्र खींचने से बहुत अधिक वृद्धि को प्राप्त हो गई वही युधिष्ठिर की क्रोधाग्नि की लपट इस समय विशाल कुरुवंश रूपी वन में प्रदीप्त हो रही है।'

भीमसेन—(सुनकर प्रसन्नतापूर्वक) आर्य ! प्रदीप्त हो, खूब प्रदीप्त हो आर्य की क्रोध की लपट; इस समय यह कहीं भी न रुके।'

यहाँ पर द्रौपदी के केश संयमन के कारण उत्पन्न हुआ युधिष्ठिर का प्रच्छन्न कोप उद्भिन्न हो गया है। इसीलिए यहाँ पर उद्भेद नामक मुखसन्धि का अङ्ग है।

(११) करण :—

करणं प्रकृतारम्भः—

[प्रकृत के प्रारम्भ करने को करण कहते हैं।]

जैसे रत्नावली में सागरिका कह रही है - हे कुसुम बाण ? तुम्हें नमस्कार हो तुम्हारा दर्शन मेरे लिए अव्यर्थ होवे। जो कुछ मुझे देखना था वह देख लिया। अतएव जब तक मुझे कोई देख न पावे तब तक मैं चली जाऊँ।

अग्रिम अङ्क में उदयन और सागरिका की प्रेमलीला का वर्णन किया जाने-वाला है। यहाँ पर किया हुआ निर्विघ्न दर्शन ही उसमें करण है। अतएव यहाँ पर करण नामक मुखसन्ध्यङ्ग है।

दूसरा उदाहरण जैसे वेणी-संहार में—'भीमसेन—हे पाञ्चालि ! अब हम जा रहे हैं कुरुवंश के विनाश के लिए।

सहदेव—आर्य ! हम भी जा रहे हैं गुरुजनों की अनुमति लेकर पराक्रम के अनुरूप कार्य करने के लिए।

अग्रिम अङ्क में युद्ध प्रस्तुत किया जानेवाला है। उपर्युक्त शब्दों के द्वारा उसी के प्रारम्भ की सूचना दी गई है। अतएव यहाँ पर करण नामक मुखाङ्ग है। उपर्युक्त उद्धरण में शब्द-विन्यास इस प्रकार होना चाहिए—'हम कुरुवंश के विनाश के लिए जा रहे हैं।' गुरुजनों की अनुमति लेकर हम भी पराक्रम के अनुरूप कार्य करने जा रहे हैं।' और ऐसी दशा में उद्देश्य और विधेय भाव का परिवर्तन रिपुकुल क्षय और विक्रम के अनुरूप आचरण इन दोनों पर अधिक बल देने के लिए कर दिया गया है। यहाँ पर क्रियाओं का पौर्वापर्य प्रयोज-नीय नहीं है।

(१२) भेद :—

भेदः प्रोत्साहना मता ।

[भेद प्रोत्साहन को कहते हैं।]

जैसे वेणी-संहार में द्रौपदी कह रही है—हे नाथ ! द्रौपदी के पराभव के कारण उद्दीप्त क्रोधवाले होकर बिना अपने शरीर की परवा किये हुए युद्धभूमि में मत घूमना। क्योंकि सुना जाता है कि शत्रु सेना में अप्रमत्त होकर सञ्चरण करना चाहिए।'

भीमसेन—हे सुक्षत्रिये !

अन्योन्यास्फाल भिन्न द्विपरुधिर वसा मांस मस्तिष्क पंके।
मग्नानां स्पन्दनानामुपरिकृत पदन्यास विक्रान्त पत्तौ ॥
स्फीता सृक्पान गोष्ठी रसदशिव शिवा तूर्य नृत्यत्कवन्धे।
सङ्ग्रामैकार्णवान्तः पयसि विचरितुं पण्डिताः पाण्डुपुत्राः ॥

'जिस सग्रामरूपी महासागर के अन्दर एक दूसरे की टक्कर लगने से हाथियों के शरीर क्षत विक्षत हो गये हों और उनके रक्त, चर्बी, मांस और मस्तिष्क का कीचड़ हो रहा हो, उस कीचड़ में जहाँ रथ धँसे पड़े हों और उन रथों पर पैर रखकर पैदल सैनिक अपना पराक्रम दिखला रहे हों; बढ़े हुए रक्त की पानगोष्ठी में जहाँ पर शृगालियों के अकल्याणकारक भयदायक शब्द हो रहे हों और उन्हीं को तूर्य मान कर उनके स्वर का अनुसरण करके कवन्ध नाच रहे हों इस प्रकार के सग्रामरूपी महासागर के जल में घूमने में पाण्डव लोग बड़े ही निपुण हैं।'

यहाँ पर विषाद में पड़ी हुई द्रौपदी को प्रोत्साहन दिया गया है और उसमें क्रोध और उत्साह रूप बीज का अनुसरण भी किया गया है। अतएव यहाँ पर भेद नामक मुखसन्ध्यङ्ग है।

ऊपर मुख सन्धि के १२ भेदों का निरूपण किया गया है। ये सन्ध्यङ्ग बीज और आरम्भ के द्योतक होते हैं। इनका विधान दोनों रूपों में हो सकता है साक्षात् भी और परम्परा से भी। इनमें उपक्षेप, परिकर, परिन्यास युक्ति, उद्भेद और समाधान ये अङ्ग अवश्य होते हैं।

मुख-सन्धि नाटक के प्रारम्भ में होती है। इसमें अग्रिम कथावस्तु के विकास का वातावरण तैय्यार किया जाता है। यह पहले ही बतलाया जा चुका है नाट्य रचना का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होता है और उस उद्देश्य की सिद्धि का एक हेतु होता है। वही हेतु धीरे धीरे विकसित होकर नाट्य को कार्य (फल) की ओर ले जाता है। प्रथम (मुख) सन्धि में एक तो बीज का उल्लेख किया जाता है और दूसरे उद्देश्य का महत्व बतलाया जाता है। पात्रों का फल के

प्रति जितना अधिक आकर्षण होता है वह फल भी उतना ही अधिक महत्व-पूर्ण प्रतीत होता है और उसकी प्राप्ति के निमित्त की ही सारी चेष्टायें उतनी ही स्वाभाविक जान पड़ती है; अतएव उसमें रसास्वादन भी उतना ही अधिक हो जाता है। इस प्रकार मुख सन्धि में ये बातें प्रधान होती हैं--(१) उसमें बीज का विकास दिखलाया जाता है। (२) उद्देश्यों का परिचय कराया जाता है। (३) पात्रों का फल की ओर प्रलोभन दिखलाया जाता है। (४) फल प्राप्ति और अप्राप्ति में सुख और दुःख दिखलाया जाता है। (५) अग्रिम सन्धि की कथावस्तु का उपक्रम किया जाता है। (६) फल के लिए प्रोत्साहन; आवेश इत्यादि दिखलाये जाते हैं और (७) गूढ़ बात प्रगट किया जाता है। बीज को मूल रूप में प्रगट करना उपक्षेप, कुछ विस्तार परिकर और उसकी निष्पत्ति परिन्यास कहलाती है। बीज के पुनः आगमन को समाधान कहते हैं। फल के प्रति आकर्षण के लिए गुणों का वर्णन विलोभन कहलाता है। समस्त प्रयोजनों को सङ्कलित करके कह देना युक्ति नामक मुखाङ्ग होता है। अनुकूल कार्य को देखकर सुख प्राप्त करने को प्राप्ति और फल की प्राप्ति, अप्राप्ति के अनुसार सुख और दुःख प्राप्त करने को विधानकहते हैं। उसी विषय में लोकोत्तर आवेश को परिभावना कहते हैं और उसके प्रति प्रोत्साहन को भेद कहते हैं। गूढ़ बात को प्रगट कर देना उद्भेद कहलाता है और अग्रिम कथानक के उपक्रम को करण कहते हैं। यही मुख संधि के बारह अंग होते हैं। जैसे प्रेम प्रधान नाटिका रत्नावली में रत्नावली और उदयन का समागम फल है और अनुकूल दैव तथा यौगंधरायण का कार्य व्यापार उसमें बीज है। इसी प्रकार वीररस प्रधान वेणी-संहार नाटक में शत्रु विजय और द्रौपदी का केश संयमन फल है। भीमसेन का उत्साह और क्रोध उसमें बीज है। उपर्युक्त उदाहरणों में इन्हीं का विकास दिखलाया गया है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों को भी समझना चाहिए।

प्रतिमुख संधि और उसके भेद

प्रतिमुख संधि का लक्षण यह है :--

लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत्।
विन्दु प्रयत्नानुगमादङ्गान्यस्य त्रयोदश॥३०॥

[जहाँ पर उस बीज का उद्भेद इस रूप में हो कि कहीं वह लक्षित हो सके और कहीं लक्षित न हो सके। उसे प्रतिमुख संधि कहते हैं। विंदु और प्रयत्न के अनुगम से इसके तेरह अंग होते हैं।]

उदाहरण के लिये रत्नावली नाटिका का कार्य (फल) वत्सराज और साग-

रिका का समागम है और उसमें बीज है अनुराग जो कि प्रथम अंग उपक्षिप्त किया गया है। दूसरे अंग में उस अनुराग बीज को सुसङ्गता और विदूषक जानते हैं और वासवदत्ता ने चित्रफलक के वृत्तांत से उसका कुछ अनुमान लगाया है। इस प्रकार द्वितीय अंग में अनुराग बीज कुछ तो दृश्य रूप में और कुछ अदृश्य रूप में उद्भिन्न होता है। इस प्रकार द्वितीय अंक में प्रतिमुख संधि है।

इसी प्रकार वेणी-संहार की बीज पाण्डवों का क्रोध है। द्वितीय अंक में भीष्म इत्यादि के वध से वह क्रोध लक्षित होता है और कर्ण इत्यादि के वध न होने के कारण वह अलक्षित है। अतएव क्रोध बीज के दृश्य और अदृश्य रूप में उद्भिन्न होने के कारण वेणी-संहार का द्वितीय अंक प्रतिमुख संधि का उदाहरण है।

इस क्रोध बीज का द्वितीय अंक में बार-बार उद्भेद हुआ है। जैसे :—

'पाण्डुपुत्र अपने पराक्रम से शीघ्र ही नौकरों के समूह के सहित, बांधवों के सहित, मित्रों से सहित, पुत्री के सहित और छोटे भाइयों के सहित दुर्योधन को युद्धभूमि में मार डालेंगे।'

इसी प्रकार :—

'युद्ध-भूमि में दुश्शासन के हृदय का खून रूपी जल पीने के लिये और गदा से दुर्योधन की जङ्घाओं को विदीर्ण करने के लिये जिस प्रकार तेजस्वी पाण्डवों ने प्रतिज्ञा कर ली है उसी प्रकार जयद्रथ वध के लिये भी उनकी प्रतिज्ञा की हुई ही समझनी चाहिए।

यहाँ पर क्रोध बीज के उद्भिन्न होने के कारण प्रतिमुख संधि है।

पिछले अंक में जिस विन्दु की ओर सङ्केत किया गया हो उस विन्दु रूप बीज और प्रयत्न के अनुगम से उसके तेरह अंग होते हैं। आशय यह है प्रथम अंक में बीज के उपक्षेप के बाद जब कथाभाग विच्छिन्न होने लगता है तब उसको आगे बढ़ाने के लिये दूसरे बीज का उल्लेख किया जाता है। इसे विन्दु कहते हैं। इसी विन्दु नामक अर्थ प्रकृति का आश्रय लेकर प्रतिमुख संधि की प्रवृत्ति होती है। इस विन्दु के साथ प्रयत्न नामक कार्यावस्था का संयोग होता है। इसी प्रतिमुख संधि के निम्नलिखित तेरह भाग होते हैं :—

विलासः परिसर्पश्च विधूतं शमनर्मणी।
नर्मद्युतिः प्रगमनं निरोधः पर्युपासनम् ॥३१॥
वज्रं पुष्पमुपन्यासोवर्ण संहार इत्यति।

[प्रतिमुख संधि के विलास इत्यादि तेरह भाग होते हैं।] इनकी क्रमशः व्याख्या की जा रही है।

(१) विलास :—

रत्यर्थेहा विलासः स्यात्

[रति के लिये जो इच्छा होती है उसे विलास कहते हैं।]

जैसे रत्नावली में सागरिका कह रही है--'हे हृदय प्रसन्न हो ! प्रसन्न हो !! इस दुर्लभ व्यक्ति के लिये प्रार्थना के आग्रह में लगने से क्या लाभ जिसका फल केवल व्यर्थ का परिश्रम ही हो ?' इस उपक्रम के साथ पुनः कह रही हैं--'फिर भी उस व्यक्ति को चित्रलिखित, बनाकर मनमानी इच्छा पूरी कर लूँगी। क्योंकि उनके दर्शन का दूसरा उपाय है ही नहीं।' इन वाक्यों के द्वारा सागरिका की चेष्टा वत्सराज के समागम और रति के विषय में व्यक्त हो रही है यद्यपि है वह चेष्टा चित्रगत वत्सराज के समागम और उनके प्रति रति के लिये ही। यह चेष्टा अनुराग रूप बीज का अनुसरण कर रही है। अतएव यहाँ पर विलास नामक प्रतिमुख संधि का अंग है।

(२) परिसर्प :—

दृष्ट नष्टानुसर्पणं

परिसर्प :—

[जब कहीं-कहीं बीज दिखाई पड़े और कहीं-कहीं छिप जावे और उस बीज का अन्वेषण किया जावे तो उस परिसर्प कहते हैं।]

जैसे वेणी-संहार में अनेक वीरों के संक्षय का समय उपस्थित है। ऐसे अवसर पर दुर्योधन अन्तःपुर में उपस्थित हैं। इस बात को देखकर उनका कञ्चुकी कह रहा है--'स्वामी के लिये यह एक दूसरी अनुचित बात है कि इस समय जब कि बलवान सत्रु सन्नद्ध हो रहे हैं, और बलवान होना तो एक मामूली बात थी हमारे शत्रुओं की सहायता भगवान् वासुदेव भी कर रहे हैं, हमारे स्वामी अन्तःपुर के सुख का अनुभव कर रहे हैं :--

आशास्त्र ग्रहणादकुण्ठपर शोस्तस्यायिजेता मुनेः।
तापायास्यन पांडु सूनुभिरयं भीष्मः शरैः शायितः॥
प्रौढ़ानेक धनुर्धरारि विजय श्रांतस्य चैकाकिनः।
बालस्यायमरातिलून धनुषः प्रीतोऽभिमन्योर्वधात्॥

'इन दुर्योधन को इस बात का कुछ भी संताप नहीं हो रहा है कि पाण्डु पुत्रों ने वाणों से उन भीष्म को भी मृत्यु शय्या पर सुला दिया जिन्होंने शस्त्र ग्रहण के समय से लेकर कभी भी कुण्ठित न होनेवाले परशुधारी जगत्प्रसिद्ध मुनि परशुराम को भी जीत लिया था। आज इन्हें केवल इसी बात का सन्तोष हो रहा है कि इन लोगों ने एक बालक (अभिमन्यु) को ऐसा दशी में मार डाला जब कि वह अनेक प्रौढ धनुर्धर शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के कारण

थक चुका था और जिस समय शत्रुओं ने उसके धनुष को भी काट दिया था।'

यहाँ पर भगवान् कृष्ण की सहायता से युद्ध करनेवाले बलवान् पाण्डवों की विजय भीष्म इत्यादि के वध से दिखलाई पर रही है और अभिमन्यु इत्यादि के वध से नष्ट हो गई है। इस प्रकार संग्रामरूपी विन्दुनामक बीज और प्रयत्न के अन्वय के द्वारा कञ्चुकी के मुख से बीज का अन्वेण कराया गया है। अतएव यहाँ पर परिसर्प नाम का मुख सन्धि का अङ्ग है।

दूसरा उदाहरण जैसे रत्नावली में सारिका के वचन और चित्र दर्शन के द्वारा सागरिका का अनुराग बीज प्रगट होकर तिरोहित हो गया है। उसी अनुराग बीज का अन्वेषण वत्सराज उदयन ने विदूषक से यह कहकर किया है—'मित्र ! मुझे दिखलाओ कहाँ है कहाँ है वह चित्र।' इस प्रकार यहाँ पर बीज का अन्वेषण करने के कारण परि सर्प नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग है।

(२) विधूत :—

विधूतं स्यादरति :—

[अरति (वैराग्य) को विधूत कहते हैं।]

जैसे रत्नावली में—'सागरिका—सखि ! मुझे सन्ताप अधिक कष्ट दे रहा है। (सुसङ्गता वावड़ी से कमलिनी के पत्तों और मृणाल-खण्डों को ले आकर उसके शरीर पर रखती है।) सागरिका—(उन्हें दूर फेंककर) हे सखि ! इन्हें दूर करो। व्यर्थ में अपने को कष्ट क्यों दे रही हो ? मैं तो यह कहती हूँ :—

> दुल्लहजणाणुराओ लज्जा गरुई परव्वसो अप्पा।
> पियसहि विसमं पेम्मं मरणं सरणं णवर एक्कम्॥
> दुर्लभ जनानुरागोलज्जा गुर्वी परवश आत्मा।
> प्रियसखि विषमं प्रेम मरणं शरणं केवल मेकम्॥

'हे प्यारी सखी ! मेरा अनुराग सर्वथा दुर्लभ व्यक्ति के विषय में है; लज्जा बहुत बड़ी है; आत्मा भी पराधीन है; प्रेम बड़ा ही विषम है; अब मेरे लिये एक-मात्र मृत्यु की ही शरण शेष है।'

यहाँ पर अनुराग बीज के सम्बन्ध से सागरिका के चित्त में जीवन से वैराग्य का उदय हुआ है और उसने शीतोपचार का विधूजन (प्रत्याख्पान) कर दिया है। अवएक यहाँ पर विधूत नामक प्रतिमुख सन्ध्यङ्ग है।

दूसरा उदाहरण जैसे वेणी-संहार में दुस्स्वप्न देखने के कारण दुर्योधन के अनिष्ट की आशङ्का से अथवा पाण्डवों के विजय की आशङ्का से भानुमती ने

रीत का विधूनन कर दिया है। अतएव वहाँ पर विधूत नामक प्रति मुख सन्ध्यङ्ग है।

(४) शम :—

तच्छमः शमः

[उस अरति के उपशम को शम कहते हैं।]

जैसे रत्नावली में—'राजा—मित्र! यदि सचमुख ऐसी सुन्दरी ने मेरा चित्र, बनाया है तो मुझे अपने ऊपर भी गर्व का अनुभव हो रहा है। फिर मैं इसे क्यों न देखूँ?' इस उपक्रम में सागरिका अपने मन में कह रही है—"हे हृदय! धैर्य धारण करो। तुम्हारा मनोरथ भी तो इस पराकाष्ठा पर नहीं पहुँचा था।

यहाँ पर सागरिका के वैराग्य का उपशम हो गया है। अतएव शम नामक प्रतिमुख सन्ध्यङ्ग है।

(५) नर्म :—

परिहास वचो नर्म

[परिहास वचन को नर्म कहते हैं।]

जैसे रत्नावली में—'सुसङ्गता—हे सखि! जिसके लिये तुम आई हो! यह वह तुम्हारे सामने स्थित है।' सागरिका—(अनसूया के साथ) सुसङ्गत! किसके लिये मैं आई हूँ? 'सुसङ्गता—अरी? अपने आप ही शङ्का करनेवाली? तुम अवश्य ही इस चित्र फलक के लिये आई हो। अतएव इसे ले लो।'

यहाँ पर परिहास वचन सागरिका के अनुरागरूप वीज को प्रगट करनेवाला है। अतएव यहाँ पर नर्म नामक प्रतिमुख सन्ध्यङ्ग है।

दूसरा उदाहरण जैसे वेणी-संहार में (दुर्योधन बेटी के हाथ से अर्ध्यपात्र लेकर देवी को दे देता है।) भानुमती—(अर्घ देकर) अरे! मेरे पास फूल ले आओ जिससे दूसरे देवताओं की भी पूजा कर लूँ। हाथ फैलाती है। दुर्योधन फूल ले जाते हैं। उनके स्पर्श से भानुमती के हाथ काँप जाते हैं और फूल गिर जाते हैं।)

यहाँ पर दुस्स्वप्न दर्शन की शान्ति के लिये जो पूजा की जा रही थी नर्म (परिहास) के द्वारा उसमें विघ्न पड़ा और उससे बीज का उद्घाटन हुआ। यही कारण है कि परिहास प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग माना गया है।

(६) नर्मद्युति :—

धृतिस्तज्जा द्युतिर्यता

[नर्म से जो धृति उत्पन्न होती है उसे नर्मद्युति कहते हैं।]

जैसे रत्नावली में—'सुसङ्गता—इस समय तुम अत्यन्त निष्ठुर हो रही हो

जो पति के द्वारा हाथ पकड़े जाने पर भी कोप को नहीं छोड़ रही हो।' सागरिका--(भ्रूभङ्ग के साथ कुछ मुस्कुराती हुई) सुसङ्गते ! इस समय भी तुम नहीं रुक रही हो।'

यहाँ पर परिहास के द्वारा अनुराग बीज का उद्घाटन किया गया है और उससे सागरिका के चित्त में कुछ धैर्य उत्पन्न हुआ है। अतएव यहाँ पर प्रतिमुख सन्धि का नर्मद्युति नामक अङ्ग है।

(७) प्रगमन :--

उत्तरावाक् प्रगमनम्

[उत्तर देने के वचन को प्रगमन कहते हैं।]

जैसे रत्नावली में--'विदूषक--'हे मित्र? सौभाग्य से आप बढ़ रहे हैं।' राजा--(कौतुक से) मित्र ? यह क्या है ?' विदूषक--हे मित्र ? यह वह है जो मैंने कहा था कि यहाँ पर तुम्हारा ही चित्र बनाया गया है। कामदेव के बहाने से कौन दूसरा छिपाया जा सकता था ?, यहाँ से लेकर :--

परिच्युतस्तत्कुच कुम्भमध्वत्किं शोषमायासि मृणाल हार।
न सूद्मयतन्तोरपि तावकस्य तत्रावकाशो भवत, किमुस्यात् ॥

'हे मृणालहार ? तुम उसके स्तनों के बीच से गिर गये हो इसलिये सूख क्यों रहें हो ? उस (सागरिका) के स्तनों के बीच में तो तुम्हारे सूक्ष्म तन्तु के लिये भी अवकाश नहीं है फिर तुम्हारे लिए अवसर हो ही कैसे सकता है ?

यहाँ तक राजा विदूषक सागरिका और सुसङ्गता के परस्पर उत्तर प्रत्युत्तर के द्वारा अनुराग बीज का उद्घाटन होता है। अतए यहाँ पर प्रगमन नाम का प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग है।

(८) निरोध :--

हितरोधो निरोधनम्

[हित के रुक जाने को निरोध कहते हैं।]

जैसे रत्नावली में---'राजा-अरे मूर्ख ? तुझे धिक्कार है :--

'प्राप्ताकथयपि दैवात्कण्ठमनीतैव प्रकटराग।
रत्नावलीव कान्ता ममहस्तावद्भ्रंशिता भवता॥ • • • •

'भाग्यवश जैसे तैसे वह मुझे प्राप्त हो गई थी; उसका राग (लाली प्रेम) प्रगट हो रहा था; मैंने उसको कण्ठ में लगा भी नहीं पाया और तुमने मेरी प्रियतमा को इसी प्रकार मुझसे छुटा लिया जैसे किसी को दैववश रत्नावली प्राप्त हो जावे जो रक्त वर्ण से युक्त होने के कारण जगमगा रही हो; वह व्यक्ति

उस रत्नावली को कण्ठ में भी न लगा पावे और कोई दूसरा व्यक्ति उसे उसके हाथ से छीन ले जावे।'

यहाँ पर वत्सराज का सागरिका समागम रूप हित होनेवाला था किन्तु विदूषक ने वासवदत्ता के प्रवेश की सूचना देकर उसे रोक दिया। अतएव यहाँ पर निरोध नामक प्रतिमुख सन्ध्यङ्ग है।

(९) पर्युपासन :--

पर्युपास्तिरनुनम :—

[अनुनय करने को पर्युपासन करते हैं।]

जैसे रत्नावली में राजा कह रहे हैं :--

प्रसीदेति ब्रूयामिदमसति कोपे न घटते।
करिष्याम्येवं नो पुनरिति भवेदभ्युपगमः॥
न मे दोषोऽस्तीति त्वमिदमपि हि ज्ञास्यसि मृषा।
किमेतस्मिन् वक्तुं क्षममिति न वेद्मि प्रियतमे॥

'हे प्रियतमे ? यदि मैं यह कहूँ कि तुम प्रसन्न हो जाओ तो क्रोध के न होने पर यह बात घटित ही कैसे हो सकेगी। यदि मैं कहूँ कि मैं फिर कभी ऐसा नहीं करूँगा तो यह अपने अपराध का स्वयं ही स्वीकार कर लेना हो जाता है। यदि मैं कहूँ कि मेरा दोष नहीं है तो तुम झूठ मानोगी। ऐसी दशा में मैं इस समय क्या कह सकता हूँ यह मैं नहीं जानता।

यहाँ पर नायक और नायिका (वत्सराज और सागरिका) को एक साथ चित्रलिखित देखकर वासवदत्ता को क्रोध उत्पन्न हुआ है। उनके शान्त करने के लिये उक्त शब्दों में राजा ने उनसे अनुनय किया है। इस अनुनय के द्वारा नायक और नायिका के अनुराग रूप बीज का उद्घाटन होता है। अतएव यहाँ पर पर्युपासन नामक प्रतिमुख सन्ध्यङ्ग है।

(१०) पुष्प :--

पुष्पं वाक्यं विशेषवत् ॥३४॥

[विशेषता से युक्त वाक्य को पुष्प कहते हैं।]

जैसे रत्नावली में--'(राजा सागरिका का हाथ पकड़ कर स्पर्श-सुख का अभिनय करते हैं।) विदूषक--यह अपूर्व श्री आपने प्राप्त कर ली है।' राजा-मित्र। सच कह रहे हो।

श्रीरेषा पाणिरप्यस्याः पारिजातस्य पल्लवः।
कुतोऽन्यथा स्रवत्येष स्वेदच्छद्मामृत द्रवम्॥

'यह स्त्री है और इसका हाथ भी पारिजात का पल्लव है। यदि ऐसा नहीं है तो यह (हाथ) पसीने के बहाने अमृतद्रव को क्यों बहा रहा है।

यहाँ पर नायक और नायिका एक दूसरे के साक्षात् दर्शन के द्वारा विशेष रूप से अनुराग का उद्घाटन कर रहे हैं। अतएव यहाँ पर पुष्प नामक प्रतिमुखाङ्ग है।

(११) उपन्यास :--

उपन्यासस्तु सोपायम्

[उपाय (युक्ति) से बीज का उद्भेद कर देने को उपन्यास कहते हैं।]

जैसे रत्नावली में--सुसङ्गता महाराज उदयन से चित्रफलक लेने गई है और राजा उसे वासवदत्त की दासी समझकर उससे सारा वृत्तान्त छिपाने की चेष्टा कर रहे हैं। जब सुसङ्गता कहती है कि मैं सारा वृत्तान्त जान गई हूँ और मैं जाकर रानी से सब कह दूँगी तब राजा उसे कर्णाभरण देकर कुछ न कहने की प्रार्थना करने लगते हैं। इस पर वह कहती है--'सुसङ्गता-महाराज ? आशङ्का की आवश्यकता नहीं। मैं भी स्वामी की कृपा के बल पर केवल हँसी ही कर रही थी। अतएव कर्णाभरण की क्या आवश्यकता ? मेरे ऊपर इससे भी अधिक कृपा हो सकती है। मेरी प्यारी सखी सागरिका मुझसे रुष्ट हो गई है और कहती है कि तुमने मेरा चित्र यहाँ पर क्यों बना दिया। आप चल कर उसको मना दीजिए।'

यहाँ पर सुसङ्गता के वचन से यह सिद्ध हो गया कि 'मैंने सागरिका का चित्र बनाया है और सागरिका ने आपका।' इस प्रकार इन वचनों से राजा की कृपा का उपन्यास करते हुए एक दूसरे के प्रति अनुराग बीज का उद्भेदन किया गया है। अतएव यहाँ पर उपन्यास नामक प्रतिमुखाङ्ग हैं।

(१२) वज्र :--

वज्रं प्रत्यक्ष निष्ठुरम्

'जैसे रत्नावली में--'वासवदत्ता-(फलक की ओर सङ्केत करते हुए) आर्यपुत्र। यह जो तुम्हारे निकट चित्रित की गई है यह क्या वसन्तक का विज्ञान है ?' फिर 'आर्यपुत्र ? इस चित्रफलक को देखकर मेरे भी सर में पीड़ा होंने लगी है।'

यहाँ पर वासवदत्ता ने कठोर शब्द कहकर वत्सराज और सागरिका के अनुराग का उद्भेदन किया है। अतएव यहाँ पर वज्र नामक प्रतिमुखाङ्ग है।

(१३) वर्ण संहार :—

चातुर्वर्ण्योपिगमनं वर्णसंहार इष्यते ॥३५॥

[चारों वर्णों के एकत्र सम्मिलन को वर्ण संहार कहते हैं।]

जैसे वीर चरित के तीसरे अङ्क में :—

परिषदियमृषीणामेष वृद्धो युधाजित्
सह नृपतिरमात्यैर्लोमपादश्च वृद्धः।
अयमविरत यज्ञोब्रह्मवादी पुराणः
प्रभुरपि जतकानामद्रुहो याचकास्ते॥

'यह ऋषियों की परिषद् है; यह वृद्ध युधाजित् हैं; यह वृद्ध लोमपाद अपने मन्त्रियों के साथ विराज मान हैं; यह पुराने ब्रह्मवेत्ता, बिना विराम यज्ञ करने वाले जनक देश के महाराज विदेह हैं। ये सब स्वयं द्रोह रहित होकर आपसे द्रोह छोड़ देने की प्रार्थना कर रहे हैं।'

यहाँ पर ऋषि क्षत्रिय अमात्य इत्यादि सब वर्ण एकत्र होकर राम की विजय से कुपित परशुराम के समक्ष अद्रोह की याञ्चा के द्वारा उनके दुर्णय का उद्भेदन किया गया है। अतएव यहाँ पर वर्ण संहार नामक प्रतिमुखाङ्ग है।

प्रतिमुख संधि के यही १३ अंग होते हैं। इसी संधि में कार्य (फल) के लिये प्रयत्न प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रयत्न का कभी तो मुखसंधि में उपक्षिप्त बिंदु नामक अवान्तर बीज से संयोग होता है और कभी महाबीज से उसका संयोग होता है। इस प्रकार बिंदु नामक अवांतर बीज महाबीज और प्रयत्न के अनुगम में ही प्रतिमुख संधि के सभी अंगों का विधान करना चाहिए।

आशय यह है कि मुखसंधि में केवल बीज का समारम्भ ही दिखलाया जाता है और फल की महत्ता के प्रति ध्यान आकर्षित किया जाता है। इस प्रतिमुख संधि में उस फल के प्राप्त करने के लिये प्रयत्न प्रारम्भ हो जाता है। कहीं-कहीं पर बीज लक्षित होता है; कहीं उसके प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है; कहीं सफलता की आशा से प्रसन्नता होती है और कहीं विफलता के भय से विषाद होता है। कहीं वैराग्य उत्पन्न हो जाता है तो कहीं विघ्नों के निराकरण के लिये अनुनय विनय होता है। कहीं बीज के प्रति विशेष आकर्षण दिखलाया जाता है तो कहीं युक्ति से उसे प्रगट किया जाता है। कहीं कठोर शब्दों का प्रयोग होता है तो कहीं सहायता के लिये चारों वर्णों का उपादान किया जाता है। इस प्रकार इस प्रतिमुख संधि के कई भेद हो जाते हैं जिनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। इन अंगों में परिसर्प प्रशम वज्र, उपन्यास और पुष्प ये अंग मुख्य हैं।

गर्भसंधि और उनके भेद

गर्भसंधि का लक्षण यह है :—

गभस्तु दृष्टनष्टस्प वीजस्पान्वेषणं मुहुः ।
द्वादशाङ्गः पताका स्यान्नवा स्यात्प्राप्ति सम्भवः ॥३६॥

[जब बीज कहीं-कहीं दिखलाई पड़ रहा हो और कहीं-कहीं नष्ट हो जाता हो और उसका बार-बार अन्वेषण किया जावे तो उसे गर्भ संधि कहते हैं। इसमें पताका होती भी है और नहीं भी होती किंतु प्राप्ति की संभावना अवश्य होती है। इसके बारह अंग होते हैं।]

यह बतलाया जा चुका है कि प्रतिमुख संधि में कहीं बीज लक्षित होता है और कहीं लक्षित नहीं होता। इस प्रकार प्रतिमुख संधि में बीज का कुछ कुछ उद्भेद हो जाता है। इस गर्भसंधि में उस बीज का सन्निवेश इस रूप में होता है कि उसका उद्भेद भी होता है और उसमें विघ्न भी उपस्थित होते हैं। इसमें बीज का बार-बार विच्छेद और बार-बार प्राप्ति होती है। उसी बीज का बार-बार अन्वेषण किया जाता है। अतएव इस गर्भ संधि में फल प्राप्ति की आशा पूर्ण रूप से नहीं होती और उसमें फल सिद्धि और असिद्धि के विषय में ही कोई निर्धारण किया जा सकता है। वैसे तो नियमानुकूल पताका इस गर्भ संधि में अवश्य होनी चाहिए क्योंकि पहले बतलाया जा चुका है कि अर्थ प्रकृतियों और कार्य की अवस्थाओं के क्रमिक संयोग से ही संधियों का आविर्भाव होता है। इस प्रकार पताका नामक अर्थ प्रकृति और प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था के संयोग से गर्भ-संधि बनती है। किंतु पताका का होना अनिवार्य नहीं है। प्राप्त्याशा तो होती ही है।

जैसे रत्नावली के तृतीय अंक में वत्सराज के लिये वासवदत्ता तो अपाय (विघ्न) है और वासवदत्ता का वेष धारण करके सागरिका का अभिसरण करना उपाय है। पहले-पहल विदूषक के कथन से सागरिक प्राप्त्या शा होती है फिर वासवदत्ता की उपस्थिति से उस आशा का विच्छेद हो जाता है, फिर प्राप्त्याशा होती है फिर विच्छेद होता है। अन्त में अदाय निवारण के लिए 'देवी को प्रसन्न करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं दिखलाई पड़ता है।' इन शब्दों में उपाय का अन्वेषण दिखलाया गया है। इस प्रकार रत्नावली का तीसरा अंक गर्भ संधि का उदाहरण है।

गर्भ संधि के बाहर अंग होते हैं। वे ये हैं :—

अभूताहरणं मार्गो, रूपोदाहरणे क्रमः।
सङ्ग्रहश्चानुमानं च तोटका धिवले तथा ॥३७॥

उद्वेग सम्भ्रमाक्षेपाः लक्षणं च प्रणीयते ।

[गर्भ संधि के अभूताहरण इत्यादि १२ भेद होते हैं। इनके लक्षण बताये जा रहे हैं।]

(१) अभूताहरण :—

अभूताहरणं छद्म

[अभूताहरण छल को कहते हैं।]

जैसे रत्नावली में—'हे मंत्री वसन्तक ! ठीक !! बहुत ठीक !!! तुमने इस संधि विग्रह की चिंता में आर्य यौगन्धरायण का भी अतिक्रमण कर दिया।' इस उपक्रम के साथ मदीनिका के सामने काञ्चनमाला ने विदूषक और सुसङ्गता की बातचीत का अनुवाद करके बतलाया है कि सागरिका वासवदत्ता का और सुसङ्गता काञ्चनमाला का रूप धारण करके राजा के पास जावेंगे यह विदूषक और सुसङ्गता के बीच में तय हो चुका है। इस प्रकार यहाँ पर विदूषक का छल दिखलाने के कारण अभूताहरण नामक गर्भाङ्क है।

(२) मार्ग :—

मार्गस्तत्वार्थ कीर्तनम् ॥३८॥

[तत्व की बात बतला देने को मार्ग कहते हैं।]

जैसे रत्नावली में—"विदूषक-'महाराज ! आप सौभाग्य से चाहे हुए से भी अधिक कार्य के सिद्ध हो जाने से वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं।" राजा 'मित्र ! प्रियतमा कुशल से तो है ?' विदूषक—'शीघ्र ही आप स्वयमेव देखकर जान लेंगे।' राजा—'क्या मुझे प्रियतमा का दर्शन भी प्राप्त हो जावेगा।' विदूषक-(अभिमान के साथ) 'क्यों नहीं हो जावेगा जिसका मुझ जैसा बृहस्पति की भी बुद्धि का उपहास करनेवाला मन्त्री विद्यमान हो।' राजा—'फिर भी मैं सुनना चाहता हूँ कि किस प्रकार दर्शन होगा।' विदूषक—(कान में कहता है) 'इस प्रकार।' "यहाँ पर विदूषक ने सुसंगता से सागरिका के समागम के विषय में जैसा कुछ निश्चय कर रक्खा था वैसा ही बतला दिया। इस प्रकार तत्वार्थ कथन के कारण यहाँ पर मार्ग नामक गर्भाङ्क है।"

(३) रूप :—

रूपवितर्कवद्वाक्यम्

[वितर्क से युक्त वचनों को रूप कहते हैं।]

जैसे रत्नावली—"राजा आश्चर्य है कि जो कामी लोग अपनी गृहिणी के समागम को तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगते हैं उनका नवीन व्यक्ति के प्रति एक कोई एक विचित्र प्रकार का पक्षपात होता है।"

प्रणय विशदां दृष्टिं वक्त्रे ददाति न शङ्किता।
घटयति घनं कण्ठाश्लेषे रसान्न पयोधरौ॥
वदति वहुशी च्छामीति प्रयत्न धृताप्यहो
रमयतितरां सङ्केतस्था तथापि हि कामिनी॥

'यद्यपि सङ्केतस्थान में स्थित कामिनी, गृहिणी से अशङ्कित होकर प्रणय के कारण निर्मल दृष्टि अपने प्रेमी के मुख पर नहीं डालती; कण्ठालिङ्गन के अवसर पर प्रेमपूर्वक अपने प्रियतम की छाती में स्तनों को भली-भाँति सङ्घटित नहीं कर सकती; प्रयत्नपूर्वक रोके जाने पर भी बार बार यही कहती है कि मैं जा रही हूँ; किन्तु फिर भी वह सङ्केतस्थ कामिनी बहुत अधिक अनन्द देती है।'

'वसन्तक न जाने क्यों विलम्ब कर रहा है? कहीं यह वृत्तान्त देवी वासदत्ता को विदित तो नहीं हो गया।'

यहाँ पर रत्नावली प्राप्ति की आशा बनी हुई है और उसी का अनुसरण करते हुए देवी वासवदत्ता की आशङ्का के विषय में वितर्क किया गया है। अतएव यहाँ पर रूप नामक गर्भाङ्ग है।

(४) उदाहरण :--

सोत्कर्षं स्यादु दाहृतिः

[जहाँ पर उत्कर्ष-युक्त वचन कहे जावें उसे उदाहरण कहते हैं।]

जैसे रत्नावली में--"विदूषक-(हर्ष-पूर्वक) ही हो अरे मैं समझता हूँ कौशाम्बी राज्य की प्राप्ति से भी मित्र (उदयन) को उतना सन्तोष नहीं हुआ होगा जितना मुझसे 'सागरिका के संयोग के विषय में प्रियवचनों को सुनकर होगा।' यहाँ पर रत्नावली की प्राप्ति की बात कौशाम्बी-राज्य की अपेक्षा भी अधिक महत्त्व-पूर्ण है इस उत्कर्ष का उल्लेख करने के कारण उदाहरण नामक गर्भाङ्ग है।

(५) क्रम :--

क्रमः सञ्चिन्त्यमानाप्तिः

[सोची हुई वस्तु का मिल जाना क्रम कहलाता है।]

जैसे रत्नावली में—"राजा—'यद्यपि प्रियतमा के समागम का उत्सव उपस्थित हो गया है फिर भी न जाने क्यों मेरा हृदय अत्यन्त धड़क रहा है? अथवा

तीव्रः स्मरसन्तापो न तथादौ बाधते यथासन्ने ।
तपति प्रावृषि सुतरामभ्यर्णजलागमो दिवसः ॥

'कामदेव का तीव्रसन्ताप प्रारम्भ में उतना सन्तप्त नहीं करता जितनी समागम के निकट आ जाने पर उससे वेदना होती है। वर्षाकाल में निस्सन्देह जलागम के निकटवर्ती होने पर दिन अत्यन्त ताप उत्पन्न किया करता है।'

विदूषक—(सुनकर) श्रीमती सागरिके! यह प्रियमित्र तुम्हारे ही उद्देश्य से उत्कण्ठा में भरकर कुछ कह रहे हैं। अतएव जाकर तुम्हारे आगमन की बात उनसे कह दूँ।'

यहाँ पर वत्सराज सागरिका के समागम की कामना कर ही रहे थे कि भ्रान्तिवश वासवदत्ता के रूप उन्हें सागरिका की प्राप्ति हो गई। अतएव चिन्तित वस्तु के मिल जाने से यहाँ पर क्रम नामक गर्भसन्ध्यङ्ग है।

क्रम के विषय में दूसरा मत यह है :—

भावज्ञानमथापरे ॥३६॥

[दूसरे आचार्य भावज्ञान को क्रम करते हैं।]

जैसे रत्नावली में—"राजा—(निकट जाकर) प्रिये सागरिके!

शीतांशुर्मुखमुत्पले तव दृशौ पद्मानुकारौ करौ,
रम्भागर्भनिभं तवोरुयुगलं बाहू मृणालोपमौ।
इत्याह्लादकराखिलाङ्गि रभसान्निःशङ्कमालिङ्ग्य मा-
मङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्येहि निर्वापय ॥

'तुम्हारा मुख शीतांशु है; तुम्हारे नेत्र उत्पल हैं; तुम्हारे हाथ पद्मों का अनुकरण करनेवाले हैं; तुम्हारे दोनों ऊरु रम्भा के मध्यभाग के समान हैं; बाहें मृणाल के समान हैं। इस प्रकार तुम्हारे सारे अङ्ग आह्लाद को उत्पन्न करनेवाले हैं और मेरे अङ्ग अनङ्ग सन्ताप से पीड़ित हो रहे हैं; अतएव तुम शङ्का छोड़कर हठपूर्वक मेरे अङ्गों का आलिङ्गन करके मेरे उन अनङ्ग सन्ताप से दग्ध अङ्गों को शान्ति प्रदान करो।' यहाँ से लेकर चन्द्रवर्णन पर्यन्त जहाँ राजा ने कहा है कि 'हे सागरिके तुम्हारे विम्बाधर में चन्द्र का अमृत भी विद्यमान ही है।' वासवदत्ता ने वत्सराज के भावों का ज्ञान प्राप्त किया है। अतएव यहाँ पर मत के अनुसार क्रम नामक अङ्ग है।

(६) संग्रह :—

संग्रहः सामदानोक्तिः

[साम और दान की उक्ति को संग्रह कहते हैं।]

जैसे रत्नावली में—"बहुत ठीक मित्र! बहुत ठीक यह मैं तुम्हें पारि-

तोषिक के रूप में कटक दे रहा हूँ।" यहाँ यर प्रशंसा करने में साम का प्रयोग है और कटक-दान में दान का प्रयोग है। इन दोनों साम और दान के द्वारा सागरिका का समागम करानेवाले विदूषक का संग्रह किया गया है। अतएव संग्रह नामक गर्भाङ्ग है।

(७) अनुमान :--

अभ्यूहोलिङ्गतोऽनुमा

[लिङ्ग (चिह्नया हेतु) से तर्क के साथ किसी बात के निर्णय करने को अनुमान कहते हैं।]

जैसे रत्नावली में —'राजा--अरे मूर्ख ! धिक्कार है !! तुम्हारे कारण ही यह अनर्थ हमें प्राप्त हुआ है। क्योंकि :--

समारूढा प्रीतिः प्रणय वहुमानात्प्रतिदिनम्
व्यलीकं वीक्ष्येदं कृतमकृतपूर्वं खलु मया।
प्रिया मुञ्चत्यद्य स्फुटमसहना जीवितमसौ
प्रकृष्टस्य प्रेम्णः स्खलितमविषह्यं हि भवति॥

'प्रणय और वहुमान के कारण प्रतिदिन हम लोगों का प्रेम बहुत बढ़ गया था। मैंने निस्सन्देह यह एक ऐसा अपराध कर दिया है जो कभी पहले नहीं किया था। यह बात स्पष्ट ही है कि असहनशील प्रियतमा अपने जीवन का आज परित्याग कर देगी। बढ़े चढ़े प्रेम का स्खलन निस्सन्देह असह्य होता हैं।'

विदूषक--'हे मित्र वासवदत्ता क्या करेगी यह मैं नहीं जानता किन्तु मेरा अनुमान है कि सागरिका का जीवन दुष्कर हो जावेगा।'

यहाँ पर सागरिका प्रति के राजा के अनुराग से उत्पन्न होनेवाले प्रकृष्ट प्रेम के स्खलन से वासवदत्ता के मरण का अनुमान किया गया है। इस प्रकार यहाँ पर अनुमान नामक गर्भाङ्ग है।

(८) अधिवल :--

अधिबलमभिसन्धि

[अभिसन्धि को अधिबल कहते हैं।]

जैसे रत्नावली में —"काञ्चनमाला–हे स्वामिनी ! यही वह चित्रशाला है। इसलिये वसन्तक को सङ्केत देकर बुलाऊँ। (चुटकी बजाती है।)" इन शब्दों में सागरिका और सुसङ्गता का रूप धारण करनेवाली वासवदत्ता और काञ्चनमाला ने राजा और विदूषक से अभिसन्धान किया है अतएव यहाँ पर अधिबल नामक गर्भाङ्ग है।

(६) तोटक :—

संरब्धं तोटकं वचः ॥४०॥

[उत्तेजित वचनों के प्रयोग में तोटक कहलाता है ।]

जैसे रत्नावली में--"वासवदत्ता-(निकट जाकर) आर्यपुत्र! यही उचित है !! यही आपके अनुकूल !!! (फिर क्रोध में भरकर) आर्य पुत्र! उठो। क्यों अब भी उच्चकुल की मर्यादा की दृष्टि से सेवा के दुःख का अनुभव कर रहे हो। काञ्चनमाले ! इस दुष्ट ब्राह्मण को इसी जाल में बाँधकर इधर ले आओ और इस दुष्ट कन्या को भी आगे कर लो।" यहाँ पर सागरिका के समागम में विघ्न उत्पन्न करनेवाले वासवदत्त के क्रोधपूर्ण वचनों से नियताप्ति में सन्देह उत्पन्न हो गया है। अतएव यहाँ पर तोटक नामक गर्भाङ्ग है।

दूसरा उदाहरण जैसे वेणीसंहार में अश्वत्थामा दुर्योधन से कह रहे हैं--'आजरात में वन्दीजनों के द्वारा प्रयत्नपूर्वक प्रार्थनाओं से जगाये जाने पर भी आप आराम से सोयेंगे। (अर्थात् मैं आज आपके समस्त शत्रुओं का संहार कर डालूँगा और आप निश्चिन्त होकर सोयेंगे।)" यहाँ से लेकर 'जब तक मैं शस्त्र को धारण किये हूँ तब तक अन्य आयुधों की आवश्यकता ही है ? अथवा जो काम मेरे अस्त्र से नहीं बन सकता उसको दूसरा कौन व्यक्ति बना सकता है ?' यहाँ तक कर्ण और अश्वत्थामा के सेना में भेद डालनेवाले क्रोध-पूर्ण वचनों से पाण्डवों की विजय की आशा बलवती हो जाती है। अतएव यहाँ पर तोटक नाम का गर्भाङ्ग है।

अधिबल और तोटक के विषय में दूसरे मत ये हैं :—

तोटकस्यान्यथाभावं ब्रुवतेऽधिवलं वुधाः।

[विद्वानों का कथन है कि तोटक के विपरीत भाव को अधिबल कहते हैं।]

जैसे रत्नावली में—"राजा—'यद्यपि तुमने मेरा प्रत्यक्ष अपराध देख लिया है फिर भी मैं निवेदन कर रहा हूँ :—

आताम्रतामपनयामि विलक्ष एव,
लाक्षाकृतां चरणयोस्तव देवि मुर्ध्ना।
कोपोपरागजनितां तु मुखेन्दु विम्बे,
हर्तुं क्षमोयदि परं करुणामयिस्यात् ॥

'हे देवि ! इस प्रकार लज्जित होकर भी मैं तुम्हारे चरणों की महावर से उत्पन्न की हुई लाली को अपने सर से दूर किये देता हूँ। किन्तु तुम्हारे मुखारविन्द में क्रोध के उपराग से उत्पन्न होनेवाली लाली को मैं तभी दूर कर सकता हूँ जब कि तुम्हारे हृदय में मेरे ऊपर करुणा हो।'

संरब्धवचनंयत्त तत्तोटकमुदाहृतम् ॥४॥

[जहाँ क्रोधपूर्ण वचन कहे जावें उसे तोटक कहते हैं ।]

जैसे रत्नावली में—"राजा—'प्रियेवासवदत्ते ! प्रसन्न हो, प्रसन्न हो ।' वासवदत्ता--(आँसू बहाती हुई) आर्य पुत्र ! ऐसा मत कहो । ये अक्षर अब दूसरे के विषय में हो गये हैं ।"

दूसरा उदाहरण जैसे वेणी संहार में—"राजा—'हे सुन्दरक ! क्या अङ्ग-राज कुशल से तो हैं ?' पुरुष—'केवल शरीर से ही कुशल है ।' राजा—'क्या अर्जुन ने उनके घोड़े मार डाले, सारथी मार डाला या रथ तोड़ डाला । पुरुष—'केवल रथ ही नहीं तोड़ डाला किन्तु मनोरथ भी भङ्ग कर दिया ।' राजा--(सम्भ्रम से) 'क्या कहा ?' इत्यादि संरम्भ पूर्ण वचनों से यहां पर तोटक कहा जावेगा ।

(१०) उद्वेग :—

उद्वेगोऽरिकृता भीतिः

[शत्रु से उत्पन्न भय को उद्वेग कहते हैं ।]

जैसे रत्नावली में--"सागरिका (मन में) 'क्या पुण्य न करनेवाले को इच्छा से मर भी नहीं मिलता है' ?" इत्यादि वाक्यों में वासवदत्ता से साग-रिका का भय दिखलाया गया है । अतएव, यहाँ पर उद्वेग नामक गर्भाङ्ग दिख-लाया गया है । अपकार करनेवाला ही शत्रु कहा जाता है । इसीलिए वासव-दत्ता सागरिका की शत्रु है ।

दूसरा उदाहरण जैसे वेणी संहार में—"सूत-(सुनकर भयभीत होते हुये) 'क्या कौरव राजपुत्र रूपी महावन के लिये उत्पात पवन के समान वायु-पुत्र भीमसेन निकट ही है और महाराज भी अभी तक होश में नहीं आये हैं ? अच्छा अब हम रथ को दूर लिये जा रहे हैं । कहीं यह दुष्ट दुशासन के समान इन (दुर्योधन) से भी दुष्टता न कर बैठे ।' यहाँ पर शत्रु से भय होने के कारण उद्वेग नामक गर्भाङ्ग है ।"

(११) सम्भ्रम :—

शङ्कात्रासौच सम्भ्रमः

[शङ्का और त्रास को सम्भ्रम कहते हैं ।]

जैसे रत्नावली में--"विदूषक--(देखते हुये) 'यह कौन हैं ? (संभ्रम से) क्या देवी वासवदत्ता आत्महत्या कर रही है ?' राजा--(भ्रम-पूर्वक निकट जाते हुये) 'यह कहां है ? कहां है ?' यहां पर वासवदत्ता समझकर सागरिका के मरण की आशङ्का दिखलाई गई है । अतएव यहां पर सम्भ्रम नामक गर्भाङ्ग है ।

दूसरा उदाहरण जैसे वेणी संहार में—"(नेपथ्य में कलकल शब्द होता है।) अश्वत्थामा—(सम्भ्रम के साथ) मामा! मामा!! बड़े दुःख की बात है। य देखो अर्जुन अपने भाई भीमसेन प्रतिज्ञा के भङ्ग के भय से वाणों की वर्षा करते हुये एक साथ ही दुर्योधन और कर्ण की ओर वेग से बढ़ रहे हैं। भीमसेन ने दुश्शासन का खून बिल्कुल पी लिया।" यहां पर शङ्का दिखलाई गई है। और '(श्रम पूर्वक प्रहार के साथ प्रवेश करते हुये) सूत—कुमार की रक्षा करो, रक्षा करो' यहां पर भास की व्यञ्जना होती है। इस प्रकार यहां पर दुशासन और द्रोण-वध के सूचक त्रास और शङ्का से पाण्डवों की विजय प्राप्त की आशा बलवती हो जाती है। अतएव यहां पर संभ्रम नामक गर्भाङ्ग है।

(१२) आक्षेप :—

गर्भबीजसमुद्भेदाक्षेपः परिकीर्तितः ॥४२॥

[जहां पर गर्भ और बीज का उद्भेद हो उसे आक्षेप कहते हैं।]

जैसे रत्नावली में—"राजा—मित्र! देवी के प्रसन्न करने के अतिरिक्त मुझे और कोई उपाय नहीं दिखलाई देता।" इसके बाद दूसरे स्थान पर—"सर्वथा देवी के प्रसन्न करने के विषय में मेरी आशा जाती रही।" फिर—"अतएव यहां पर बैठे रहने से क्या लाभ? देवी के पास चलकर उन्हीं को प्रसन्न करें।" यहां पर देवी को प्रसन्न करने से सागरिका के समागम की सिद्धि सम्भावित की गई है। देवी-प्रसादन गर्भसन्धि है और समागम बीज है। दोनों के उद्भेद से यहां पर आक्षेप नामक गर्भाङ्ग है।

दूसरा उदाहरण जैसे वेणी संहार में—"सुन्दरक-अथवा दैव को उपालम्भ क्यों दूँ? यह (विनाश) उसी छल-दम्भरूप वृक्ष का फल प्राप्त हो रहा है जिसमें विदुर के वचनों की अवहेलना बीज है; जिसमें भीष्मपितामह के उपदेश का अनादर ही अङ्कुर है; जिसमें शकुनि का प्रोत्साहन ही बद्धमूल जड़ हो गई है; जिसकी छल, विषप्रयोग इत्यादि शाखाएँ हैं; जिसमें द्रौपदी के केश ग्रहण ही फूल है।" यहां पर बीज ही फलोन्मुख बतलाय गया है। अतएव आक्षेप नामक गर्भाङ्ग है।

ऊपर गर्भ संधि के १२ अङ्गों की व्याख्या की गई है। इन अङ्गों को प्रधान रूप से प्रत्याशा प्रदर्शक के रूप में दिखलाना चाहिए। प्रत्याशा के प्रदर्शन में दोनों बातें होती हैं। कहीं-कहीं सफलता की आशा उद्भूत हो जाती है और कहीं निराशा अपना अधिकार जमा लेती है। कहीं सफलता की आशा में प्रसन्नता होती है, और कहीं विफलता की आशङ्का से खेद होता है। क्रिया-कलाप में कहीं छल का प्रयोग होता है और कहीं विचारधारा में तर्क-वितर्क उपस्थित किये जाते हैं तथा कहीं अनुमान का सहारा लिया जाता है। कहीं साम और

दान का प्रयोग किया जाता है तो कहीं क्रोध का प्रदर्शन होता है और कहीं अभिसंधि से काम लिया जाता है। कहीं क्रोध से काम लिया जाता है तो कहीं शत्रु का भय प्रदर्शित किया जाता है तथा अन्यत्र सम्भ्रम का अभिनय किया जाता है। कहीं प्रत्याशा और उपाय के साथ बीज का भी उल्लेख कर दिया जाता है। इसी आधार इस गर्भ-संधि के १२ भेदों की व्यवस्था की गई है जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। इन अङ्गों में अभूताहरण (छल), मार्ग (उपायों का सच्चा परिचय), तोटक (क्रोध), अधिबल (अभिसन्धान या नम्रता) और आक्षेप (प्रत्याशा और बीज का सम्बन्ध) ये मुख्य हैं। अन्य अङ्गों का जैसा उचित हो वैसा प्रयोग करना चाहिए।

अवमर्श-सन्धि और उनके भेद

अवमर्श सन्धि का लक्षण यह है :—

क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात्।
गर्भनिर्भिन्न बीजार्थ, सोऽवमर्श इति स्मृतः ॥४३॥

[जहाँ पर क्रोध से, व्यसन से अथवा प्रलोभन से जहाँ पर वस्तु तत्व का पर्यालोचन किया जावे और जहाँ पर गर्भ-संधि में उद्भिन्न बीजार्थ का सम्बन्ध दिखलाया जावे उसे अवमर्श-संधि कहते हैं।]

अवमर्श शब्द का अर्थ है पर्यालोचन। गर्भ-संधि में पर्याचन ही प्रधान-रूप से दिखलाया जाता है। यह पर्याचन कहीं तो क्रोध से होता है, कहीं व्यसन से और कहीं प्रलोभन से। नियमानुकूल इस अवमर्श संधि में प्रकरी नामक अर्थ-प्रकृति और नियताप्ति नामक कार्य की अवस्था होनी चाहिए। आशय यह है कि इस संधि की गर्भ-संधि से अपेक्षा बीज का विस्तार अधिक होता है और आवश्यकतानुसार किसी प्रासङ्गिक इतिवृत्त की कल्पना की जाती है जिसे प्रकरी कहते हैं। इस संधि में 'यह कार्य अवश्य सिद्ध हो जावेगा' इस प्रकार का निश्चय अवश्य होता है और यही निश्चय इस विमर्श-संधि का स्वरूप है।

उदाहरण के लिए रत्नावली के चतुर्थ अङ्क में अग्नि के उपद्रव तक वासव-दत्ता के विघ्न दिखलाये गये और अन्त में निर्विघ्न रत्नावली की प्राप्ति का अवसर दिखला दिया गया। इस प्रकार चतुर्थ अङ्क अवमर्श संधि का उदाहरण है।

दूसरा उदाहरण जैसे वेणी-संहार में दुर्योधन के खून से सने हुए भीम-सेन के आगमन तक इसी अवमर्श-संधि का विस्तार है। वहाँ पर कहा गया है :—

तीर्णे भीष्ममहोदधौ कथमपि द्रोणानले निर्वृते ।
कर्णाशीविष भोगिनि प्रशमिते शल्येऽपि याते दिवम् ॥
भीमेन प्रियसाहसेन रभसादल्पावशेषे जये ।
सर्वेजीवित संशयं वयममी वाचा समारोपिताः ॥

'भीष्म पितामह रूपी महासागर पार कर लिया गया; जैसे-तैसे द्रोणाचार्य रूपी आग भी शांत कर दी गई; कर्ण रूपी आशीविष (दाढ़ में विष को धारण करनेवाला) सर्प भी नष्ट कर दिया गया और शल्य भी स्वर्ग को चले गये; थोड़ी ही जय शेष रह गई थी कि साहस को अधिक पसन्द करनेवाले भीमसेन जल्दबाजी में (उसी दिन) दुर्योधन मारने या स्वयं मर जाने की ऐसी प्रतिज्ञा कर ली कि हम सब लोगों को अपने जीवन का सन्देह उत्पन्न हो गया।'

यहाँ पर 'जय थोड़ी ही शेष रह गई थी' इत्यादि कथनों से विजय के विरोध भीष्म पितामह इत्यादि समस्त महारथियों के मारे जाने से निश्चित रूप से विजय प्राप्ति की पर्यालोचना की गई है। अतएव यहाँ पर अवमर्श-संधि है।

अवमर्श-संधि के अङ्ग ये होते हैं :—

तत्रापवाद संफेटौ विद्रवद्रव वशक्तयः ।
द्युतिः प्रसङ्गश्छलनं व्यसायो विरोधनम् ॥४४॥
पुरोचना विचलनभादानं च त्रयोदश ।

[अवमर्श-संधि के अपवाद इत्यादि १३ भेद होते हैं।] इन १३ भेदों की क्रमशः व्याख्या की जा रही है।

(१) अपवाद :—

दोषप्रख्यापवादःस्यात्

[दोषों के कथन करने को अपवाद कहते हैं।]

जैसे रत्नावली में—"सुसङ्गता—'स्वामिनी वासवदत्ता ने उस तपस्विनी सागरिका को यह प्रसिद्ध करके कि वह उसे उज्जयनी ले जावेगी न जाने ले जाकर कहाँ रख दिया।' विदूषक—(उद्वेग के साथ) देवी ने बड़ी ही निर्दयता की बात की।" इसके बाद—"हे मित्र तुम कुछ और न समझो; उस सागरिका को देवी ने उज्जयनी को भेज दिया है; इसीलिए मैंने कह दिया कि अनर्थ हो गया।" राजा—"आश्चर्य है कि देवी को मुझसे जरा भी सहानुभूति नहीं है।" यहाँ पर वासवदत्ता के दोष को प्रगट करने के कारण अपवाद नामक अवमर्श-संधि का अङ्ग है।

दूसरा उदाहरण जैसे वेणी-संहार में--"युधिष्ठिर-'पाञ्चालक ? क्या उस दुरात्मा नीच कौरव (दुर्योधन) का पता पा लिया ?' पाञ्चालक---'केवल पता ही नहीं अपितु देवी के केश-पास के स्पर्शरूप पातक का प्रधान हेतु वह दुरात्मा स्वयं ही पा लिया गया।' यहां पर दुर्योधन के दोषों का प्रख्यापन करने के कारण अवमर्श-संधि का अपवाद नामक अङ्ग है।"

(२) संफेट :—

संफेटो रोष भाषणम्

[रोष भाषण को संफेट कहते हैं।]

जैसे वेणी-संहार में--"तब भीमसेन ने दुर्योधन से कहा--'हे कौरवराज ! बन्धुनाश दर्शन का शोक करने की आवश्यकता नहीं। इस बात का कोई दुःख मत करो कि पाण्डव पर्याप्त संख्या में हैं और मैं असहाय हूँ--'हे दुर्योधन हम पाँचों में जिस किसी से युद्ध करना आसान समझते हो, उसी से कवच पहन-कर और शस्त्र हाथ में लेकर तुम युद्ध कर सकते हो।' यह सुनकर ईर्ष्यापूर्ण दृष्टि भीम और अर्जुन इन दोनों कुमारों पर डालकर दुर्योधन ने कहा--

कर्णं दुश्शासनवधात्तुल्यावेव युवांमम।
अप्रियोऽपि प्रियोयोद्धुं त्वमेव प्रियसाहसः॥

'कर्ण और दुश्शासन के मारने से तुम दोनों मेरे लिए एक जैसे हो। (एक ने कर्ण को मारा है और दूसरे ने दुश्शासन को। अतएव दोनों से मेरी एक जैसी शत्रुता है।)। किन्तु अप्रिय होते हुए भी अधिक साहसी होने के कारण तुम्हीं युद्ध के लिए प्रिय (अभीष्ट) हो।'

यह कहकर उठकर परस्पर क्रोध आक्षेप और कठोर वाक्कलह के साथ दोनों ने युद्ध को विस्तारित कर दिया।

यहाँ पर भीम और दुर्योधन ने एक दूसरे के प्रति दोषपूर्ण संभाषण किया है और उससे विजय रूप बीज का अन्वय हो गया है। अतएव यहाँ पर संफेट नामक अवमर्शाङ्ग है।

(३) विद्रव :—

विद्रवो बधबन्धादिः

[वध और बधन इत्यादि के वर्णन में विद्रव कहा जाता है।]

जैसे छलितराम नामक नाटक में :--

येनावृत्य मुखानि साम पठतामत्यन्तयायासितम्।
वाल्ये येन हृताक्ष सूत्रवलय प्रत्यर्पणैः क्रीडितम्॥

युष्माकं हृदयं स एव विशिखैरापूरितांसस्थलो ।
मूर्छाघोरतमः प्रवेशविवशो वद्ध्वा लवोनीयते ॥

'जिस लव ने मंत्रों का आवर्तन करते हुए साम पढ़नेवालों के मुखों को अत्यन्त आयासित किया; बचपन में जो हरण किये हुए अक्ष-सूत्र बलय इत्यादि के प्रत्यर्पण के द्वारा क्रीड़ा किया करता था; जो तुम लोगों का हृदय है; जिसका अंसस्थल वाणों से भरा हुआ है मूर्छा रूपी घोर अंधकार में प्रवेश करने से विवश हुआ वही लव बाँधकर ले जाया जा रहा है।'

यहाँ पर बन्धन का वर्णन है। अतएव यह विद्रव नाम का अवमर्शाङ्ग कहा जावेगा।

दूसरा उदाहरण जैसे रत्नावली में :--

हर्म्याणां हेमशृङ्गश्रियमिव शिखरै रचिषामादधानः ।
सान्द्रोधान द्रुमाग्रग्लपन पिशुनितात्यन्त तीव्राभितापः ॥
कुर्वन् क्रीड़ा महीध्रं सजलजलधर श्यामलं दृष्टि पातैः ।
एषप्लोषार्त योषिज्जन इहसहसैवोत्थितोऽन्तःपुरेऽग्निः ॥

'इस समय अन्तःपुर में आग उठ रही है; यह लपटों के शिखरों से भवनों को ऐसी शोभा प्रदान कर रही है मानों उनके शृंग सोने से जड़े हुए हों; घने उद्यान वृक्षों के अग्रभाग को जलाने से इसका तीव्र अभिनाप प्रगट हो रहा है; धूम्रपात के द्वारा यह क्रीडा पर्वत को जल-पूर्ण मेघ के आवरण समान श्यामल बना रहा है और इसकी भयानक लपट से स्त्रियों का समूह व्याकुल हो रहा है।'

इसके बाद--'वासवदत्ता हे आर्यपुत्र ! मैं अपने कारण नहीं कह रही हूँ; मैंने निर्दय हृदय होकर सागरिका को बाँध रक्खा है; वह बेचारी यहाँ पर मर रही है।'

यहाँ पर सागरिका का वध बन्धन और अग्निका विद्रव इत्यादि दिखलाया गया है।

(४) द्रव :--

द्रवोगुरुतिरस्कृतिः ॥४५॥

[गुरुओं के तिरस्कार को द्रव कहते हैं।]

जैसे उत्तर रामचरित में लव कह रहे हैं :--

वृद्धास्ते न विचारणीय चरितास्तिष्ठन्तु हुँ वर्तते ।
सुन्दस्त्री दमनेऽप्यखण्ड यशसो लोके महान्ता हिते ॥
यानि त्रीण्यकुतो मुखान्यपि पदान्यासन् खरायोधने ।
यद्वा कौशलमिन्दु शत्रु दमने तत्राप्यभिज्ञो जनः ॥

'वे राम वृद्ध हैं; उनके चरित्र पर विचार ही क्या किया जावे; उनकी बात जाने दीजिए; हाँ यह भी तो है। सुन्द की स्त्री ताड़का का उन्होंने वध किया; स्त्री वध जैसे जघन्य काम करतेहुए भी उनका यश अखण्ड ही बना रहा और लोक में वे महान् ही बने हुए हैं। जो खरदूषण के युद्ध में विचलित होकर उन्होंने तीन कदम पीछे को डाले थे या जो कौशल उन्होंने इन्द्र के शत्रु के दमन में दिखलाया था उनको भी लोग जानते ही हैं।'

यहाँ यह लव ने अपने गुरु राम का तिरस्कार किया है। अतएव यहाँ पर द्रव नामक अवमर्शाङ्ग है।

दूसरा उदाहरण जैसे वेणी-संहार में—युधिष्ठिर ने मुनि का रूप धारण करनेवाले मायावी राक्षस के मुख से यह सुना है कि बलभद्र श्रीकृष्ण को युद्ध-भूमि से हटा ले गये हैं। उस समय युधिष्ठिर कह रहे हैं—'हे भगवन्! कृष्णा-गुज! हे सुभद्रा के भाई!

> ज्ञातिप्रीतिर्मनसि न कृता क्षत्रियाणां न धर्मों,
> रूढं सख्यं तदपि गणितं नानुजस्यार्जुनेन।
> तुल्यः कामं भवतु भवतः शिष्ययोः स्नेह बन्धः,
> कोऽयं पन्थाः यदसि विमुखोमन्दभाग्ये मयीत्थम्॥

'तुम बिरादरी के प्रेम को भी मन में नहीं ले आये; क्षत्रियों के धर्म पर भी विचार नहीं किया, अर्जुन के साथ तुम्हारे छोटे भाई (श्रीकृष्ण) का जो प्रेम बढ़ चुका था उसको भी कुछ नहीं समझा; आपका दोनों शिष्यों के प्रति समान प्रेम होना ही चाहिए; किन्तु यह आपका कौन सा मार्ग है कि मुझ मन्द भाग्य के प्रति आप इस प्रकार विमुख हो गये हैं।'

यहाँ पर युधिष्ठिर ने अपने गुरु बलभद्र का तिरस्कार किया है। अतएव यहाँ पर द्रव नामक अवमर्शाङ्ग है।

(५) शक्ति:—

विरोधशमनं शक्तिः

[विरोध शमन को शक्ति कहते हैं।]

जैसे रत्नावली में राजा कह रहे हैं:—

> सव्याजैः शपथैः प्रियेणवचसा चित्तानुवृत्याधिकम्,
> वैलक्ष्येण परेण पादपतनैः वाक्यैः सखीनां मुहुः।
> प्रत्यासत्तिमुपागता नहि तथा देवीरुदत्या यथा,
> प्रक्षाल्यैव तयैव वाष्प सलिलैः कोपोऽपनीतः यथा॥

'मेरी व्याज से युक्त (झूठी) शपथों से; प्रिय वचनों से, अधिक चित्त का

अनुवर्तन करने से, बहुत अधिक निराशा और दुःख प्रगट करने से, चरणों पर गिरने से, और सखियों के बार बार समझाने से देवी वासवदत्ता उतनी शान्त नहीं हुईं जितना कि रोते हुए स्वयं ही उन्होंने अश्रुजल से धोकर क्रोध को शान्त कर लिया ।'

यहां पर सागरिका के लाभ में विरोध डालनेवाले वासवदत्ता के कोप के शान्त हो जाने से शक्ति नामक अवमर्शाङ्ग है ।

दूसरा उदाहरण जैसे उत्तर राम चरित में लव कह रहे हैं :—

विरोधो विश्रान्तः प्रसरति रसो निर्वृतिघनः,
तदौद्धत्यं क्वापि व्रजति विनयः प्रह्वयति माम् ।
झटित्यस्मिन् दृष्टे किमपि परवानस्मि यदिवा,
महार्घस्तीर्थानामिव हि महतां कोऽप्यतिशयः ॥

'(श्री रामचंद्रजी के दर्शन करते ही) मेरा विरोध शांत हो गया, बहुत अधिक शांति से युक्त रस फैलने लगा, वह उद्दण्डता कहीं चली गई और विनय मेरा अपनी ओर आह्वान करने लगा । इनको देखते ही मैं कुछ पराधीन सा हो गया हूँ, महापुरुषों का महत्त्व निस्सन्देह तीर्थों के समान बहुमूल्य होता है ।'

यहाँ पर लव के विरोध शांत हो जाने से शक्ति नामक अवमर्शाङ्ग है ।

(६) द्युति :—

तर्जनोद्वेजने द्युतिः

[तर्जन और उद्वेजन के वर्णन करने में द्युति होती है ।]

जैसे वेणी-संहार में पञ्चालक युधिष्ठिर से कह रहा है—'भगवान् वासुदेव के वचनों को सुनकर कुमार भीमसेन ने उस सरोवर को आलोडित कर दिया जिससे उस सरोवर का जल सम्पूर्ण दिशाओं और निकुञ्जों को भर कर बह चला; उसमें भरे हुये सम्पूर्ण जलचर उद्भ्रान्त हो गये और त्रास से घड़ियाल व्यग्र हो गये तब भीमसेन ने भयानक गर्जन के साथ कहा :—

जन्मेन्दोरमले कुले व्यपदिशस्यद्यापि धत्से गदाम्,
मां दुश्शासन कोष्ण शोणित सुराक्षीवं रिपुं भाषसे ।
दर्पान्धो मधुकैटभद्विषि हरावप्युद्धतं चेष्टसे,
मत्त्रासान्नृपशोविहा समरं पङ्केऽधुनालीय से ॥

'तुम अपना जन्म निर्मल चन्द्रवंश में बतलाते हो; आज भी गदा धारण किये हुये हो; मुझे दुश्शासन के कुछ उष्ण रक्त रूपी मदिरा से मत्तशत्रु कहते हो; अभिमान में इतने अन्धे हो गये हो कि मधुकैटभ का संहार करनेवाले

भगवान के प्रति उद्धत आचरण करते हो। किन्तु फिर भी इस प्रकार हे नर पशु ! मेरे भय से युद्ध को छोड़कर कीचड़ में छिप रहे हो।'

यहाँ से लेकर 'जल को छोड़कर एकदम उठ खड़ा हो गया।' यहाँ तक भीमसेन के दुर्वचन और जलावलोडन का वर्णन किया गया है। ये दोनों बातें दुर्योधन का तर्जित और उद्वेजित करनेवाली है और ये पांडवों के विजय के अनुकूल दुर्योधन को उठानेवाली हैं। अतएव यहाँ पर भीमसेन की द्युति का वर्णन किया गया है।

(७) प्रसङ्ग :—

गुरुकीर्तनं प्रसङ्गः

[माता-पिता इत्यादि गुरुओं के कीर्तन को (उल्लेख) को प्रसङ्ग कहते हैं।]

जैसे रत्नावली में—वसुभूति कह रहे हैं—'हे देव ! सिंहल के स्वामी ने वासवदत्ता को जली हुई सुनकर अपनी रत्नावली नाम की आयुष्मती पुत्री को प्रदान कर दिया जिसकी पहले प्रार्थना की गई थी।'

यहाँ पर उच्चवंश को प्रकाशित करने के लिये प्रसङ्गवश गुरु (सिंहेलेश्वर) का कीर्तन किया गया है जो कि रत्नावली समागम का साधक है। अतएव यहाँ पर प्रसङ्ग नामक अवमर्शाङ्ग है।

दूसरा उदाहरण जैसे मृच्छकटिक में—'चाण्डालक—यह सागरदत्त का पुत्र आर्य विनयदत्त का पौत्र चारुदत्त मारे जाने के लिये वध्यस्थान पर ले जाया जा रहा है; कहा जाता है सुवर्ण के लोभ से इसने वसन्त सेना नाम की गणिका को मार डाला।' इस पर चारुदत्त कह रहे हैं :—

भरवशत परिपूतं गोत्रमुद्भासितं यत्,
सदसि निविड़ चैत्य ब्रह्मघोषैः पुरस्तात्।
मय निधनदशायां वर्तमानस्य पापैः,
तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम्॥

'पुराने समय में मेरा वंश सैकड़ों यज्ञों से पूर्ण रूप से पवित्र हो गया था और सभा में घने तथा बहुसंख्यक चैत्यों के वेद मन्त्रों के शब्दों से वह मेरा वंश पूर्ण रूप से प्रकाशित हो रहा था। आज जब मैं मृत्यु की दशा में वर्तमान हूँ तब ये पापी अयोग्य मनुष्य मेरे उसी वंश के घोषण में घोषित कर रहे हैं।'

यहाँ पर चारुदत्त के वध-रूप अभ्युदय के अनुकूल प्रसङ्गवश गुरु कीर्तन किया गया है। अतएव यहाँ पर प्रसङ्ग नामक अवमर्शाङ्ग है।

(८) छलन :—

छलनं चावमानम् ॥४७॥

[अवमान (तिरस्कार) को छलन कहते हैं।]

जैसे रत्नावली में—'राजा—आश्चर्य है कि देवी मेरे विषय में बिल्कुल सहानुभूति रहित है।" यहाँ पर वासवदत्ता सागरिका को अन्यत्र भेज चुकी है इस प्रकार उसने राजा की मनोरथ सिद्धि में विघ्न डाला है इस प्रकार राजा को छलने के कारण यहाँ पर छलन नामक अवमर्शाङ्ग है।

दूसरा उदाहरण जैसे रामाभ्युदय में सीता परित्याग से अपमान होने के कारण छलन है।

(९) व्यवसाय :—

व्यवसायः स्वशक्त्युक्तिः

[अपनी शक्ति के वर्णन करने को व्यवसाय कहते हैं।]

जैसे रत्नावली में इन्द्रजालिक कह रहा है :—

'किं धरणी एमिअङ्को आआ से महिहरो जले जलणो।
मज्झिम्हणह पओसो दाविज्जउ देहि आणत्तिम् ॥,
(किं धरण्याम् मृगाङ्क आकाशे महीधरोजले ज्वलनः।
मध्याह्ने प्रदोषो दर्श्यतां देह्याज्ञप्तिम् ॥)

'आज्ञा दीजिये क्या पृथ्वी पर मैं चन्द्र दिखाला दूँ, आकाश में पर्वत, दिखाला दूँ, जल में आग दिखला दूँ अथवा मध्याह्न में सन्ध्या दिखला दूँ!'

अथवा बहुत कहने की क्या आवश्यकता?

'मज्झ पइण्णा एसा भणामि हिअएण जं महीस दट्ठुम्।
तं ते दावेमि फुडं गुरुणो मन्तपहावेण ॥'
(मम प्रतिज्ञैषा भणामि हृदयेन यद्वाञ्छसिद्रष्टुम्।
तत्ते दर्शयामि स्फुटं गुरोर्मन्त्र प्रभावेण।)

'मेरी प्रतिज्ञा यही है, मैं हृदय से कहता हूँ जो तुम देखना चाहते हो वह मैं गुरु जी के मन्त्र के प्रभाव से स्पष्टरूप में दिखला सकता हूँ।'

यहाँ पर ऐन्द्रजालिक ने अग्नि के मिथ्या सम्भ्रम को उठाकर वत्सराज के हृदय में स्थित सागरिका के दर्शन के अनुकूल अपनी शक्ति का आविष्कार किया है। अतएव यहाँ पर व्यवसाय नामक अवमर्शाङ्ग है।

दूसरा उदाहरण जैसे वेणी-संहार में युधिष्ठिर कह रहे हैं :—

नूनं तेनाद्य वीरेण प्रतिज्ञानङ्गभीरुणा।
बध्यते केश पाशसे सचास्पाकर्षणोद्यमः ॥

'निस्सन्देह प्रतिज्ञा भङ्ग से डरनेवाला वह वीर भीम आज तुम्हारे केशपाश को बाँधेगा और इस केश के खींचने में उस कारण दुर्योधन को मारेगा।'

यहाँ पर युधिष्ठिर ने अपनी दण्ड शक्ति का आविष्कार किया है। अतएव यहाँ पर व्यवसाय नामक अवमर्शाङ्ग है।

(१०) विरोधन :—

संरब्धानां विरोधनम्

[क्रोध में भरे हुये लोगों का अपनी शक्ति को वर्णन करना विरोधन कहलाता है।]

आशय यह है कि यदि वक्ता में क्रोध न हो, केवल अपनी शक्ति का ही प्रदर्शन कर रहा हो तो व्यवसाय होता है और यदि क्रोध भी सम्मिलित हो तो विरोधन होता है।

जैसे वेणी संहार में वट-वृक्ष की छाया में विद्यमान धृतराष्ट्र को दुर्योधन के समक्ष भीम और अर्जुन ने अपने-अपने पराक्रम का बखान करते हुए प्रणाम किया है। इस पर दुर्योधन कह रहा है—'अरे रे वायु-पुत्र वृद्ध राजा के सामने अपने निन्दनीय कर्मों की क्या प्रशंसा कर रहे हो। सुनो :—

कृष्टा केशेषु भार्या तव तव च पशोस्तस्य राज्ञस्तयोर्वा,
प्रत्यक्षं भूपतीनां मम भुवनपते राज्ञया द्यूतदासी।
अस्मिन् वैरानुवन्धे वद किमपकृतं तैर्हता ये नरेन्द्राः,
वाह्वोर्वीर्यातिरेकद्रविणगुरुमदंमामजित्वैव दर्पः॥

'तुझ नर-पशु (भीम) के सामने, तेरे (अर्जुन) सामने, उस राजा (युधिष्ठिर) के सामने उन दोनों (नकुल और सहदेव) के सामने और समस्त राजाओं के सामने भुवनों के स्वामी मैंने अपनी आज्ञा से तुम्हारी पत्नी को जुए में दासी बनाकर बाल पकड़कर खिंचवाया था। इस वैरानुबन्ध में बतलाओ उन लोगों ने क्या अपकार किया था जिनको तुमने मार डाला? बाहु के वीर्यातिरेक का महान् अभिमान रखनेवाले मुझे बिना ही जीते हुए यह क्या अभिमान कर रहा है?' (भीम क्रोध का अभिनय करते हैं।) अर्जुन—'आर्य! प्रसन्न हो, क्रोध करने की आवश्यकता नहीं।

अप्रियाणि करोत्येष वाचा शक्तोन कर्मणा।
हतभ्रातृशतो दुःखी प्रलापैरस्प का व्यथा॥

'यह वाणी से अपकार कर रहे हैं; कर्म से अपकार करने की इनमें शक्ति ही नहीं है। इनके सौ भाई मारे गये हैं; ये दुखी हैं; इनके बकने से क्या व्यथा हो सकती है?'

भीमसेन--"अरे भरतकुल कलङ्क ?

अत्रैव किंन विशसेयमहं भवन्तं,

दुश्शासनानुगमनाय कटु प्रलापिन्।

विघ्नं गुरुर्नकुरुते यदि मत्कराग्र,

निर्भिद्यमान रणिता स्थिनि ते शरीरे ॥

'हे कटुभाषी ! मैं दुश्शासन के पीछे जाने के लिए तुम्हें यहीं क्यों न मार डालता यदि मेरे हाथ के अग्रभाग से टूटनेवाली हड्डियों के चरचराहट से युक्त शरीर के विषय में गुरु विघ्न न डाल देते।' और भी सुन मूर्ख !

शोकंस्त्रीवन्नयन सलिलैर्यत्परित्याजितोऽसि,

भ्रातुर्वक्षस्थलविदलने यच्च साक्षीकृतोऽसि।

आसीदेतत्तव कुनृपतेः कारणं जीवितस्य,

क्रुद्धे युष्मत्कुल कमलिनी कुञ्जरे भीमसेने ॥

'तुम्हारे कुलरूप कमलिनी के लिए हाथी के समान नष्ट करनेवाले भीम के कुपित होने पर भी जो तुम अब तक जीवनधारण किये रहे उसमें एकमात्र यही कारण था कि स्त्रियों के समान नेत्रों के आसुओं से तुमसे शोक छुड़वाया गया और भाई दुश्शासन के वक्षस्थल के विदीर्ण करने के अवसर पर तुम साक्षी बनाये गये। (आशय यह है कि यदि मैं तुम्हें पहले ही मार डालता तो न तो तुम आँसू ही बहाते और न भाई के वक्षस्थल का विदलन ही देख पाते। अब ये दोनों काम हो चुके हैं; अब मैं तुम्हें अवश्य मार डालूँगा।)

दुर्योधन—रे दुरात्मन्, नीच भरतवंशी, पाण्डव पशु ? मैं तेरे समान बढ़-चढ़कर बातें मारने में निपुण नहीं हूँ। किन्तु :--

द्रक्ष्यन्ति न चिरात्सुप्तं बान्धवास्त्वां रणाजिरे।

मद्गदाभिन्न वक्षोऽस्थिवेणिका भङ्गभीषणम् ॥

'अति शीघ्र तुम्हारे बान्धव तुम्हें रणाङ्गण में सोता हुआ देखेंगे जब हमारी गदा से टूटी हुई छाती की हड्डी से निकलनेवाले प्रवाह के कारण तुम्हारी आकृति बड़ी भयानक मालूम पड़ रही होगी।'

यहां पर भीम और दुर्योधन परस्पर क्रोध में भरकर अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर रहे हैं। अतएव यहां पर विरोधन नामक अवमर्शाङ्ग है।

(११, प्ररोचना :--

सिद्धामन्त्रणतोभाविदर्शिका स्यात्प्ररोचना।

[किसी सिद्धपुरुष के 'कार्य सिद्ध हो जावेगा' यह कह देने से जिससे भावी-कार्य का सिद्धि के रूप में प्रदर्शन होता है उसे पुरोचना कहते हैं।]

जैसे वेणी-संहार में —"पाञ्चालक —मुझे देवचक्रपाणि ने आपके पास भेज दिया है।" इस उपक्रम के साथ :—

पूर्यन्तांसलिलेनरत्नकलशाः राज्याभिषेकाय ते।
कृष्णात्यन्तचिरोज्झिते च कवरीवन्धे केरातुत्क्षणम् ॥
रामेशातकुठार भासुरकरे क्षत्रद्रुमोच्छेदिनि।
क्रोधान्धे च वृकोदरे परिपतत्याजौ कुतः संशयः ॥

'तुम्हारे राज्याभिषेक के लिए रत्नों के कलश-जल से परिपूर्ण कर दिये जावें; कृष्णा बहुत दिनों से खोले हुए अपने कवरीबन्ध के विषय में उत्सव मनावे। तीक्ष्ण कुठार से प्रकाशित हाथोंवाले क्षत्रिय-रूपी वृक्षों का उच्छेदन करनेवाले परशुराम के और क्रोध से अन्धे होकर भीमसेन के युद्ध में उतर पड़ने पर किसे सन्देह हो सकता है।'

यहां से लेकर--'देव युधिष्ठिर मङ्गल करने की आज्ञा दे रहे हैं।' यहां तक भगवान् कृष्ण के आमन्त्रण से द्रौपदी के केश संयमन और युधिष्ठिर के राज्याभिषेक को सिद्ध रूप में वर्णन किया है यद्यपि वे सिद्ध भविष्य में होंगे। इस प्रकार यहां पर पुरोचना नामक अवमर्शाङ्ग है।

(१२) विचलन :—

विकत्थना विचलनम्

[बढ़-बढ़कर बातें मारने में विचलन कहा जाता है।]

जैसे वेणी-संहार में अर्जुन धृतराष्ट्र और गान्धारी से कह रहे हैं—हे पिता जी और हे माता जी ?

सकलरिपुजयाशायत्र वद्धा सुतैस्ते,
तृणमिव परिभूतो यस्यगर्वेणलोकः।
रणशिरसि निहन्तातस्य राधा सुतस्य,
प्रणमतिपितरौ वांमध्यमः पाण्वोऽयम् ॥

'आपके पुत्रों ने जिस पर अपनी सारी शत्रु विजय की आशा बांध रक्खी थी और जिसने अपने गर्व से सारे संसार का तिनके के समान तिरस्कार कर दिया था; उस राधा पुत्र कर्ण को युद्ध-भूमि में मारनेवाला यह मझला पाण्डव (अर्जुन) आप दोनों को प्रणाम कर रहा है।'

इसके बाद भीमसेन कहते हैं :—

चूर्णिताशेष कौप्ययः क्षीवो दुश्शसनासृजा।
भङ्क्ता सुयोधनस्योर्वोर्भीमोऽयंशिरसाञ्चति ॥

'जिसने सारे कौरव वंश को चूर्ण किया है और जो दुश्शासन के खून से पागल हो रहा है तथा जो भविष्य में दुर्योधन की जङ्घाओं को तोड़नेवाला है वह भीम आपको सर से प्रणाम कर रहा है।'

यहां पर विजय रूप वीज का अनुसरण करते हुये अपने गुणों का आविष्कार किया गया है। अतएव यहां पर विचलन नामक अवमर्शाङ्ग है।

दूसरा उदाहरण जैसे रत्नावली में यौगन्धरायण कह रहे हैं :—

देव्यामद्वचनाद्यथाभ्युपगतः पत्यु र्वियोगस्तदा।
सादेवस्य कलत्र सङ्घटनया दुःखंमया स्थापिता॥
तस्याः प्रीतिमयं करिष्यति जगत्स्वामित्व लाभः प्रभोः।
सत्यं दर्शयितुं तथापि वदनं शक्रोभिनो लज्जया॥

'उस समय देवी वासवदत्ता ने मेरे कहने से पति से वियुक्त होकर रहना स्वीकार कर लिया था; मैंने स्वामी का दूसरी पत्नी से सम्बंध कराकर उस देवी को दुःख में स्थापित कर दिया। पति की जगत्स्वामित्व प्राप्ति उस देवी को आनन्दित करेगी। किन्तु फिर भी सचमुच लज्जावश मैं अपना मुख नहीं दिखला सकता।'

यहां पर यद्यपि यौगन्धरायण ने दूसरी बात कही है किन्तु उससे यह व्यञ्जना अवश्य निकलती है कि—"मैंने वत्सराज के लिये ऐसी कन्या की प्राप्ति करा दी जिसका फल जगत्स्वामित्व को प्राप्त है। इस प्रकार यहां पर स्वगुण कीर्तन करने के कारण विचलन नामक अवमर्शाङ्ग है।

(१३) आदान :—

आदानं कार्य संग्रहः

[कार्य संग्रह को आदान कहते हैं।]

जैसे वेणी-संहार में दुर्योधन का वध करके लौटे हुये रक्तरञ्जित भीमसेन अपने समस्त सैनिकों और सम्बंधियों को सम्बोधित करके कह रहे हैं :—

रक्षो नाहं न भूतो रिपुरुधिरजलाप्लाविताङ्गः प्रकामं,
निस्तीर्णोरु प्रतिज्ञाजलनिधिगहनः क्रोधनःक्षत्रियोस्मि।
भो भोराजन्य वीराः समरशिखिशिखा दग्ध शेषाःकृतंव,
स्त्रसेनानेन लीनैर्हतकरि तुरगान्तर्हितैरास्पतेयत्॥

'न मैं राक्षस हूँ न भूत-प्रेत हूँ, मैं भलीभांति शत्रु के रुधिर रूपी जल से अङ्गों में आप्लावित हो रहा हूँ। मैं भीषण प्रतिज्ञा रूपी गहन समुद्र को पार किये हुये एक क्रोधी क्षत्रिय हूँ। युद्ध रूपी अग्नि की शिखा से दग्ध होने से

बचे हुये वीर राजा लोगो ! आपको इस प्रकार डरने की आवश्यकता नहीं है जो कि मरे हुये हाथी और घोड़ों के पीछे तुम लोग छिप रहे हो ।'

यहाँ पर समस्त शत्रुओं के वध का उपसंहार कर देने से आदान नामक अवमर्शाङ्ग है ।

दूसरा उदाहरण जैसे रत्नावली में--'सागरिका-- दिशाओं की ओर देखकर) सौभाग्य से चारों ओर से जलते हुये भगवान् 'अग्निदेव हमारे दुःख का अन्त कर देंगे।' यहाँ पर यद्यपि आशय तो दूसरा है (अर्थात् जलकर मर जाने पर दुःख से छुटकारे की बात कही गई है) किन्तु फिर भी राजा के समागम के द्वारा दुःख के अवसान की ओर सङ्केत अवश्य मिलता है। अथवा जैसे अभी यौगन्धरायण के शब्दों का उल्लेख करके कहा गया है कि—'पति को जगत्स्वामित्व की प्राप्ति होगी।' इस प्रकार यहाँ पर उपसंहार होने के कारण आदान नामक अवमर्शाङ्ग है।

यहाँ तक अवमर्श सन्धि के १३ अङ्गों की व्याख्या की जा चुकी। पहले बतलाया जा चुका है कि इस अवमर्श सन्धि में नियताप्ति परिलक्षित होने लगती है! धीरे-धीरे कथा-वस्तु सुलझने लगती है और उपाय सफलता की ओर अग्रसर होता हुआ प्रतीत होता है। गर्भ-सन्धि में जो कार्यकलाप सम्पन्न होते हैं उससे विरोधी पक्ष के दोषों का अनुभव होने लगता है। इससे उन दोषों का कथन करना क्रोध-पूर्ण उक्ति, वधबन्धन इत्यादि, गुरुओं का तिरस्कार तर्जन उद्वेजन, अपमान, उत्तेजना ये सब बातें इस अवमर्श सन्धि में प्रधानरूप से होती हैं। कहीं-कहीं नायक पक्ष के लोग बढ़-बढ़कर बातें मारते हैं और उससे शत्रु-पक्ष को उत्पीड़ित करते हैं। कभी-कभी कार्य सफलता के लिये कोमलता का भी आश्रय लिया जाता है और कहीं-कहीं कार्यसिद्धि के लिये गुरुओं का उल्लेख भी किया जाता है। इसी आधार पर इस सन्धि के १३ अङ्ग बतलाये गये हैं। इनमें अपवाद (दोष प्रदर्शन), शक्ति (विरोध शमन), व्यवसाय (अपनी शक्ति का वर्णन), प्ररोचना (भविष्य की ओर सङ्केत), और आदान (उपसंहार) ये अङ्ग मुख्य हैं। दूसरे अङ्गों का प्रयोग औचित्य को विचार कर करना चाहिये।

निर्वहण सन्धि और उसके भेद

निर्वहण सन्धि का लक्षण यह है :—

> वीजवन्तो मुखाद्यर्थाः विप्रकीर्णाः यथायथम् ॥४८॥
> ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हितत् ।

[जहां पर बीज से सम्बन्ध रखनेवाले मुखसन्धि इत्यादि स्थान-स्थान पर

बिखरे हुये अर्थ एकार्थता को प्राप्त कर दिये जाते हैं अर्थात् एक प्रयोजन की सिद्धि के लिये समेट लिये जाते हैं तब उसे निर्वहण सन्धि कहते हैं ।]

निर्वहण सन्धि अन्तिम संधि है । इसमें बीज का परिणमन फल के रूप में होता है । इसीलिए कार्यावस्थाओं में फलागम और अर्थप्रकृतियों में कार्य (फल) के संयोग से निर्वहण संधि का आविर्भाव बतलाया गया है । दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि निर्वहण संधि पूरे नाटक का उपसंहार होती है । समस्त अर्थ जो कि विभिन्न प्रयोजनों से इधर-उधर बिखर जाते हैं इस निर्वहण संधि में आकर उपसंहृत होकर वास्तविक फल के सिद्ध करने में योगदान करते हैं ।

उदाहरण के लिये वेणी-संहार में जब इस बात का निर्णय हो जाता है कि दुर्योधन के द्वारा भीम और अर्जुन की मारे जाने की कथा कल्पित थी; इसके प्रतिकूल भीमसेन ने ही दुर्योधन को मार डाला है —कञ्चुकी युधिष्ठिर के पास जाकर कहता है—'महाराज आप विजयी हो गये हैं; आपकी वृद्धि हो रही है; निस्सन्देह यह कुमार भीमसेन हैं जिनको आप इसलिये नहीं पहचान सकते हैं कि इनका सारा शरीर दुर्योधन के रक्त से लाल हो गया है ।' यहाँ से लेकर द्रौपदी के केश संयमन इत्यादि बीजों को जो कि मुख संधि इत्यादि में अपने-अपने स्थानों पर बिखरे हुये हैं, एक ही प्रयोजन संयुक्त कर दिया गया है । अतएव यहां से निर्वहण संधि का प्रारम्भ है ।

दूसरा उदाहरण जैसे रत्नावली में सागरिका, रत्नावली, वसुभूति, वाभ्रव्य इत्यादि मुख संधि इत्यादि में प्रकीर्ण अङ्गों का वत्सराज की कार्यसिद्धि के लिये उपसंहार किया गया है । 'वसुभूति—(सागरिका को ध्यानपूर्वक देखकर एकान्त में) वाभ्रव्य ! यह तो राजपुत्री रत्नावली के बिल्कुल समान ज्ञात हो रही है ।' यहाँ से निर्वहण संधि का प्रारम्भ होता है ।

निर्वहण संधि के निम्नलिखित १४ अंग होते हैं :—

सन्धिर्विबोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम् ॥४६॥
प्रसादानन्द समयाः कृतिभाषोपगूहनाः ।
पूर्वभावोपसंहारौ प्रशस्तिश्च चतुर्दश ॥५०॥

[निर्वहण संधि के संधि इत्यादि १४ अंग होते हैं ।]

इन्हीं अंगों की क्रमशः व्याख्या की जा रही है :—

(१) सन्धि :—

सन्धिर्बीजोपगमनम्

[बीज के उपगमन या प्राप्ति को संधि कहते हैं ।]

जैसे रत्नावली में—'वसुभूति—वाभ्रव्य ! यह बिल्कुल ही राजपुत्री रत्ना-

वली के समान प्रतीत हो रही है।' बाभ्रव्य—'मुझे भी ऐसा ही मालूम पड़ रहा है।' यहाँ तक रत्नावली सागरिका के रूप में गुप्त रही है। किन्तु उपर्युक्त शब्दों से रत्नावली का उपगमन हो गया है। इस प्रकार बीज की प्राप्ति हो जाने से यहाँ पर संधि नामक निर्वहणाङ्ग है।

दूसरा उदाहरण जैसे वेणी-संहार में भीमसेन कह रहे हैं—'श्रीमती यज्ञ वेदिसम्भवे द्रौपदी ! क्या तुम्हें वह याद है जो मैंने कहा था :—

चञ्चद्भुजभ्रमित चंडगदाभिघात,
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्ध घन शोणि शोणपाणि,
रुत्तंस यिष्यति कचांस्तव देवि भीमः॥

'चञ्चल भुजदण्डों के द्वारा घुमाई हुई प्रचण्ड गदा के अभिघात से सुयोधन की दोनों उरुओं को चूर्ण करके गीले और गाढ़े खून से सने हुए लाल हाथों वाला यह भीम तुम्हारे केशों को बाँधेगा।'

यहाँ उस बीज का पुनः उपगमन हुआ है जिसका मुख-संधि में उपक्षेप किया था। अतएव यहाँ पर संधि नामक निर्वहणाङ्ग है।

(२) विवोध :—

विवोधः कार्यमार्गणम्

[कार्य (फल) के अन्वेषण को विवोध कहते हैं।]

जैसे रत्नावली में—"वसुभूति—(ध्यान से देखकर) देव यह कन्या कहाँ से आई है ?" राजा—'देवी जानती हैं।' वासवदत्ता—'आर्यपुत्र ! यह सागर से प्राप्त हुई है, यह कहकर अमात्य यौगन्धरायण ने मेरे पास रख दिया था। इसीलिए इसे सागरिका कहते हैं।' राजा—(मन में) अमात्य यौगन्धरायण ने रख दिया था ? मुझे बिना बतलाये यह ऐसा क्यों करेगा ?'

यहाँ पर रत्नावली रूप फल का अन्वेषण किया गया है। अतएव विवोध नामक निर्वहणाङ्ग है।

दूसरा उदाहरण जैसे वेणी-संहार में—"भीम—छोड़ दें छोड़ दें आर्य मुझे एक क्षण के लिए।" युधिष्ठिर—'अब और क्या शेष रह गया ?' भीम—'बहुत अधिक शेष रह गया। इस दुर्योधन के रक्त से भीगे हुए हाथ से पाञ्चाली के दुश्शासन के द्वारा खींचे हुए केश हस्त को बाँध दूँ।' युधिष्ठिर—'तो तुम जाओ। वह तपस्विनी वेणी-संहार का अनुभव करे।' यहां पर केश संयमन रूप कार्य (फल) के अन्वेषण से विवोध नामक निर्वहणाङ्ग है।

(३) ग्रथन :—

ग्रथनं तदुपक्षेपः

[उस फल के उपक्षेप को ग्रथन कहते हैं ।]

जैसे रत्नावली में—'यौगन्धरायण—हे देव! क्षमा कीजिए जो देव से बिना बूझे यह सब किया ।' यहाँ पर वत्सराज के लिए रत्नावली की प्राप्ति रूप कार्य का उपक्षेप किया गया है। अतएव यहाँ पर ग्रथन नामक निर्वहणाङ्क है।

दूसरा उदाहरण जैसे वेणी-संहार में—"भीम—हे पाञ्चालि! मेरे जीवित रहते हुए तुमको दुश्शासन से छिटकी हुई अपनी वेणी अपने ही हाथों से नहीं गूँथनी चाहिए। ठहरो-ठहरो! स्वयं मैं ही गूँथे देता हूँ।"

यहाँ पर द्रौपदी केशसंयमन रूप कार्य का उपक्षेप किया गया है। अतएव ग्रथन नामक निर्वहणाङ्क है।

(४) निर्णय :—

अनुभूताख्या तु निर्णयः ॥५१॥

[अनुभव के वर्णन को निर्णय कहते हैं।]

जैसे रत्नावली में—"यौगन्धरायण—(हाथ जोड़कर) यह सिंहलेश्वर की पुत्री है। सिद्धों आदेश से इसके विषय में कहा गया था कि जो इसका पाणि-ग्रहण करेगा वह सार्वभौम राजा होगा। उनके विश्वास से हमारे द्वारा आपके लिए बहुत अधिक प्रार्थना किये जाने पर भी सिंहलेश्वर ने देवी वासवदत्ता के चित्त खेद को बचाने के लिए जब अपनी पुत्री आपको देने की इच्छा नहीं की तब लावाणक में देवी वासवदत्ता जलकर मर गई है यह प्रसिद्ध करके वाभ्रव्य को मैंने उनके पास भेजा था।"

यहाँ पर यौगन्धरायण ने स्वानुभूत अर्थ का वर्णन किया है अतएव यहाँ पर निर्णय नामक निर्वहणाङ्क है।

दूसरा उदाहरण जैसे वेणी-संहार में "भीम—हे देव! देव! अजातशत्रु! अब आज वह नष्ट दुर्योधन कहाँ हैं? मैंने उस दुरात्मा की यह दशा कर डाली है :—

भूमौ क्षिप्तं शरीरं निहितमिदमसृक्चन्दनाभं निजाङ्गे,
लक्ष्मीरार्ये निषिक्ता चतुरु दधिपयः सीमया सार्धमुर्व्या।
भृत्या मित्राणि योधाः कुरुकुलमखिलं दग्धमेतद्रणाग्नौ,
नामैकं यद्ब्रवीषि क्षितिय तदधुना धार्तराष्ट्रस्यशेषम्॥

'मैंने पृथ्वी पर उसका शरीर डाल दिया; अपने अंग में उसका खून चन्दन की भांति मला, आर्य (आप) के ऊपर चारों समुद्रों के जल की सीमावाली पृथ्वी के साथ लक्ष्मी स्थापित की; भृत्य, मित्र, सैनिक और अधिक क्या समस्त

कुरुवंश युद्धरूपी अग्नि में जला डाला। अब धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन का जो तुम नाम ले रहे हो वह नाम ही केवल शेष रह गया है।'

यहाँ पर अपने अनुभूत अर्थ का कथन करने के कारण निर्णय नामक निर्वहणाङ्ग है।

(५) परिभाषण :—

परिभाषा मिथोजल्पः

[आपस की बातचीत को परिभाषण कहते हैं।]

जैसे रत्नावली में—"रत्नावली—(मन में) देवी का मैंने अपराध किया है। अतएव मैं मुँह दिखाने में समर्थ नहीं हूँ।" वासवदत्ता—(आँसू भरकर बाहुओं को फैलाती हुई) 'हे कठोर हृदयवाली! इधर आओ, अब भी मातृ-प्रेम दिखलाओ।' (एकान्त में) 'आर्यपुत्र! मुझे अपनी इस क्रूरता के कारण लज्जा आ रही है अतएव जल्दी ही इसके बन्धनों को खोल दो।' राजा—'जैसी देवी की सम्मति।' (बन्धन खोलता है।) वासवदत्ता—(वसुभूति को सम्बोधित करके) 'आर्य! अमात्य यौगन्धरायण ने मुझे बहुत दुर्जन बना दिया जो जानते हुए भी मुझे नहीं बतलाया।'

यहाँ पर एक दूसरे का वार्तालाप कराया गया है। अतएव परिभाषण नाम का अङ्ग है।

दूसरा उदाहरण जैसे वेणी-संहार में—'भीम—जिस नर-पशु दुष्ट दुश्शासन ने तुम्हारे बाल पकड़कर खींचे थे।' यहाँ से लेकर 'वह भानुमती कहाँ है जो पांडवों की पत्नी का उपहास किया करती थी' यहाँ तक परस्पर वार्तालाप दिखलाया गया है। अतएव यहाँ पर परिभाषण नामक निर्वहणाङ्ग है।

(६) प्रसाद :—

प्रसादः पर्युपासनम्

जैसे रत्नावली में—'देव! क्षमा कीजिये।' इत्यादि दिखलाया गया है। इससे राजा की आराधना की गई है। अतएव प्रसाद नामक निर्वहणाङ्ग है।

दूसरा उदाहरण जैसे वेणी-संहार में—'भीम—(द्रौपदी के निकट जाकर) हे देवि पाञ्चालराजपुत्रि! रिपुकुल के विनाश से सौभाग्य से तुम वृद्धि को प्राप्त हो रही हो।' यहाँ पर भीमसेन ने द्रौपदी की आराधना की है। अतएव प्रसाद नामक निर्वहणाङ्ग है।

(७) आनन्द :--

आनन्दो वाञ्छितावाप्तिः

[अभीष्ट की प्राप्ति में आनन्द कहा जाता है ।]

जैसे रत्नावली में--'राजा--जैसी देवी की आज्ञा ।' (रत्नावली को स्वीकार करता है ।')

यहाँ पर प्रार्थित रत्नावली को राजा ने प्राप्त कर लिया है । अतएव यहाँ पर आनन्द नामक निर्वहणाङ्ग है ।

दूसरा उदाहरण जैसे रत्नावली में--'द्रौपदी--नाथ मैं इस कार्य को भूल गई हूँ । आपकी कृपा से फिर सीख लूँगी ।'

यहाँ पर द्रौपदी जिस केश संयमन की आकांक्षा रखती थीं उसी को प्राप्त कर लिया है । अतएव यहाँ पर आनन्द नामक निर्वहणाङ्ग है ।

(८) समय :—

समयो दुःख निर्गमः ॥५२॥

[दुःख से छुटकारा पा जाने को समय कहते हैं ।]

जैसे रत्नावली में--"वासवदत्ता--(रत्नावली को भेंट कर) बहन ! धीरज धरो, धीरज धरो ।' यहाँ पर दोनों बहनों के परस्पर आलिङ्गन से दुःख का निर्गम हो गया है । अतएव समय नामक निर्वहणाङ्ग है ।

दूसरा उदाहरण जैसे वेणी-संहार में--"भगवान् ! जिसके मङ्गलों की आशंसा करनेवाले पुराणपुरुष भगवान् नारायण स्वयं हों उसको विजय के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त ही कैसे हो सकता है ?

कृतगुरुमहदादिक्षोभसम्भूतमूर्तिं
गुणिनमुदयनाश स्थानहेतुं प्रजानाम् ।
अजयमरमचिन्त्यं चिन्त यित्वा दिनत्वां
भवति जगति दुःखी किं पुनर्देव दृष्ट्वा ॥

'गुरु (पञ्चतत्व) और महत्तत्व इत्यादि के परिणाम से मूर्तजगत् की रचना करनेवाले (अथवा जिसका स्वरूप पञ्चतत्व और महत्तत्व के परिणाम से काल्पनिक रूप में उत्पन्न हुआ है ।) सत्व, रज, तम इन तीनों गुणोंवाले प्रजाओं के उदय, नाश और स्थिति में कारण, अज, अमर और अचिन्त्य आपका ध्यान धर कर भी कोई संसार में दुःखी नहीं होता है । फिर साक्षात् आपके दर्शन करने पर तो कहना ही क्या है ?

यहाँ पर युधिष्ठिर के दुःख के अपगम हो जाने से समय नामक निर्वहणाङ्ग है ।

(६) कृति :—

कृतिर्लब्धार्थ शमनम्

[प्राप्त अर्थ का उपशम या स्थिरीकरण कृति कहलाता है ।]

जैसे रत्नावली में—"राजा—देवी के प्रसाद को कौन अधिक सम्मान न देगा ।' वासवदत्ता 'आर्यपुत्र ! इसका मातृकुल बहुत दूर है। अतएव ऐसा करो जिससे यह अपने बन्धुजनों को स्मरण कर दुःखी न हो ।'

यहाँ पर वत्सराज को रत्नावली की प्राप्ति हो चुकी है। उक्त वाक्यों के द्वारा राजा और रत्नावली में परस्पर स्नेहवृत्ति का सम्पादन किया गया है। अतएव दोनों की रागवृत्ति उपशम हुआ है। इससे यहाँ पर कृति नामक निर्वहणाङ्ग है।

दूसरा उदाहरण जैसे वेणी-संहार में—"कृष्ण—ये भगवान् व्यास वाल्मीकि इत्यादि......तुम्हारे अभिषेक का सम्भार लिये हुये खड़े हैं।"

यहाँ पर प्राप्त हुए राज्य का अभिषेक मङ्गल से स्थिरीकरण कृति कहलाता है।

(१०) भाषण :—

मानाद्याप्तिश्च भाषणम्

[सम्मान इत्यादि की प्राप्ति को भाषण कहते हैं।]

जैसे रत्नावली में यौगन्धरायण के यह पूछने पर कि आपका और क्या प्रिय कार्य करूँ ! राजा कह रहे हैं—'क्या इससे अधिक और कुछ प्रिय हो सकता है ?'

यातो विक्रम वाहुरात्मसमतां प्राप्तेयमुर्वीतले,
सारं सागरिका ससागरमही प्राप्त्येकहेतुः प्रिया।
देवी प्रीतिमुपागता च भगिनीलाभाज्जिताःकोशलाः
किं नास्तित्वयि सत्यमात्यवृषभे यस्यै करोमिस्पृहाम् ॥

'आज विक्रमबाहु जैसा सम्राट् मुझे अपने समान ज्ञात होने लगा है; पृथ्वी-तल का सार, समुद्रों सहित पृथ्वी तल का राज्य प्राप्त करने में हेतु प्रिय सागरिका प्राप्त हो गई है; देवी भी बहन को प्राप्त करके प्रसन्न हो गई और कोशल देश पर भी विजय प्राप्त की जा सकी। तुम जैसे अमात्य वृषभ के होते हुये मेरे पास वह कौन सी वस्तु नहीं है जिसकी मैं इच्छा करूँ।'

यहाँ पर काम, अर्थ और सम्मान इत्यादि की प्राप्ति हुई है। अतएव यह भाषण की प्राप्ति हुई है।

(११) पूर्वभाव (१२) उपगूहन :—

कार्य दृष्ट्यद्भुतप्राप्ती पूर्वभावोपगूहने ॥५३॥

[कार्य (फल) को देखना पूर्वभाव कहलाता है और अद्भुतप्राप्ति उपगूहन कहलाता है।]

पूर्वभाव का उदाहरण जैसे रत्नावली में—"यौगन्धरायण—यह समझकर वहन के लिये जो कुछ करना हो उसका अधिकार देवी को ही है।' वासवदत्ता--'स्पष्ट क्यों नहीं कहते हो कि इनको रत्नावली दे दो।"

यहाँ पर यौगन्धरायण का अभिप्राय है कि वासवदत्ता को रत्नावली प्रदान कर दी जावे। यही कार्य (फल) है। इसको वासवदत्ता ने समझ लिया है। अतएव यह पूर्व भाव का उदाहरण है।

अद्भुतप्राप्ति का उदाहरण जैसे वेणी-संहार में—"(परदे में) महायुद्ध की अग्नि से जलकर बचे हुये आप सब राज-समूह का कल्याण हो :--

क्रोधान्धैर्यस्य मोक्षात्क्षत नरपतिभिः पांडुपुत्रैः कृतानि
प्रत्याशं मुक्त केशान्यनुदिनमधुना पार्थिवान्तःपुराणि।
कृष्णायाः केशपाशः कुपितयमसखो धूमकेतुः कुरूणाम्
दिष्ट्या बद्धः कुरूणां प्रजानां विरमतु निधनं स्वस्ति राजन्यकेभ्यः॥

'जिस केशपाश के छूट जाने से क्रोध में अन्धे होकर राजाओं का संहार करनेवाले पाण्डु पुत्रों ने चारों ओर राजाओं के अन्तःपुरों को इस समय प्रति-दिन के लिए खुले बालोंवाला बना दिया। (अर्थात् द्रौपदी के केश खुल जाने का यह परिणाम हुआ कि चारों ओर रानियों के केश वैधव्य के कारण खुल गये।) वही कुपित यमराज के मित्र के समान वही कृष्णा का केश-पाश जो कि कुरुवंश के लिए धूमकेतु (आग) के समान था, आज बँध गया है। अब राज-समूह का कल्याण हो।'

युधिष्ठिर--हे देवि! तुम्हारे केशपाश का संयमन आकाशमंडल में विचरने-वाले सिद्ध लोगों ने किया है।

यहाँ पर अद्भुत वस्तु की प्राप्ति हुई है। अतएव उपगूहन नामक निर्वहणाङ्ग है। इसे हम कृति भी कह सकते हैं। क्योंकि प्राप्त फल का उपशम किया गया है।

(१३) काव्यसंहार :—

वराप्तिः काव्यसंहारः

[श्रेष्ठ वस्तु की प्राप्ति को काव्यसंहार कहते हैं।]

जैसे--"अब अधिक तुम्हारा और क्या प्रिय करें।" इन शब्दों के द्वारा जहाँ पर काव्यार्थ का उपसंहार किया जावे वहाँ काव्यसंहार कहा जाता है।

(१४) प्रशस्ति :—

प्रशस्तिः शुभ शंसनम्

[मंगल की आशंसा को प्रशस्ति कहते हैं ।]

जैसे वेणी-संहार में—'यदि आप अधिक प्रसन्न हैं' तो इतना और हो :—

अकृपणमतिः कामं जीव्याज्जनः पुरुषायुषम्,
भवतु भगवद्भक्तिर्द्वैतं बिना पुरुषोत्तमे ।
कलितभुवनो विद्वद्बन्धुर्गुणेषु विशेषवित्,
सतत सुकृती भूयाद्भूयः प्रसाधित मण्डलः ॥

'लोग कृपणता रहित बुद्धिवाले होकर पुरुष की पूर्ण आयु का उपभोग करें; पुरुषोत्तम भगवान् में द्वैतबुद्धि को छोड़कर भक्ति उत्पन्न हो जावे; राजा लोग सारे भुवन को समझते हुए विद्वानों का आदर करते हुए गुणों की विशेषता को जानते हुए और निरन्तर पुण्य करते हुए अपने मण्डल को अलंकृत करें ।'

यहाँ पर शुभ आशंसा प्रगट की गई है अतएव प्रशस्ति नामक निर्वहणाङ्ग है । निर्वहण संधि के यही १४ अङ्ग होते हैं ।

जैसा पहले बतलाया जा चुका है निर्वहण संधि नाटक का उपसंहार होती है । किसी भी नाटक की रचना में बीज को प्रयत्न के द्वारा फल की ओर ले जाया जाता है । इस निर्वहण संधि में बीज का फल के साथ संयोग दिखलाया जाता है । अतएव इसमें बीज का उपगमन, फल का अनुसंधान और फल का उपन्यास मुख्य होता है। फल की प्राप्ति हो जाने पर क्रियाकलाप में एक शिथिलता आ जाती है और अधिकतर पुराने अनुभवो का वर्णन और हर्षोल्लास के साथ परस्पर बातचीत उस क्रियाकलाप का स्थान ले लेते हैं। इसके अतिरिक्त फल प्रदान के द्वारा दूसरे को उल्लसित करना और उस पर हर्ष प्रगट करना भी इसके अंग होते हैं। इसमें दुःख से छुटकारे का भी वर्णन होता है और सम्मान इत्यादि की प्राप्ति भी दिखलाई जाती है । जो कुछ प्राप्त हो चुका है उसका उपशम और स्थिरीकरण भी आवश्यक अंग होते हैं। फल को समझ लेना भी इसका आवश्यक अंग होता है और कभी-कभी फल की महत्ता को बढ़ाने के लिए किसी लोकोत्तर अपूर्व वस्तु की कल्पना की जाती है। अन्त में काव्य का उपसंहार होता है और लोक-कल्याण की शुभाशंसा करके काव्य समाप्त कर दिया जाता है । निर्वहण संधि के अंगों की कल्पना इसी आधार पर की गई है । इस प्रकार नाट्य-रचना की प्रक्रिया संधियों के रूप में दिखलाई जा चुकी है ।

अंगों के प्रयोजन

इन अंगों के प्रयोजन ये हैं :—

उक्ताङ्गानां चतुःषष्टिः षोढा चैषां प्रयोजनम् ॥

[ऊपर नाट्य-रचना के ६४ अंग बतलाये जा चुके हैं। इनके ६ प्रकार के प्रयोजन होते हैं।]

इष्टस्यार्थस्यरचना, गोप्य गुप्तिः प्रकाशनम्।
रागः प्रयोगस्याश्चर्यं वृत्तान्तस्यानुपक्षयः ॥५५॥

[इष्ट अर्थ की रचना, छिपाने योग्य वस्तु को छिपाना, प्रकाशित करने योग्य वस्तु का प्रकाशन, प्रयोग (अभिनय) के विषय में दर्शकों में अनुराग जागृत करना, प्रयोग का चमत्कार पूर्ण बनाना और वृत्तान्त का उपक्षय न होने देना ये छः सन्ध्यङ्गों के प्रयोजन होते हैं।]

नाट्य-रचना में अंगों पर ध्यान रखने से एक तो लाभ यह होता है कि जिस अर्थ का समावेश करना अभीष्ट हो वह सारी वस्तु सन्निविष्ट हो जाती है। अंगों पर ध्यान न रखने से यह हो सकता है कि कुछ आवश्यक अंश छूट जावे और वस्तु उच्छिन्न सी मालूम पड़ने लगे। कथावस्तु में बहुत सा अंश ऐसा भी होता है जिसका रंगमञ्च पर दिखलाना अभीष्ट और उचित नहीं होता है। अंगों का ध्यान रखने से उस अंश का परित्याग हो जाता है। यह अंग निरूपण का दूसरा प्रयोजन है। अंगों पर ध्यान न रखने से कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि किसी प्रकाश के योग्य वस्तु पर प्रकाश नहीं पड़ता। किन्तु अंगों पर ध्यान रखने से वह वस्तु प्रकाश को अवश्य प्राप्त हो जाती है। यह अंग निरूपण का तीसरा प्रयोजन है। नाट्य-रचना इतनी संगठित और सुश्लिष्ट हो जाती है कि दर्शकों को उसमें विराग का अनुभव नहीं होता है प्रत्युत उनका अनुराग जागृत रहता है यह अंगों का चौथा प्रयोजन है। नाटक को चमत्कार-पूर्ण बनाना प्रत्येक लेखक का कर्तव्य होता है। इस कर्तव्य के पालन में अंगों से सहायता मिलती है। यह अंगों का पाँचवाँ प्रयोजन है। अंगों का छठा प्रयोजन यह है कि वृत्तान्त क्षीण नहीं होने पाता जो प्रायः लेखकों के प्रमाद से हो जाया करता है। यही अंगों के निरूपण के छः प्रयोजन हैं। भरत मुनि ने नाट्य-शास्त्र में अंग रचना के प्रयोजन बतलाते हुए लिखा है :—

'जिस प्रकार अंगों से रहित मनुष्य युद्ध आरम्भ करने में असमर्थ होता है उसी प्रकार अंगों से रहित काव्य प्रयोग योग्य के कभी नहीं हो सकता। जो काव्य हीन अर्थवाला भी हो किन्तु ठीक रूप में अंगों से युक्त हो प्रदीप्त अंगों के कारण ही वह शोभा को प्राप्त हो जाता है इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि कोई काव्य उच्च कोटि के अर्थवाला हो किन्तु अंगों से रहित हो तो प्रयोग की हीनता के कारण वह सज्जनों के मन को पसन्द नहीं आता। अतएव कवि को

चाहिए कि रस और विधान के अनुसार ठीक रूप में अंगों का प्रयोग अवश्य करे।' १६-५५-५८।

समर्पण की दृष्टि से वस्तु के भेद

समर्पण की दृष्टि से वस्तु के भेद ये हैं :—

द्वेधा विभागः कर्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुनः।
सूच्यमेव भवेत्किञ्चि दृश्यश्रव्यमथापरम् ॥५६॥

[समस्त वस्तु के दो विभाग करना चाहिए; कुछ वस्तु तो सूच्य हो और दूसरी दृश्यश्रव्य हो।]

सूच्य और दृश्यश्रव्य का विषय भेद इस प्रकार होता है :--

नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तरः ॥५७॥

[जो वस्तु रसहीन हो और जिसका रङ्गमञ्च पर दिखलाना अनुचित हो इस प्रकार की विस्तृत वस्तु को केवल सूचित करना चाहिए। जो वस्तु मधुर अर्थात् चित्तापकर्षक हो; उदात्त (उच्चकोटि की) हो और पूर्णरूप से रस और भाव से भरी हुई हो उसी का अभिनय रङ्गमञ्च पर करना चाहिए।]

अब सूच्य वस्तु के प्रतिपादन के प्रकार की व्याख्या की जा रही है :—

अर्थोपक्षेपकैः सूच्यं पञ्चभिः प्रतिपादयेत्।
विष्कम्भ चूलिकाऽङ्कस्याङ्कावतार प्रवेशकैः ॥५८॥

[सूच्य वस्तु को पाँच अर्थोपक्षेपकों के द्वारा प्रतिपादित करना चाहिए। वे पाँच अर्थोपक्षेपक ये हैं (१) विष्कम्भ, (२) चूलिका, (३) अङ्कास्य, (४) अङ्कावतार और (५) प्रवेशक।]

अब इन्हीं की क्रमशः व्याख्या की जा रही है :--

(१) विष्कम्भ :--

वृत्तवर्तिष्यमाणानांकथांशानां निदर्शकः।
संक्षेपार्थस्तुविष्कम्भो मध्यपात्र प्रयोजकः ॥५९॥

[जो कथांश व्यतीत हो चुके हों। या जो भविष्य में घटित होनेवाले हों। संक्षेप में उन कथांशों का दिग्दर्शन करा देनेवाला अर्थोपक्षेपक विष्कम्भ कहलाता है। इसका प्रयोग मध्य श्रेणी के पात्रों द्वारा हुआ करता है।]

विष्कम्भ के दो भेद होते हैं शुद्ध और सङ्कीर्ण। उनके लक्षण ये हैं :--

एकानेककृतः शुद्धः सङ्कीर्णो नीचमध्यमैः।

[एक या अनेक मध्यम श्रेणी के पात्र जिसका प्रयोग करें उसे शुद्ध विष्कम्भक

कहते हैं और नीच श्रेणी के तथा मध्यम श्रेणी के पात्र मिलकर जिसका अभिनय करें उसे सङ्कीर्ण विष्कम्भक कहते हैं।]

मध्यम श्रेणी के पात्रों में संस्कार किये हुए व्यक्ति परोहित अमात्य कञ्चुकी इत्यादि आते हैं और नीच पात्रों में निम्नकोटि के असंस्कृत व्यक्ति आते हैं।

(२) प्रवेशक :—

तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीच पात्र प्रयोजितः ॥६०॥
प्रवेशोऽङ्क द्वयस्यान्तः शेषार्थस्योपसूचकः ॥

[वही जब अनुदात्त उक्तियों से नीच पात्रों द्वारा प्रयुक्त किया जावे; दो अङ्कों के बीच में हो और शेष अर्थ की सूचना देनेवाला हो तो उसे प्रवेशक कहते हैं।]

विष्कम्भक और प्रवेशक दोनों ही भूत और भविष्य अर्थ की सूचना देनेवाले होते हैं। अन्तर यह होता है कि विष्कम्भक में उदात्त (उच्चकोटि की) उक्तियाँ होती हैं और प्रवेशक में अनुदात्त (निम्नकोटि की) उक्तियाँ होती हैं। विष्कम्भक का अभिनय निम्नकोटि के पात्र करते हैं। प्रवेशक सर्वदा दो अङ्कों के बीच में ही होता है; प्रथम अङ्क के पहले नहीं हो सकता किन्तु विष्कम्भक में ऐसा कोई नियम नहीं है। प्रवेशक में प्राकृत भाषा का ही प्रयोग होता है।

(३) चूलिका :—

अन्तर्जवनिकासंस्थै स्चूलिकार्थस्य सूचना ॥६१॥

[जवनिका के अन्दर स्थित व्यक्तियों के द्वारा किसी बात का सूचित करना चूलिका कहलाता है।]

उदाहरण जैसे उत्तर रामचरित के दूसरे अङ्क के प्रारम्भ में :—

'(परदे के अन्दर) तपस्विनी का स्वागत हो। (इसके बाद तपस्विनी का प्रवेश होता है।)' यहाँ पर परदे के पात्र के द्वारा वासन्तिका से आत्रेयी की सूचना दी गई है। अतएव यहाँ पर चूलिका नामक अर्थोपक्षेपक है।

दूसरा उदाहरण जैसे वीर चरित में चतुर्थ अङ्क के प्रारम्भ में :—

(परदे के अन्दर) अरे, अरे! विमान से विचरनेवाले देवगण! मङ्गलों का प्रारम्भ करो; मङ्गलों का प्रारम्भ करो :—

कृशाश्वान्तेवासी जयति भगवान् कौशिक मुनिः,
सहस्रांशोर्वंशे जगति विजयित्त्रगधुना।
विजेता क्षत्रारेर्जगदभयदानव्रतधरः,
शरण्यो लोकानां दिनकर कुलेन्दुर्विजयते ॥

'कृशाश्व के शिष्य भगवान् कौशिक मुनि (विश्वामित्र जी) विजयी हो रहे हैं। इस समय सहस्रांशु (भगवान् सूर्य) का वंश संसार में विजयी (सर्वोत्कृष्ट

रूप में वर्तमान) हो रहा है। क्षत्रियों के अंत कारक परशुराम को विनीत बनानेवाले, संसार को अभयदान देने का व्रत धारण किये हुए, समस्त लोगों को शरण देनेवाले सूर्यवंश के चन्द्र इस समय विजयशील हो रहे हैं।'

यहाँ पर नेपथ्य के पात्र देवताओं ने यह सूचित किया है कि 'राम ने परशुराम को जीत लिया है।' अतएव यहाँ पर चूलिका नामक अर्थोपक्षेपक है।

(४) अङ्कास्य :—

अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्यं छिन्नङ्कस्यार्थसूचनात्।

[अङ्क के अन्त में आनेवाले पात्रों के द्वारा विच्छिन्न अङ्क के अर्थ को सूचित करने से अङ्कास्य कहलाता है।]

आशय यह है कि जहाँ पर एक अङ्क के अन्दर कथा-वस्तु विच्छिन्न हो जावे और उसके बाद दूसरे अङ्क में आनेवाली कथा भिन्न हो उस समय प्रथम अङ्क के अन्त में ही आनेवाला कोई स्त्री-पात्र या पुरुष-पात्र अग्रिम अङ्क में बिखरी हुई कथा का संक्षेप में परिचय करा दे तथा उसी परिचय का आश्रय लेकर दूसरे अङ्क का प्रारम्भ होवे उसे अङ्कास्य कहते हैं। जैसे मुख को देखकर किसी पुरुष का परिज्ञान हो जाता है उसी प्रकार इस अङ्कास्य को देखकर अग्रिम कथा भाग का ज्ञान हो जाता है। इसीलिए इसे अङ्कास्य या अङ्क मुख कहते हैं।

उदाहरण के लिए जैसे—वीर-चरित के दूसरे अङ्क के अन्त में—"सुमन्त्र—(प्रविष्ट होकर) भगवान् वशिष्ठ और विश्वामित्र परशुराम के सहित आप सब लोगों को बुला रहे हैं।" और लोग—'भगवान् वशिष्ठ और विश्वामित्र कहाँ हैं?' सुमन्त्र—'महाराज दशरथ के निकट।' और लोग—'तो उनके अनुरोध से हम वहीं चल रहे हैं।' (इसके बाद बैठे हुए वशिष्ठ, विश्वामित्र और परशुराम का प्रवेश होता है।)

पूर्व अङ्क में शतानन्द और जनक की कथा आई थी। उसका विच्छेद हो गया। उसके बाद उसी अङ्क के अन्त में सुमन्त्र नामक पात्र ने प्रविष्ट होकर वशिष्ठ, विश्वामित्र, परशुराम इत्यादि के मिलने की सूचना दी और उसी सूचना का आश्रय लेकर अग्रिम अङ्क की कथा का अवतार हुआ। अतएव उत्तर अङ्क के मुख (मुख्य-भाग) या प्रारम्भिक भाग को सूचित करने के कारण इस सूचना को अङ्कास्य नामक अर्थोपक्षेपक माना जाता है।

(५) अङ्कावतार :—

अङ्कावतारस्त्वङ्कान्ते पातोऽङ्कस्याविभागतः ॥६२॥

[जहाँ पर अङ्क के अभिन्न अङ्क के रूप में दूसरे अङ्क का अवतार हो वहाँ

पर अङ्क के अन्त में दी हुई दूसरे अङ्क का प्रारम्भ करनेवाली सूचना अङ्कावतार कहलाती है ।]

आशय यह है कि चाहे अङ्क के अन्दर ही अथवा दूसरे अङ्क में किसी बात की सूचना दी जावे और प्रयोग का आश्रय लेकर उस अङ्क का अवतार हो तथा उस अङ्क में कथा के अर्थ का विच्छेद न हो । यह मालूम पड़े कि प्रथम अङ्क का क्रम जारी रखते हुए ही दूसरे अङ्क का प्रारम्भ हुआ है । उसे अङ्कावतार कहते हैं । इसमें और अङ्कास्य में एक बहुत बड़ा अंतर यह है कि अङ्कास्य में एक कथा का विच्छेद हो जाता है तब दूसरी कथा की सूचना दी जाती है और उसके बाद उस सूचित कथा का प्रारम्भ होता है किन्तु इस अङ्कावतार में कथार्थ का विच्छेद नहीं होता तथा यही ज्ञात होता रहता है कि वही कथा अब भी चल रही है । नाट्य-शास्त्र में लिखा है कि अङ्कावतार में बीज की युक्ति भी सम्मिलित रहती है । वैसे प्रायः अग्रिम कथा भाग को प्रगट करने के लिए विष्कम्भक और प्रवेशक का प्रयोग हुआ करता है । किन्तु जहाँ पर बिना ही विष्कम्भ और प्रवेशक का प्रयोग किये एक अङ्क के अंत में ही अग्रिम कथा की सूचना दी जाती है उसे अङ्कावतार कहते हैं ।

जैसे मालविकाग्निमित्र में प्रथम अङ्क के अन्त में विदूषक कह रहा है 'अतएव तुम दोनों जाकर देवी के प्रेक्षागृह में गाने की सब सामग्री एकत्र करके श्रीमान् जी के पास दूत भेज देना; अथवा मृदङ्ग शब्द ही इनको उठा देगा ।' यह उपक्रम किया गया है । इसके बाद मृदङ्ग शब्द को सुनकर सभी ही पात्र प्रथम अङ्क में प्रकान्त पत्रों में संक्रान्ति दिखलाते हैं । प्रथम अङ्क में हरदत्त और गणदास ये दो पात्र दिखलाये गये थे । वहाँ पर यह भी कहा गया था कि—'श्लिष्ट क्रिया किसी के तो अन्दर ही रहती है और दूसरे लोगों का संक्रमण का ढङ्ग बड़ा ही विशेष होता है । जिसमें ये दोनों गुण हों वही अच्छा शिक्षक हो सकता है और वही सबसे अग्रगण्य माना जाता है ।' इसी बीज को लेकर प्रथम अङ्क में बतलाये हुए उक्त दोनों पात्रों में सङ्गीत का संक्रमण दिखलाया गया है ।

द्वितीय अङ्क का प्रारम्भ प्रथम अङ्क के कथा भाग को बिना ही विच्छेद किये हुए होता है । अतएव यहाँ पर अङ्कावतार नामक अर्थोपक्षेपक है ।

उपसंहार :—

एभिः संसूचयेत्सूच्यं दृश्यमङ्कैः प्रदर्शयेत् ।

[उपर्युक्त अर्थोपक्षेपकों के द्वारा सूच्य कथा-वस्तु को सूचित करना चाहिए और दृश्य कथा-वस्तु को अङ्कों के द्वारा दिखलाना चाहिए ।]

इस प्रकार समर्पण की दृष्टि से कथा-वस्तु के दोनों भागों की व्याख्या की गई।

नाट्य-धर्म की दृष्टि से वस्तु के भेद

नाट्य-धर्म की दृष्टि से भी नाट्य-वस्तु के तीन भेद किये जाते हैं। नाट्य-धर्म का अर्थ है नाट्य की मर्यादा का पालन। नाट्य में कोई बात तो ऐसी होती है जिसको सब लोग सुन सकते हैं; कुछ बातें ऐसी होती हैं जिनको वक्ता दर्शकों को छोड़कर किसी को नहीं सुनाना चाहता और कुछ बातें ऐसी होती हैं जिनको वक्ता कुछ पात्रों को तो सुनाना चाहता है और कुछ को नहीं। इसी आधार पर नाट्य-धर्म की दृष्टि से नाट्य-वस्तु के भेद किये जाते हैं। नाट्य-धर्म या नाट्य-मर्यादा यही है कि जिस बात का सुनाना जितने व्यक्तियों को उचित हो उतने ही व्यक्तियों को वह बात सुनानी चाहिए; जिनके किसी बात को सुन लेने से रस व्याघात उपस्थित हो उनको वह बात नहीं सुनानी चाहिए। यही बात नीचे की पंक्तियों में कही गई है :—

नाट्य धर्ममपेद्यैतत्पुनर्वस्तुत्रिधेष्यते ॥६३॥
सर्वेषां नियतस्यैव श्रव्यमश्राव्यमेव च।

[नाट्य-धर्म की दृष्टि से भी नाट्य-वस्तु के तीन भेद होते हैं—(१) सर्व-श्राव्य (सब लोगों के लिए जिसका सुनाना अभीष्ट हो)। (२) नियतश्राव्य (नियत या निश्चित लोगों के लिए ही जिसका सुनाना अभीष्ट हो) और (३) अश्राव्य (किसी के लिए भी जिसका सुनाना अभीष्ट न हो।]

इनके लक्षण ये हैं :—

सर्वश्राव्यं प्रकाशंस्यादश्राव्यंस्वगतं मतम् ॥६४॥

[जो बात प्रकाश या प्रगट रूप में कही जावे उसे सर्वश्राव्य कहते हैं। इसके लिए प्रकाश शब्द का भी प्रयोग होता है। जो बात स्वगत कही जावे उसे अश्राव्य कहते हैं। इसके लिए स्वगत शब्द का भी प्रयोग होता है।]

नियतश्राव्य के निम्नलिखित दो भेद होते हैं :—

द्विधान्यन्नाट्यधर्माख्यं जनान्तमपवारितम्।

[दूसरा नाट्य-धर्म (नियतश्राव्य) दो प्रकार का होता है, (१) जनान्तिक और (२) अपवारित।]

जनान्तिक का लक्षण यह है :—

त्रिपताकाकरेणान्यानयवार्यान्तरा कथाम्।
अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्यात्तज्जनान्ते जनान्तिकम् ॥

[बातचीत के बीच में हाथ की त्रिपताका नामक मुद्रा से अन्य लोगों

को बचाकर एकान्त में जो एक दूसरे का आमंत्रण किया जाता है उसे जनान्तिक कहते हैं ।]

नाट्य-शास्त्र में हस्ताभिनय का वर्णन करते हुए पताका और त्रिपताका-संज्ञक हाथों का भी वर्णन किया गया है । जिस हाथ की सारी अँगुलियाँ समान रूप से फैली हुई हों और अँगूठा कुछ टेढ़ा कर दिया गया हो उस हाथ को पताका कहते हैं । प्रहार इत्यादि विभिन्न प्रकार के अभिनयों में यह हाथ अंग के विभिन्न स्थानों पर स्थापित किया जाता है । हाथ को उसी पताका के रूप में बनाकर यदि अनामिका नाम की अँगुली को टेढ़ा कर दिया जावे तो उस हाथ को त्रिपताक कहते हैं । इस प्रकार के हाथ का प्रयोग आवाहन आमंत्रण इत्यादि कार्यों के अभिनय के लिए किया जाता है । यदि हाथ को त्रिपताका के रूप में बनाकर ऐसे दूसरे पात्रों को बचाते हुए जिनसे बात छिपानी हो केवल उनसे एकान्त में बातचीत की जावे जिसको उस बात का सुन ना अभीष्ट हो तो उसे जनान्तिक कहते हैं ।

अपवारितक का लक्षण यह है :—

रहस्यं कथ्यतेन्यस्य परावृत्यापवारितम् ॥६॥

[घूमकर दूसरे के रहस्य को कह देना अपवारितक कहलाता है ।]

जनान्तिक और अपवारितक में यह भेद है कि जनान्तिक में विशेष मुद्रा के साथ दूसरे को आमन्त्रित कर बातचीत की जाती है किन्तु अपवारितक में चुपके से किसी के रहस्य की बात कह दी जाती है ।

प्रसंगवश आकाशभाषित का लक्षण बतलाया जा रहा है :—

किंब्रवीष्येवमित्यादि विनापात्रं ब्रवीतियत् ।
श्रुत्वेवानुक्तमप्येकशस्तस्यादाकाशभाषितम् ॥६७॥

[बिना दूसरे पात्र के किसी एक पात्र के द्वारा 'क्या कहा ?' इत्यादि जो कहा जाता है और ऐसा मालूम पड़ता है मानों किसी की कही बात को सुन रहा हो यद्यपि वहाँ पर कहनेवाला कोई नहीं होता; इस क्रिया को आकाशभाषित कहते हैं ।]

यद्यपि प्रथम कल्प इत्यादि और भी बहुत से नाट्य भेदों का कुछ लोगों ने वर्णन किया है किन्तु एक तो वे भेद भारतीय नहीं हैं और दूसरे वे नाममाला से प्रसिद्ध हैं और उनमें कुछ देशभाषात्मक संज्ञायें हैं । अतएव न तो हम उन्हें नाट्य-धर्म ही कह सकते हैं और न उनके वर्णन करने की यहाँ पर आवश्यकता ही है । इतिवृत्त के आवश्यक भेदों का ऊपर वर्णन किया जा चुका है । अनावश्यक अंगों के वर्णन का कोई महत्त्व नहीं इसीलिए उसका परित्याग किया जा रहा है ।

उपसंहार

इत्याद्य शेषमिह वस्तु विभेद जातं,
रामायणादि च विभाव्य वृहत्कथां च।
आसूत्रयेत्तदनु नेतृरसानुगुण्या-
चित्रां कथामुचित चारुवचः प्रपञ्चैः ॥६८॥

[वस्तु के उपर्युक्त समस्त भेदों के समूह को समझकर तथा रामायण और वृहत्कथा इत्यादि का भली भाँति परिशीलन कर उपयुक्त सुन्दर वचन रचना के प्रपञ्च के साथ विचित्र प्रकार की कथा का गुम्फन करना चाहिए जो नेता की प्रकृति के भी अनुकूल हो और रस के भी अनुकूल हो।]

वृहत्कथा गुणाढ्य की लिखी हुई एक विशालकाय पुस्तक है। नेता (नायक) और रस का आगे चलकर वर्णन किया जावेगा।

उदाहरण के लिए वृहत्कथा का आश्रय लेकर मुद्राराक्षस लिखा गया है। वृहत्कथा में लिखा है :—

'चाणक्यनाम्ना तेनाथ शकटालगृहे रहः।
कृत्यां विधाय सहसा सपुत्रो निहतो नृपः॥
योगानन्द यशःशेषे पूर्वनन्द सुतस्ततः।
चन्द्रगुप्तः कृतोराजा चाणक्येन महोजसा॥

'चाणक्य नामक उस व्यक्ति ने एकान्त में शकटाल के घर में कृत्या को बनाकर सहसा पुत्र सहित राजा को मार डाला। योगानन्द के यशःशेष रह जाने पर बड़े ही ओजस्वी चाणक्य ने पूर्वनन्द के पुत्र चन्द्रगुप्त को राजा बना दिया।'

वृहत्कथा के इसी प्रकरण का आश्रय लेकर मुद्राराक्षस लिखा गया है। रामायण में रामकथा लिखी हुई है। उसके आधार पर भी बहुत से नाटक बनाये गये हैं। यही नाट्य के इतिवृत्त का संक्षिप्त परिचय है।

द्वितीय प्रकाश

नायक के सामान्य लक्षण

प्रथम प्रकाश में बतलाया गया था कि नाट्य के भेदक तीन हैं--वस्तु, नायक और रस। रूपकों के एक दूसरे से भेद को सिद्ध करने के लिए प्रथम प्रकाश में ही वस्तु-भेदों का पूर्ण रूप से निरूपण कर दिया गया है। अब इस प्रकाश में नायक के भेदों का वर्णन किया जा रहा है।

नायक के सामान्य गुण ये होते हैं :—

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियम्वदः ।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ॥१॥
बुद्ध्युत्साह स्मृति प्रज्ञाकलामान समन्वितः ।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ॥२॥

[नायक विनीत इत्यादि होना चाहिए।]

(१) नायक का प्रथम गुण है विनयशील होना। उदाहरण जैसे वीर-चरित में :—

यद्ब्रह्मवादिभिरुपासितवन्द्यपादे, विद्यातपोव्रतनिधौ तपतां वरिष्ठे ।
दैवात्कृतस्त्वयिमया विनयापचारस्तत्र प्रसीद भगवन्नयमञ्जलिस्ते ॥

'हे भगवन्! ब्रह्मवादी व्यक्ति आपके वन्दनीय चरणों की उपासना करते हैं; आप विद्या, तप और व्रत की निधि हैं और तपस्या करनेवालों में आप सर्व-श्रेष्ठ हैं; दैववश मैंने जो आपके विषय में विनय का अतिक्रमण किया है उसके लिए मैं हाथ जोड़कर आपकी प्रार्थना करता हूँ, आप मेरे ऊपर कृपा कीजिए।'

यहाँ पर श्रीरामचन्द्र जी का विनय व्यक्त होता है।

(२) नायक मधुर अर्थात् प्रियदर्शन या सुन्दर आकृतिवाला होना चाहिए। जैसे वीरचरित में :—

राम-राम नयनाभिरामनामाशयस्य सदृशीं समुद्वहन् ।
अयुतर्क्य गुण रामणीयकः सर्वथैव हृदयङ्गमोऽसि मे ॥

'हे राम! हे राम! आप अपने शुभ आशय के समान जो कि नयनाभि-रामता को धारण किये हुए हैं और आप जो विचार का भी अतिक्रमण करने-वाले गुणों से शोभित होनेवाले हैं; इन सब बातों से आप मुझे सर्वथा हृदयङ्गम प्रतीत हो रहे हैं।'

(३) त्यागी अर्थात् सर्वस्व देनेवाला होना नायक का चौथा गुण है। जैसे :—

त्वचं कर्णः शिविर्मांसं जीवं जीमूतवाहनः।
ददौ दधीचिरस्थीनि नास्त्यदेयं महात्मनाम् ॥

'कर्ण ने त्वचा दान कर दी, शिवि ने मांस दे दिया, जीमूतवाहन ने जीवन दे दिया और दधीचि ने हड्डियाँ दे दीं। महात्माओं को कुछ भी अदेय नहीं है।'

(४) नायक दक्ष अर्थात् क्षिप्रकारी होना चाहिए। जैसे वीरचरित में :—

स्फूर्जद्वज्रसहस्रनिर्मितमिवप्रादुर्भवत्यग्रतः।
रामस्य त्रिपुरान्तकृद्दिविषदां तेजोभिरिद्धंधनुः ॥
शुण्डारः कलभेन यद्वदचले वत्सेन दोर्दण्डकः।
तस्मिन्नाहित एव निर्जितगुणंकृष्टंचमग्नंच तत् ॥

'स्फूर्जित होनेवाले हजारों वज्रों से बने हुए के समान, त्रिपुरासुर का अन्त करनेवाला शङ्कर का धनुष देवताओं के तेजों से प्रदीप्त होता हुआ सा राम के सामने प्रादुर्भूत हो रहा है। उस धनुष की प्रत्यञ्चा राम के हाथ में आते ही खिंच गई और वह टूट गया। उस समय राम की बाहु ऐसी शोभित हो रही थी जैसे कलभ से सूंड शोभित होती है या बछड़े से दोर्दण्ड शोभित होता है।

यहाँ पर राम की क्षिप्रकारिता प्रगट हो रही है।

(५) नायक को प्रियंवद (प्रियभाषी) होना चाहिए। जैसे वीरचरित में :—

'उत्पत्तिर्जमदग्नितः स भगवान् देवः पिनाकी गुरुः।
वीर्यंयत्तुन तद्गिरां पथिननु व्यक्तं हितत्कर्मभिः ॥
त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रित मही निर्व्याजदाना वधिः।
सत्य ब्रह्मतपोनिधेर्भगवतः किंवा न लोकोत्तम् ॥'

'भगवान् परशुरामजी की क्या बात लोकोत्तर नहीं हैं? जमदग्नि से तो उत्पत्ति हुई है; पिनाकधारी देव (भगवान् शङ्कर) गुरु हैं; जो कुछ पराक्रम है वह वाणी का विषय हो ही नहीं सकता; वह तो केवल कर्मों से व्यक्त हो रहा है; सातों समुद्र की मुद्रा से मुद्रित पृथ्वी का बिना किसी ब्याज (छल) के दान कर देना ही त्याग की अवधि है; वे सत्य, ब्रह्म और तप का कोष हैं। इस प्रकार इनकी सारी बातें लोकोत्तर ही हैं।'

(६) नायक रक्तलोक होना चाहिए अर्थात् सारा संसार उससे प्रेम करे। जैसे वीरचरित में :—

त्र्य्यास्त्राता यस्तवायं तनूज-
स्तेनाद्यैव स्वामिनस्ते प्रसादात् ।
राजन्वन्तो राम भद्रेण राज्ञा
लब्धक्षेमा: पूर्णकामाश्चरामः ॥

'जो आपका यह पुत्र वेदत्रयी की रक्षा करनेवाला है, उन प्रिय राम को, आप स्वामी की कृपा से राजा के रूप में प्राप्त कर आज हम लोग अच्छे राजा-वाले हो गये हैं; हमें अपने सारे मङ्गल हस्तगत हो गये हैं और हमारी सारी कामनायें पूर्ण हो गई हैं। इस प्रकार हम सब आनन्द से विचर रहे हैं।

(७) नायक शुचि या पवित्र होना चाहिए। शौच या पवित्रता का अर्थ है मन की निर्मलता के साथ कामना इत्यादि से पराभूत न होना। जैसे रघु-वंश में :—

'कात्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा किंवा मदभ्यागम कारणं ते ।
आचक्ष्वमत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्री विमुख प्रवृत्ति ॥'

'हे शुभे तुम कौन हो या किसकी पत्नी हो? तुम्हारा मेरे पास आने का क्या कारण है? यह सब बातें मुझे यह समझकर बतलाओ कि इन्द्रियों को वश में रखनेवाले रघुवंशियों के मन की प्रवृत्ति सर्वदा परस्त्री से विमुख रहती है।'

(८) नायक वाग्मी अर्थात् बोलने में निपुण हो। जैसे हनुमन्नाटक में :—

वाह्वोर्वलं न विदितं न च कार्मुकस्य,
त्रैयम्बकस्य तनिमा तत एष दोषः ।
तच्चापलं परशुराम मम क्षमस्व,
डिम्भस्य दुर्विलसितानि मुदे गुरूणाम् ॥

'एक तो हमें बाहुबल का ज्ञान नहीं था दूसरे त्रिलोचन शङ्करजी के धनुष की इतनी कृशता भी ज्ञात नहीं थी। इसीलिए धनुष तोड़ने का यह अपराध मुझसे हो गया है। हे परशुराम! मेरी इस चञ्चलता के लिए मुझे क्षमा कीजिए। बच्चों की दुश्चेष्टायें गुरुओं को आनन्द देनेवाली होती हैं।'

(९) नायक रूढ़वंश या उच्चवंश का होना चाहिए। जैसे :—

ये चत्वारो दिनकर कुल क्षत्र सन्तान मल्ली-
मालाम्लान स्तवकमधुपा जज्ञिरे राजपुत्राः ।
रामस्तेषामचरमभवस्ताड़का कालरात्रि-
प्रत्यूषोऽयं सुचरित कथाकन्दली मूलकन्दः ॥

'सूर्यवंशी क्षत्रियों की संतान परम्परा रूपी माला के मलिन गुच्छों के भौंरों

के समान जो चार राजपुत्र उत्पन्न हुए उनमें राम प्रथम उत्पन्न हुए हैं। वे राम ताड़का रूपी कालरात्रि को प्रातःकाल के समान नष्ट करनेवाले हैं और सच्चरित्रता रूपी कन्दली के प्रथम अङ्कुर के समान हैं।'

(१०) नायक स्थिर अर्थात् वाणी मन क्रिया से चञ्चलता रहित होना चाहिए। जैसे वीरचरित में :—

प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वोव्यति क्रमात्।
नत्वेव दूषयिष्यामि शस्त्रग्रह महाव्रतम्॥

'आप जैसे पूज्यों का अतिक्रमण करने के कारण मैं प्रायश्चित्त का पालन तो कर लूँगा किन्तु शस्त्रग्रहण के महाव्रत को दूषित नहीं करूँगा।'

दूसरा उदाहरण जैसे भर्तृहरि शतक में :—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः।
प्रारभ्य विघ्नविहताः विरमन्ति मध्याः॥
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः।
प्रारब्धमुत्तमगुणाः न परित्यजन्ति॥

'नीच लोग किसी कार्य को विघ्न के भय से प्रारम्भ नहीं करते हैं; मध्य श्रेणी के व्यक्ति विघ्नों से पीड़ित होकर मध्य में ही रुक जाते हैं। किन्तु उत्तम प्रकृति के व्यक्ति बार बार विघ्नों से पीड़ित होकर भी प्रारम्भ किये हुए कार्य का परित्याग नहीं करते।'

(११) युवक होना प्रसिद्ध ही है।

नायक (१२) बुद्धि से युक्त (१३) उत्साहयुक्त (१४) स्मृतियुक्त (१५) प्रज्ञायुक्त, (१६) कलायुक्त (१७) स्वाभिमान से युक्त होना चाहिए। इसके अतिरिक्त नायक (१८) शूर हो (१९) दृढ़ हो (२०) तेजस्वी हो (२१) शास्त्रानुकूल कार्य करनेवाला हो और धार्मिक हो।

प्रज्ञा और बुद्धि में अन्तर यह है कि बुद्धि साधारण ज्ञान को कहते हैं। किन्तु प्रज्ञा ज्ञात वस्तु में विशेषता उत्पन्न करने को कहते हैं। प्रज्ञावान होने का उदाहरण जैसे मालविकाग्नि मित्र में :—

यद्यत्प्रयोग विषये भाविकमुपदिश्यते मयातस्यै।
तत्तद्विशेषकरणात् प्रत्युपदिशतीव मे बाला॥

'प्रयोग के विषय में जिस-जिस भावनामय नृत्य इत्यादि का हम उस मालविका को उपदेश देते हैं उसी-उसी विषय में विशेषता उत्पन्न कर देने के कारण वह बाला मुझे बदले में मानों उपदेश देती है।'

शेष गुणों के उदाहरण स्पष्ट हैं उनको स्वयं समझ लेना चाहिए।

नायक के भेद

अब नायक के भेद बतलाये जा रहे हैं :—

भेदैश्चतुर्धा ललित शान्तोदात्तोद्धतैरयम् ।

[यह नायक ललित, शान्त, उदात्त और उद्धत इन चार भेदों से चार प्रकार का होता है ।]

धीर होना नायक का सामान्य गुण है । अतएव ललित इत्यादि के साथ धीर शब्द को जोड़कर नायक के ये चार भेद होते हैं — (१) धीरललित, (२) धीर शान्त, (३) धीरोदात्त और (४) धीर उद्धत । इसी क्रम से इनके लक्षण और उदाहरण बतलाये जा रहे हैं ।

(१) धीरललित :—

निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः ।

[जो निश्चिन्त हो, कलाओं में आसक्त हो, सुखी हो और कोमल हो ऐसे नायक को धीरललित कहते हैं ।]

यह निश्चिन्त इसलिए होता है कि इसके योग (अप्राप्त की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त) की रक्षा का सारा भार सचिव इत्यादि के आधीन होता है और वे ही इन सब बातों की व्यवस्था करते हैं । यही कारण है कि यह गीत इत्यादि कलाओं में लगा रहता है और योग में संलग्न रहता है। उसमें शृंगार की प्रधानता होती है; इसीलिए उसके सारे आचार-व्यवहार और चित्तवृत्तियाँ सुकुमार होती हैं । अतएव उसे मृदु कहते हैं । यही धीरललित नायक का लक्षण है । वत्सराज उदयन इसका उदाहरण हैं । जैसे रत्नावली में :—

राज्यं निर्जितशत्रुयोग्य सचिवे न्यस्तः समस्तो भरः ।
सम्यक्पालनलालिताः प्रशमिता शेषोपसर्गाः प्रजाः ॥
प्रद्योतस्यसुता वसन्तसमयस्त्वं चेतिनाम्न धृतिं ।
कामः काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः ॥

'राज्य के शत्रु पूर्ण रूप से जीते जा चुके; योग्य मन्त्री पर सारा भार रख दिया गया; प्रजा का ठीक रूप में लालन-पालन किया गया और उनकी सारी आपत्तियाँ शान्त कर दी गईं; प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता मेरे पास है; वसन्त का समय है और तुम (मेरी प्राणप्रिया) भी उपस्थित हो । अब काम परिपूर्ण रूप से धैर्य धारण करे और मेरे लिए तो यह महान् उत्सव ही है ।'

(२) धीर शान्त :—

सामान्य गुण युक्तस्तु धीर शान्तो द्विजादिकः ।

[जो सामान्य गुणों से युक्त हो ऐसे द्विज इत्यादि को धीर शांत कहते हैं ।]

विनय इत्यादि जिन सामान्य गुणों का पहले वर्णन किया जा चुका है वे गुण धीर शांत नायक में होते हैं। द्विज इत्यादि में इत्यादि शब्द का अर्थ है प्रकरण में आनेवाले सब प्रकार के नायक। इनमें ब्राह्मण, बनिया, मन्त्री इत्यादि सम्मिलित हैं। ब्राह्मण इत्यादि ही प्रकरण का नायक हो सकता है। अतएव द्विज इत्यादि कहना विवक्षित ही है। अर्थात् चाहे जो व्यक्ति प्रकरण का नायक नहीं हो सकता किन्तु द्विज इत्यादि ही हो सकता है। कारण यह है कि निश्चिन्तता इत्यादि गुण अन्यत्र भी सम्भव होते किन्तु विप्र इत्यादि में शांतता ही होती है; उनमें लालित्य नहीं होता। धीर शांत नायक के उदाहरण के लिए मालती माधव के माधव और मृच्छकटिक के चारुदत्त का नाम लिया जा रहा है। जैसे :—

तत उदयगिरेरि वैकएव,
स्फुरित गुणद्युतिसुन्दरः कलावान्।
इहजगति महोत्सवस्य हेतुः
नयनवतामुदियाय बालचन्द्रः ॥

'इसके बाद प्रगट होनेवाले गुणों की द्युति से सुन्दर प्रतीत होनेवाला कलाओंवाला (१-ललित कलाओं में रुचि रखनेवाला २-चन्द्र-कलाओं से युक्त) नेत्रवालों के लिए महोत्सव का हेतु वह नायक इसी प्रकार प्रगट हुआ जिस प्रकार उदय पर्वत पर एक अद्वितीव बालचन्द्र उदित होता है।'

दूसरा उदाहरण जैसे मृच्छकटिक में :—

मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भासितं यत्,
सदीस निविडचैत्यब्रह्म घोषैः प्ररस्तात्।
ममनिधनदशायां वर्तमानस्य पापैः,
तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम् ॥

(३) धीरोदात्त :—

महासत्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः ॥४॥
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः ॥

[जो बहुत तेजस्वी हो, अत्यन्त गम्भीर हो, सहनशील हो, बढ़-बढ़कर बातें न मारनेवाला हो, स्थिर हो, जिसका अहङ्कार प्रगट न हो रहा हो और जिसका व्रत दृढ़ हो ऐसे नायक को धीरोदात्त कहते हैं।]

बहुत अधिक तेजस्वी का आशय यह है कि धीरोदात्त नायक का अन्तःकरण शोक, क्रोध इत्यादि से अभिभूत नहीं होता है। अहङ्कार के न प्रगट होने

का अर्थ यह है कि उसके अन्दर विनय इतना अधिक होना चाहिए कि उसका अवलेप (मिथ्याभिमान) दब जावे। व्रत के दृढ़ होने का अर्थ यह है कि वह जो कुछ भी अंगीकार करे उसका निर्वाह कर देने की उसमें क्षमता हो और वह अंगीकार किये हुए कार्य का निर्वाह करके ही दम ले।

धीरोदात्त का उदाहरण जैसे नागानन्द में जीमूतवाहन। जीमूतवाहन ने परोपकार के निमित्त अपना शरीर अर्पित कर दिया है। गरुड़ उसके शरीर को खाते-खाते रुक जाता है। तब वह कह रहा है :—

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्त मद्यापिदेहे मम मांसमस्ति।
तृप्तिं न पश्यामि तवाधुनापि किं भोजनात्वं विरतो गरुत्मन्॥

'हे गरुत्मन्! मेरी शिराओं के मुख से रक्त बह ही रहा है; आज भी मेरे शरीर में मांस विद्यमान है; मैं इस समय भी तुम्हारी तृप्ति नहीं देख रहा हूँ; फिर तुम भोजन से क्यों रुक गये हो।'

दूसरा उदाहरण जैसे वाल्मीकि रामायण में राम :—

आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्पवनाय च।
न मयालक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकार विभ्रमः॥

'अभिषेक के लिए बुलाये हुए और वन के लिए भेजे हुए उन राम के अन्दर मुझे कुछ भी आकार का बिगड़ना दिखाई न पड़ा।'

यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि उपर्युक्त विशेष लक्षणों में कुछ ऐसी बातें भी आ गई हैं जो सामान्य गुणों में पहले से ही सम्मिलित थीं। इसका आशय यह है कि स्थिरता इत्यादि वे गुण यद्यपि सब नायकों में समान होते हैं किन्तु जिस स्थान पर उनका दुबारा उल्लेख किया गया है उस प्रकार के नायक में वे गुण विशेष रूप से होते हैं। जैसे स्थिर होना सामान्य लक्षण भी है और धीरोदात्त का विशेष लक्षण भी। इसका आशय यह है कि धीरललित इत्यादि नायकों की स्थिरता का भले ही लोप हो जावे किन्तु धीरोदात्त की स्थिरता का लोप नहीं होता।

(प्रश्न) आपने नागानन्द के जीमूतवाहन को धीरोदात्त बतलाया है। उदात का अर्थ है सबसे बढ़कर रहना। यह तभी हो सकता है जब कि नायक में विजय प्राप्त करने की आकांक्षा हो। किन्तु कवि ने जीमूतवाहन को स्वयं अपने को जितवा देने की इच्छा करनेवाला ही रक्खा है। जैसे :—

तिष्ठन् भाति पितुः पुरो भुवि यथा सिंहासने किं तथा।
यत्संवाहयता सुखं हि चरणौ तातस्य किं राज्यतः॥
किं भुक्ते भुवनत्रये धृतिरसौ भुक्तोज्झिते या गुरोः।
आयासः खलु राज्यमुज्झितगुरोस्तत्रास्ति कश्चिद्गुणः॥

'किसी व्यक्ति की जो शोभा पिता के सामने पृथ्वी पर बैठने से होती है क्या वह सिंहासन पर बैठने से हो सकती है? पिता के चरणों को दाबने में जो सुख मिलता है क्या वह राज्य से प्राप्त हो सकता है? पिता के खाकर छोड़े हुए पदार्थ के खाने में जो आनन्द आता है क्या वह तीनों लोकों के भोग करने में आ सकता है? राज्य केवल आयास का ही कारण है। क्या पिता का परित्याग करनेवाले के लिए उसमें कोई भी गुण प्राप्त हो सकता है?'

यहाँ पर जीमूतवाहन इसी रूप में दिखलाया गया है कि वह अपने को जितवा देना चाहता है। इसी प्रकार :—

पित्रोविधीतु शुश्रूषां त्यक्त्वैश्वर्यं क्रमागतम्।
वनं याम्यहमप्येष यथा जीमूतवाहनः॥

'यह मैं भी अपने क्रमागत ऐश्वर्य का परित्याग कर माता-पिता को शुश्रूषा करने के लिए वन को जा रहा हूँ जिस प्रकार जीमूतवाहन चले गये थे।'

यहाँ पर निर्जिगीषुता ही दिखलाई गई है विजिगीषुता नहीं। अतएव जीमूतवाहन में शान्ति की अत्यन्त प्रधानता होने से तथा अत्यन्त कारुणिकता होने से वीतराग के समान धीर शान्तता ही कही जा सकती है। इसका धीरोदात्त कहना किस प्रकार संगत हो सकता है? दूसरी बात यह है कि यह भी अनुचित ही है कि नायक जीमूतवाहन को उस प्रकार राज्य और सुख इत्यादि में निरभिलाष दिखलाकर उसी के साथ मलयवती के अनुराग का वर्णन किया गया है। धीरशान्त का लक्षण करने में जो यह कहा गया है कि—'धीरशान्त में सामान्य गुण होते हैं और वह ब्राह्मण इत्यादि होता है।' यह लक्षण पारिभाषिक ही है वास्तविक नहीं। कारण यह है कि जो बिल्कुल शान्त है उसके अन्दर विनय इत्यादि न ही हो सकता है और न उन गुणों की उसे आवश्यकता ही होती है। अतएव सामान्य गुण भी अन्य नायकों से धीरशान्त का विभेद नहीं बतला सकते। (जब शांत के लिए किन्हीं अन्य विशेषणों का प्रयोग हो ही नहीं सकता तब या तो यह कहना पड़ेगा कि ब्राह्मण इत्यादि सर्वदा शांत ही होते हैं या यह कहा जावेगा कि धीरोदात्त इत्यादि सभी नायक शांत होते हैं क्योंकि सामान्य गुण तो सभी में ही होते हैं।) अतएव जीमूतवाहन को हम धीरोदात्त नहीं कह सकते किन्तु वस्तुस्थिति से बुद्ध, युधिष्ठिर, जीमूतवाहन इत्यादि के व्यवहार, शांत रस को ही प्रगट करते हैं।

(उत्तर) जो यह कहा है कि सर्वोत्कृष्ट रूप में वर्तमान होना ही उदात्त का लक्षण है यह जीमूतवाहन में न हो यह बात नहीं है। विजिगीषुता केवल एक ही प्रकार की नहीं होती। जो शौर्य, त्याग, दया, आर्जव इत्यादि गुणों से दूसरों का अतिक्रमण करता है वही विजिगीषु कहा जाता है। जो दूसरों का अपकार

करते हुए धन-संग्रह में लगा रहता है वही विजिगीषु नहीं कहा जाता। यदि धन संग्राहक को ही धीरोदात्त कहें तो जो मार्ग में डाकेजनी का काम करते हैं वे भी धीरोदात्त कहे जावेंगे। राम इत्यादि का प्रधान मन्तव्य तो जगत् का परिपालन करना था। इसी मन्तव्य से वे दुष्टों को दण्ड देने में प्रवृत्त हुए थे। पृथ्वी इत्यादि का लाभ तो उनके लिए उसी कर्त्तव्य पालन के साथ संयोगवश प्राप्त हुआ ही कहा जावेगा। जीमूतवाहन ने तो प्राणों का भी परित्याग करके दूसरों का काम बनाया। अतएव वे तो सभी का अतिक्रमण कर गये। उन्हें तो केवल उदात्त ही नहीं उदात्ततम कह सकते हैं। जो 'पिता के सामने पृथ्वी पर स्थित होने में सिंहासन पर बैठने से अधिक आनन्द आता है' इत्यादि कहकर जो जीमूतवाहन की विषय पराङ्मुखता दिखलाई गई है वह ठीक ही है। अपने सुख की तृष्णा कृपणता को उत्पन्न करती है; विजिगीषु लोग उस प्रकार की तृष्णा से सर्वथा रहित होते हैं। यही बात कालिदास ने भी कही है :—

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोक हेतोः,
प्रतिदिनमथवा ते सृष्टिरेवं विधैव।
अनुभवति हि शिरसा पादयस्तीव्रमुष्णं,
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ॥

'आप अपने सुख की अभिलाषा से रहित हैं किन्तु लोक के लिए खेद को प्राप्त कर रहे हैं। अथवा आप जैसे व्यक्तियों का जन्म ही प्रतिदिन इसीलिए होता है। वृक्ष अपने सर पर तीव्र उष्णता का अनुभव करता है किन्तु आश्रितजनों के सन्ताप को शांत करता है।'

दूसरी बात यह है कि जीमूतवाहन का मलयवती से अनुराग वर्णित किया गया है। शांत रस के आश्रित नहीं हो सकता। अतएव शान्त रस के प्रतिकूल मलयवती के प्रति अनुराग का वर्णन ही जीमूतवाहन की शान्तता का निषेध कर देता है। शान्तता का अर्थ है अहङ्कार से रहित होना। अहङ्कार-सून्यता ब्राह्मण इत्यादि में स्वभाव सिद्ध होती है केवल पारिभाषिक ही नहीं होती। बुद्ध और जीमूतवाहन दोनों में निर्विशेष करुण विद्यमान है। किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि बुद्ध की करुणा निष्काम करुणा है और जीमूतवाहन की करुणा सकाम करुणा है। अतएव बुद्ध धीरशान्त नायक हैं और जीमूतवाहन धीरोदात्त नायक हैं।

(४) धीरोद्धत :—

दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो, मायाच्छद्मपरायणः ॥५॥
धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी, चलश्चण्डो विकत्थनः ॥

[जिसमें दर्प और मात्सर्य बहुत अधिक हो; जो माया और छद्म में लगा हुआ हो; जो अहङ्कारी हो; चञ्चल हो; उग्र स्वभाववाला हो; बढ़-बढ़कर बातें मारनेवाला हो उसे धीरोद्धत कहते हैं।]

दर्प, वीरता इत्यादि के मद को कहते हैं और मात्सर्य असहनशीलता को कहते हैं। माया और छद्म में अन्तर यह है कि माया-मन्त्रबल से अविद्यमान वस्तु के प्रकाशित कर देने को कहते हैं और छद्म केवल वञ्चना को कहते हैं। चञ्चल अनवस्थित को कहते हैं अर्थात् धीरोद्धत व्यक्ति का कोई निश्चय स्थिर नहीं रहता। धीरोद्धत का उदाहरण जैसे परशुराम--'कैलाश को उठाने की शक्ति रखनेवाले और तीनों भुवनों के विजय में समर्थ' इत्यादि वचनों में। अथवा जैसे रावण--'रावण की भुजायें तीनों लोकों की ऐश्वर्य लक्ष्मी का हठ-पूर्वक हरण करने में समर्थ हैं।' इत्यादि वचनों में।

यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि धीरललित इत्यादि शब्द यथोक्त गुणों के समारोप की अवस्था को ही बतलानेवाले हैं; अर्थात् धीरललित इत्यादि के जो निश्चिन्तत्व इत्यादि जो गुण बतलाये गये हैं उन गुणों के कारण ही धीर-ललित इत्यादि अवस्थाओं का आरोप हो जाता है। ये अवस्थायें स्वयंसिद्ध नहीं होतीं। जिस प्रकार बछड़ा, बैल, साँड़ इत्यादि जातिगत अवस्थायें हैं और इनका एक निश्चित व्यवस्थित रूप होता है उस प्रकार धीरललित इत्यादि कोई जातिगत व्यवस्थित अवस्थायें नहीं हैं। आशय यह है कि जिस प्रकार बछड़ा, बैल नहीं कहा जा सकता और बैल, साँड़ नहीं कहा जा सकता; इसी प्रकार साँड़, बैल नहीं कहा जा सकता और न बैल बछड़ा ही हो सकता है; क्योंकि सभी की जाति नियत होती है इनमें एक दूसरे की अवस्था का विपर्यय नहीं हो सकता। ऐसी बात धीरललित इत्यादि नायक की अवस्था के विषय में नहीं कही जा सकती क्योंकि धीरललित इत्यादि भेद कोई जातियाँ नहीं हैं। यदि ये जातियाँ होतीं तो महाकवियों के प्रबन्धों में विरुद्ध अनेक प्रकार के रूपों का कथन असङ्गत ही हो जाता; क्योंकि जाति में तो कोई अन्तर पड़ता नहीं है। इसके प्रतिकूल महाकवियों ने एक ही व्यक्ति में कई एक धर्म बतलाये हैं। उदाहरण के लिए भवभूति के परशुराम को लीजिए :--

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये।
जामदग्न्यश्च वोमित्र मन्यथा दुर्मनायते॥

'ब्राह्मणों के अतिक्रमण का परित्याग आपके कल्याण के लिए ही है। अन्यथा तुम्हारा मित्र परशुराम कुपित हो जावेगा।'

यहाँ पर रावण के प्रति परशुराम धीरोदात्त दिखलाये गये हैं। वे ही राम

इत्यादि के प्रति 'कैलाश के उठाने की शक्ति रखनेवाले....' इत्यादि कथन में पहले तो धीरोद्धत दिखलाये गये हैं और बाद में 'ब्राह्मण जाति पवित्र होती है' इत्यादि कथन में धीरशान्त दिखलाये गये हैं। यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि एक ही व्यक्ति का विभिन्न अवस्थाओं में कथन करना अनुचित है। इसका उत्तर यह है कि जो नायक अङ्ग होते हैं उनका दूसरे नायकों के प्रति महातेजस्वी इत्यादि होने का कोई व्यवस्थित नियम नहीं है। किन्तु जो अङ्गी (प्रधान) नायक राम इत्यादि होते हैं उनकी एक ही प्रबन्ध में उपादान किये हुए समस्त पात्रों के प्रति एकरूपता नियत होती है। अतएव प्रारम्भ में उनके जिस रूप का उपादान किया जावे उनकी उस अवस्था से दूसरी अवस्था का उपादान करना अनुचित होता है। उदाहरण के लिए राम का धीरोदात्त रूप में चित्रण किया गया है। उनका छल से बालि-वध करना महातेजस्विता के प्रतिकूल है और उनमें औद्धत्य-गुण आ जाता है। इस प्रकार वहाँ पर अपनी-अपनी अवस्था का परित्याग अनुचित है।

यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्रधान नायक की अवस्था के परित्याग न करने का नियम इन्हीं धीरोदात्त इत्यादि नायकों के विषय में है। दक्षिण इत्यादि अग्रिम प्रकरण में आनेवाले नायकों के विषय में यह नियम लागू नहीं होता। उस प्रकरण में नायक का वर्णन करने में कहा गया है 'जो नायक अन्य नायिका के द्वारा हरण कर लिया गया हो वह प्रथम नायिका के प्रति दक्षिण इत्यादि होता है।' इससे यह सिद्ध होता है कि दक्षिण इत्यादि नायक प्रथम और दूसरी इत्यादि नायिकाओं की अपेक्षा ही दक्षिण इत्यादि हो सकते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि दक्षिण इत्यादि नायक चाहे वह प्रधान हो चाहे अप्रधान, अपनी स्वाभाविक अवस्था से भिन्न दूसरी अवस्था में वर्णन करना विरुद्ध नहीं होता।

नायक के भेद

शृंगार-सम्बन्धी नायक की निम्नलिखित अवस्थायें होती हैं :—

स दक्षिणः शठोधृष्टः पूर्वं प्रत्यन्यया हृतः ॥६॥

[दूसरी के द्वारा हरे हुए नायक की पूर्व नायिका के प्रति तीन अवस्थायें होती हैं दक्षिण, शठ और धृष्ट।]

यहाँ पर नायक का प्रकरण है। अतएव 'दूसरी के द्वारा हरे हुए' का अर्थ है। दूसरी नायिका के द्वारा हरे हुए चित्तवाला नायक तीन प्रकार का होता है। यदि उसका चित्त किसी दूसरी नायिका ने अपहृत न किया हो तो वह भी एक प्रकार होता है जिसका वर्णन आगे चलकर किया जावेगा। इस प्रकार शृंगार-

सम्बन्धी नायक चार प्रकार का होता है। इस प्रकार पूर्वोक्त चारों प्रकार के नायकों में प्रत्येक की चार अवस्थायें होने से नायक के १६ भेद हो गये। ललित इत्यादि चार भेदों की व्याख्या की जा चुकी। अब क्रमशः दक्षिण इत्यादि की व्याख्या की जा रही है।

(१) दक्षिण नायक :—

दक्षिणोऽस्यां सहृदयः

[दक्षिण नायक उसे कहते हैं जो अन्य नायिका के द्वारा अपहृत होते हुए भी प्रथम नायिका से सहृदयता का व्यवहार करे]

उदाहरण के लिए धनिक का पद्य लीजिए :—

प्रसीदत्यालोके किमपि किमपि प्रेमगुरवो-
रतिक्रीड़ाः कोऽपिप्रतिदिनमपूर्वोऽस्य विनयः।
सविश्रम्भः कश्चिच कथयति च किञ्चत्परिजनो-
नचाहं प्रत्येमि प्रियसखि किमप्यस्य विकृतिम्॥

'सामने आने पर प्रसन्न हो जाता है; इसकी रति क्रीडा कुछ अधिक प्रेम के कारण महत्त्वपूर्ण होती है; इनकी विनयशीलता प्रतिदिन अपूर्व ही ज्ञात होती है। किन्तु कोई विश्वसनीय परिजन उसके विषय में न जाने क्या-क्या कहता है। हे प्यारी सखी मुझे इसका जरा भी विकार लक्षित नहीं होता।'

दूसरा उदाहरण जैसे :—

उचितः प्रणयो वरं विहन्तुम् वहवः खण्डन हेतवो हि दृष्टाः।
उपचार विधिर्मनस्विनीनां ननु पूर्वाभ्यधिकोऽपिभाव शून्यः॥

'प्रणय का परित्याग ही उचित है, क्योंकि खण्डन के बहुत से हेतु देखे गये हैं। किन्तु मनस्विनी स्त्रियों की आदर-सत्कार की विधि पहले से भी अधिक है यद्यपि उसमें भावना बिलकुल नहीं है।

(२) शठ :—

गूढविप्रियकृच्छठः

[जो नायक पूर्व नायिका का चुपके-चुपके अपकार करे उस नायक को शठ कहते हैं।]

दक्षिण नायक का भी चित्त दूसरी नायिका के द्वारा अपहृत हो जाता है। अतएव वह भी पूर्व नायिका का चुपके-चुपके अपकार किया करता है, किन्तु अन्तर यह होता है कि दक्षिण नायक पूर्व नायिका के प्रति सहृदय रहता है किन्तु शठ नायक सहृदय नहीं रहता।

शठ नायक का उदाहरण :—

शठान्यस्याः काञ्चीमणिरणित माकर्ण्य सहसा,
यदाश्लिष्यन्नेव प्रशिथिल भुजग्रन्थिरभवः।
तदेतत्क्वाचक्षे घृतमधुमयत्वाद्बहुवचो-
विषेणाघूर्णन्ती किमपि न सखी मे गणयति ॥

'हे शठ ! जिस समय तुम उस नायिका का आलिङ्गन किये हुए थे उसी समय दूसरी नायिका की तगड़ी की मणि के शब्द को सहसा सुनकर तुम्हारी भुजाओं की ग्रन्थि सहसा शिथिल हो गई। अब हम यह बात किससे कहें कि तभी से लेकर वचनों के घी और शहदमय होने के कारण बहुत से वचन रूपी विष से चक्कर खाती हुई हमारी सखी कुछ नहीं गिनती है।'

(३) धृष्ट :—

व्यक्ताङ्गवैकृतोधृष्टः

[जिस अंगों में व्यक्त रूप से विकार हो उसे धृष्ट कहते हैं।]

जैसे अमरूशतक में :—

लाक्षालक्ष्मललाटपट्टमभितः केयूरमुद्रा गले,
वक्त्रे कज्जलकालिमानयनयोस्ताम्बूलरागोऽपरः।
दृष्ट्वा कोपविधायि मण्डनमिदं प्रातश्चिरं प्रेयसो
लीलातामरसोदरे मृगदृशः श्वासाः समाप्तिं गताः ॥

'ललाट पर के चारों ओर महावर का चिन्ह बना हुआ है, गले में केयूर की मोहर बनी हुई है; मुख में काजल की कालिमा लगी हुई है, नेत्रों में पान की दूसरी लाली लगी है।

प्रातःकाल प्रियतम के कोप को उत्पन्न करनेवाले इस श्रृंगार को देर तक देखकर, उस मृगनयनी के लीला कमल के मध्य में पड़नेवाले श्वास समाप्त हो गये।

यहाँ पर नायक के मस्तक में महावर के चिन्ह इत्यादि आभूषणों से परस्त्री-सम्भोग व्यक्त होता है जिससे नायिका के वियोगजन्य निश्वास रुक गये हैं। इस प्रकार गूढ़ रूप से अपकार करने के कारण यह शठ नायक है।

(४) जो नायक हमारी नायिका से अपहृत न किया गया हो उसे अनुकूल नायक कहते हैं। उसका लक्षण यह है :—

अनुकूलस्त्वेक नायिकः

[जिसके एक ही नायिका हो उसको अनुकूल नायक कहते हैं।]

जैसे उत्तर रामचरित में :—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यत्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रंतस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते ॥

'सुख और दुःख का जिसमें अभेद होता है; सब अवस्थाओं में जिसकी एकरूपता रहती है; जहाँ पर हृदय विश्राम पाता है; जिसका आनन्द वृद्धावस्था भी नष्ट नहीं कर सकती और वरण से लेकर ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता जाता है वैसे ही वैसे जो परिपक्व अवस्था को प्राप्त स्नेह के तत्व पर ही स्थित होता है; इस प्रकार का मनुष्य जीवन का कल्याण (दाम्पत्य जीवन का सुख) किसी ही किसी को बड़ी कठिनता से प्राप्त होता है।'

(प्रश्न) नाटिका के नायक वत्सराज इत्यादि को इन नायक भेदों की किस अवस्था में रक्खा जावेगा ? (उत्तर) जब तक दूसरी नायिका के प्रति अनुराग उत्पन्न नहीं हुआ तब तक वे अनुकूल नायक रहे; बाद में दक्षिण नायक हो गये (प्रश्न) जब वे गुप्त रूप से अपकार करते थे तो उन्हें शठ नायक क्यों नहीं माना जाता और जब कि उनका विकार और अपकार पूर्ण रूप से व्यक्त हो गये तो उन्हें धृष्ट नायक क्यों नहीं माना जाता ? (उत्तर) यद्यपि वत्सराज इत्यादि ने उस प्रकार का अपकार किया था किन्तु प्रबन्ध की समाप्ति पर्यन्त वे ज्येष्ठ नायिका के प्रति सहृदय ही बने रहे। अतएव उन्हें दक्षिण ही कहा जावेगा। (प्रश्न) ज्येष्ठा और कनिष्ठा इन दोनों नायिकों के प्रति एक साथ अनुराग हो ही किस प्रकार सकता है ? (उत्तर) ज्येष्ठा और कनिष्ठा दोनों के प्रति एक सा प्रेम हो सकने में कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार अनेक पुत्रों के प्रति एक साथ अनुराग होने में कोई विरोध नहीं है। उसी प्रकार अनेक प्रेमिकाओं के प्रति भी एक साथ प्रेम हो सकने में कोई विरोध नहीं। महाकवियों ने अपने प्रबन्धों में अनेक नायिकाओं के प्रति एक साथ अनुराग का वर्णन किया है। जैसे :—

स्नाता तिष्ठतिकुन्तलेश्वरसुता, वारोऽङ्गराजस्वसु-
र्द्यूते रात्रिरियं जिता कमलया देवी प्रसाद्याद्य च।
इत्यन्तःपुरसुन्दरीः प्रतिमया विज्ञाय विज्ञापिते
देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थितं नाडिकाः ॥

'कुंतलेश्वर की पुत्री स्नान किये बैठी है; अङ्गराज की बहिन की पारी है; कमला देवी ने जुये में यह रात जीत ली है; आज उन्हें भी प्रसन्न करना है। इस प्रकार अन्तःपुर की सुन्दरियों के विषय में जब मैंने समझकर विज्ञापित किया, तब देव अपनी बुद्धि में कुछ निश्चय न कर सकने के कारण मूढ़ मन होकर दो-तीन घड़ी चुपचाप बैठे रहे।'

इत्यादि स्थानों पर सब नायिकाओं के प्रति एक समान प्रेमपूर्ण बुद्धि का उपनिन्धन किया गया है। भरत ने भी लिखा है :—

मधुरस्त्यागी रागं न याति मदनस्य वापिवशमेति।
अवमानितश्च नार्या विरज्येत सतु भवेज्ज्येष्ठ:॥

[जो मधुर आकृतिवाला हो, न अनुराग को ही प्राप्त हो और न काम के वश में ही हो जावे; नारी के द्वारा अपमानित होकर जो विरक्त हो जावे वह ज्येष्ठ नायक होता है।]

यहाँ पर 'जो अनुराग को प्राप्त न हो और न काम के वश में ही हो जावे' कहने का आशय यही है कि दक्षिण नायक का एक ही नायिका के प्रति असाधारण प्रेम नहीं होना चाहिए। अतएव वत्सराज इत्यादि नाटक की समाप्ति पर्यन्त निरन्तर दक्षिण ही बने रहे हैं। उपर्युक्त १६ प्रकार के नायकों में प्रत्येक के ज्येष्ठ (उत्तम) मध्यम और अधम ये तीन भेद और होते हैं। इस प्रकार नायक के कुल मिलाकर ४८ भेद होते हैं।

नायक के सहायक

नायक के सहायक ये होते हैं :—

पताका नायकस्त्वन्य: पीठमर्दो विचक्षण:।
तस्यैवानुचरो भक्त: किञ्चिदूनश्च तद्गुणै: ॥८॥

[पूर्वोक्त प्रधान नायक से भिन्न पताका नायक होता है; यह निपुण होता है; इसे पीठमर्द कहते हैं, यह प्रधान नायक का ही अनुचर होता है। और उसी का भक्त होता है; यह उसके गुणों से कुछ न्यून होता है।]

पहले इतिवृत्त के दो भेद किये गये थे आधिकारिक और प्रासङ्गिक। आधिकारिक इतिवृत्त का नायक प्रधान नायक होता है और व्यापक प्रासङ्गिक इतिवृत्त (पताका) का नायक पीठमर्द होता है। यह प्रधान इतिवृत्त के नायक का सहायक होता है। जैसे मालती-माधव में मकरन्द या रामायण में सुग्रीव।

दूसरे सहायक ये होते हैं :—

एक विद्योविटश्चान्यो हास्यकृच्च विदूषक:।

[एक विद्या को जाननेवाला विट कहलाता है और हँसी करनेवाला विदूषक कहलाता है।]

गीत इत्यादि नायक की उपयोगिनी विद्याओं में एक का जाननेवाला विट कहलाता है और हँसी मसखरी करनेवाला विदूषक कहलाता है। विदूषक के हास्य के गुण से ही उसका विकृत आकार और वेष इत्यादि सिद्ध हो जाते हैं। जैसे नागानन्द में शेखरक विट है और विदूषक तो प्रसिद्ध ही है।

प्रतिनायक का लक्षण यह है :—

लुब्धो धीरोद्धत: स्तब्ध: पापकृद्व्यसनी रिपु: ॥९॥

[पूर्वोक्त नायक का शत्रु लोभी धीरोद्धत, जड़ प्रकृति का, पापी और व्यसनी होता है ।] जैसे राम और युधिष्ठिर का प्रति नायक रावण और दुर्योधन ।

नायक के सात्विक गुण

नायक के सात्विक गुण ये होते हैं :—

शोभा विलासोमाधुर्यं गाम्भीर्यं धैर्यतेजसी ।
ललितौ दार्यमित्यष्टौ सत्त्वजा: पौरुषा गुणा: ॥१०॥

[नायक के आठ सात्विक गुण शोभा इत्यादि होते हैं ।]

इन गुणों की क्रमश: व्याख्या की जा रही है ।

(१) शोभा :—

नीचे घृणाऽधिके स्पर्धा शोभायां शौर्यदक्षते ।

[शोभा में नीच के प्रति घृणा और अधिक के प्रति स्पर्धा होती है तथा शौर्य और दक्षता ये होते हैं ।]

(अ) नीच के प्रति घृणा का उदाहरण । जैसे वीर चरित में :—

उत्तालताऽकोत्पातदर्शनेऽप्यप्रकम्पित ।
नियुक्तस्तत्प्रमाथाय स्त्रैणेन विचिकित्सति ।

'ताडका के प्रमथन के लिए नियुक्त श्री रामचन्द्रजी उसके भीषण उपद्रव को देखने पर भी बिल्कुल प्रकम्पित नहीं हुए । उनके हृदय में केवल यही संकल्प-विकल्प उत्पन्न हुआ कि बेचारी स्त्री को क्या मारें ।'

(आ) गुणों में बढ़े-चढ़े लोगों के प्रति स्पर्धा का उदाहरण :—

एतां पश्य पुर:स्थलीमिह किल क्रीडाकिरातो हर:,
कोदण्डेन किरीटिना सरभसं चूडान्तरे ताडित:-
इत्याकर्ण्य कथाद्भुतं हिमनिधावद्रौ सुभद्रापते-,
र्मन्दंमन्दमकारि येन निजयोर्दोर्दण्डयोर्मण्डलम् ॥

'इस स्थल को देखो, कहा जाता है कि यहाँ पर क्रीडा किरात का रूप धारण करनेवाले शङ्करजी के मस्तक के बीच में किरीटी (अर्जुन) ने अपने धनुष से बड़े वेग से प्रहार किया था । सुभद्रापति (अर्जुन) की इस अद्भुत कथा को सुनकर हिमालय पर्वत पर उसने धीरे-धीरे धनुष के आकार का अपनी भुजाओं का मण्डल बनाया ।'

(इ) अन्त्रै: स्वैरपि संयताग्रचरणो मूर्छाविरामक्षणे-
स्वाधीनव्रणिताङ्गशस्त्रनिचितो रोमोद्गमं वर्मयन् ।

भग्नानुद्दलयन्निजान् परभटान्: सन्तर्जयन्निष्ठुरं,
धन्यो नाम जयश्रियः पृथुरणस्तम्भे पताकायते ॥

'जिसकी अपने ही आँतों से पैरों के अग्रभाग बँध रहे हों; जो अपने स्वाधीन घाव-पूर्ण अंगों में शस्त्रों से भरा हुआ हो और मूर्छा के विरामकाल में भी रोमाञ्च को कवच बनाते हुए, भागनेवाले अपने सैनिकों में उत्साह का सञ्चार कर लौटाते हुए शत्रु सैनिकों को कठोरता से धमकाते और डराते हुए जो विशाल युद्ध रूपी स्तम्भ में विजयश्री की पताका बन जाता है वह धन्य है।'

(ई) दत्तशोभा जैसे वीरचरित में। 'स्फूर्जद्वज्रसहस्रनिर्मितमिव ...... भग्नं च तत्।'

(२) विलास :—

गतिः सधैर्या दृष्टिश्च विलासे सस्मितं वचः ॥११॥

[विलास में चाल और दृष्टि धैर्यपूर्ण होती है और वचन मुस्कुराहट-पूर्ण होते हैं।]

उदाहरण :—

दृष्टिस्तृणीकृतजगन्त्रयसत्वसारा
धीरोद्धता नमयतीवगतिर्धरित्रीम्।
कौमारकेऽपि गिरिवद्गुरुतां दधानो
वीरो रसः किमयमित्युत दर्प एव ॥

उसकी दृष्टि ऐसी गम्भीर पड़ती है जैसे मानो वह तीनों लोकों के बल को तिनके के समान समझता हो। उसकी धीर और उद्धत गीत मानों पृथ्वी को झुका रहे हो; वह कौमार अवस्था में भी पर्वत के समान गुरुत्व धारण किये हुए हैं; वह ऐसा शोभित हो रहा है जिसे देखकर स्वभावतः कल्पना उठने लगती है कि यह साक्षात् वीररस है अथवा दर्प ही है।'

(३) माधुर्य : —

श्लक्ष्णो विकारो माधुर्यं संक्षोभे सुमहत्यपि।

[महान् संक्षोभ के कारण के उपस्थित होते हुए भी कोमल विकार का उत्पन्न होना माधुर्य कहलाता है।]

जैसे :—

कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुषि,
स्मरस्मेरं गंडोड्डमरपुलकं वक्त्रकमलम्।
मुहुः पश्यन् श्रृंवन् रजनिचरसेनाकलकलम्
जटाजूट ग्रन्थिं द्रढ्यति रघूणां परिवृढः ॥

'हाथी के बच्चे के दाँतों की शोभा का भी अपहरण करनेवाले जानकी के

कपोलों पर कामोद्वेग की मुस्कुराहट से युक्त गण्डस्थल पर उठे हुए रोमाञ्चवाले मुख-कमल को बार-बार देखते हुए और राक्षसों की सेना का कलकल सुनते हुए रघुवंशियों में श्रेष्ठ श्री रामचन्द्रजी अपनी जटाजूट की ग्रन्थि को दृढ़ करा रहे थे।'

(४) गाम्भीर्य :—

गाम्भीर्यं यत्प्रभावेन विकारो नोपलक्ष्यते।

[जिस गुण के प्रभाव से विकार न दिखलाई पड़े उस गुण को गाम्भीर्य कहते हैं।]

माधुर्य में मृदु विकार लक्षित होता है किन्तु गाम्भीर्य में बिल्कुल ही विकार लक्षित नहीं होता। यही माधुर्य और गाम्भीर्य का अन्तर है। गाम्भीर्य का उदाहरण :—

आहूतस्याभिषेकाय, विसृष्टस्य वनाय च।
न यया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारं विभ्रमः॥

'अभिषेक के लिए बुलाये हुए और वन को भेजे हुए उन रामचन्द्रजी के आकार का जरा भी बिगाड़ मुझे दिखाई नहीं पड़ता।'

(५) स्थैर्य :—

व्यवसायादचलनं स्थैर्यं विघ्नकुलादपि।

[विघ्नों के समूहों के होते हुए भी अपने कार्य से अलग होना स्थैर्य कहलाता है।]

जैसे वीरचरित में :—

प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात्।
न त्वेवदूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम्॥

'आप जैसे पूज्यों का अतिक्रमण करने से उत्पन्न हुए पाप का हम प्रायश्चित्त कर लेंगे। किन्तु शस्त्र ग्रहण करने के महाव्रत को दूषित नहीं करेंगे।'

अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि॥१३॥

[प्राणों की आपत्ति आने पर भी आक्षेप इत्यादि का न सहना तेज कहलाता है।]

उदाहरण :—

ब्रूत नूतनकूष्माण्डफलानां के भवन्त्यमी।
अंगुलीदर्शनाद्येन न जीवन्ति मनस्विनः॥

'बतलाओ ये मनस्वी लोग नवीन कुम्हड़े के फलों के कैसे लगते हैं? जो कि उन्हीं के समान ये भी अँगुली दिखलाने मात्र से ही, जीवित नहीं रहते। (अर्थात् अँगुली) दर्शन भर के अपमान से ही अपने प्राणों पर भी खेल जाते हैं।'

(७) ललित :—

श्रृंगाराकार चेष्टात्वं सहजं ललितं मृदु ।

[स्वाभाविक श्रृंगार और आकार की चेष्टा करने को ललित कहते हैं यह मृदु होता है ।]

स्वाभाविक श्रृंगार को मृदु कहते हैं और उस प्रकार की श्रृंगार की चेष्टाओं को ललित कहते हैं । उदाहरण जैसे धनिक का ही पद्य लीजिए :—

लावण्यमन्मथविलासविजृम्भितेन,
स्वाभाविकेन सुकुमारयनोहरेण ।
किं वा ममेव सखि योऽपि ममोपदेष्टा,
तस्यैव किं न विषमं विदधीत तापम् ॥

'हे सखि ! सौंदर्य और काम चेष्टाओं के स्वाभाविक और सुकुमार विजृम्भण (स्फुरण) के द्वारा जिस प्रकार मुझे विषय सन्ताप उत्पन्न हो रहा है उसी प्रकार जो इसका मुझे उपदेश देनेवाला है अर्थात् जो मेरे अन्तःकरण में सन्ताप को उत्पन्न करनेवाला है उसी के अन्दर यह विषम सन्ताप क्यों नहीं उत्पन्न किया जाता ।'

(८) औदार्य :—

प्रियोक्त्याऽऽजीविताद्दानमौदार्यं सदुपग्रहः ॥१४॥

[प्रिय वचनों के साथ जीवन पर्यन्त सभी कुछ दे देना औदार्य कहलाता है और सज्जनों के अनुकूल रहने (सदुपग्रह) को भी औदार्य कहते हैं ।]

दान का उदाहरण जैसे नागानन्द में :—

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।
तृप्तिं न पश्यामितवाधुनापि किं भोजनात्त्वं विरतो गरुत्मन् ॥

'मेरी शिराओं के मुख से रक्त निकलता ही है; अब भी मेरी देह में मांस विद्यमान है । मुझे तुम अभी तक तृप्त भी नहीं मालूम पड़ रहे हो; फिर हे गरुड़ तुम खाने से क्यों रुक गये ?'

सदुपग्रह का उदाहरण :—

एते वयममीदाराः कन्येयं कुलजीवितम् ।
ब्रूत येनात्र वः कार्यमनास्था वाह्यवस्तुषु ॥

'यह हम हैं; यह हमारी पत्नी है; यह कुल की जीवन कन्या है; जिस वस्तु की तुम्हें आवश्यकता हो बतलाओ । हमारी आस्था बाह्य वस्तुओं में नहीं है ।'

नायिका-भेद

स्वान्या साधारण स्त्रीति तद्गुणानायिका त्रिधा ।

[नायिका में भी नायक के समान ही गुण होते हैं। यह तीन प्रकार की होती है-(१) स्वकीया, (२) परकीया और (३) साधारण स्त्री।]

नायिका में नायक के गुण हों; कहने का आशय यही है कि जहाँ तक सम्भव हो नायिका में भी नायक के पूर्वोक्त गुण होना चाहिए।

स्वकीया का सामान्य लक्षण और भेद

उपर्युक्त नायिका भेदों में स्वकीया का सामान्य लक्षण और उसके भेद बतलाये जा रहे हैं :-

मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वीया शीलार्जवादियुक् ॥ १५ ॥

[जो नायिका शील और सरलता आदि से युक्त हो उसे स्वकीया कहते हैं। उसके तीन भेद होते हैं-(१) मुग्धा, (२) मध्या और (३) प्रगल्भा।]

स्वकीया नायिका शीलवती अर्थात् सदाचार से युक्त पतिव्रता, कुटिलता रहित, लज्जावती और पतिसेवा परायण होती है।

(१) शीलवती होने का उदाहरण :-

कुल वालिआए पेच्छह जोव्वणलाअण्णविब्भमविलासा।
पसवंति पवसिए एन्तिव्व पिये घरं एत्ते ॥

[कुल वालिकायाः प्रेक्षध्वं यौवनलावण्यविभ्रम विलासाः।
प्रवसन्तीव प्रवसिते आगच्छन्तीव प्रियेगृहमागते ॥]

'कुल वालिकाओं के यौवन, लावण्य और विलास चेष्टाओं को देखो। प्रियतम के परदेश को चले जाने पर मानों ये चेष्टायें परदेश को चली जाती हैं और प्रिय के घर आने पर मानों लौट आती हैं।'

(२) सरलता इत्यादि से युक्त होने का उदाहरण :--

हसिअमविआरमुद्धं भमिअं विरहिअविलाससुच्छाअं।
भणिअं सहावसरलं धण्णाण धरे कलत्ताणम् ॥

[हसितमविचारमुग्धं भ्रमितं विरहितविलाससुच्छायम्।
भणितं स्वभावसरलं धन्यानां गृहे कलत्राणाम् ॥]

'जिन स्त्रियों की हँसी बिना विचार के ही प्रवृत्त होने के कारण मुग्धता से भरी हुई हो; जिनका चलना-फिरना विलासों की शोभा से रहित हो और जिनकी बातचीत स्वभाव से ही सरल हो ऐसी पत्नियाँ भाग्यशालियों के घर में ही होती हैं।'

(३) लज्जावती का उदाहरण :--

लज्जापज्जन्तपसाहणाइं परतित्तिणिप्पिपासाइं।
अविण अदुम्मेहाइं धण्णाण धरे कलत्ताइं ॥

[लजापर्याप्त प्रसाधनानि, परभर्तृनिर्पिपासानि।
अविनय दुर्मेधांसि, धन्यानां गृहे कलत्राणि ॥]

'धन्य पुरुषों के घर में ऐसी स्त्रियाँ होती हैं कि लज्जा ही उनका पर्याप्त श्रृंगार होता है; वे दूसरों के पतियों की बिल्कुल प्यास नहीं रखतीं और अविनय को बिल्कुल ही नहीं समझतीं।'

इस प्रकार की स्वकीया नायिका के तीन भेद होते हैं–मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा।

(१) मुग्धा :—

मुग्धानववयः कामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि।

[मुग्धा नायिका जिसे कहते हैं जिसकी आयु नवीन हो, कामना नवीन हो, रति में जो प्रतिकूलता दिखलावे और क्रोध में कोमल हो।]

आशय यह है कि जिसके यौवन का प्रथम ही अवतार हुआ हो; जिसमें काम का प्रथम ही सञ्चार हुआ हो, जो रति में बड़ी ही अरुचि प्रगट करे और क्रोध करने में शीघ्र मान जावे उसे मुग्धा कहते हैं।

(अ) वयोमुग्धा का उदाहरण :—

विस्तारी स्तनभार एष गमितो न स्वोचितामुन्नतिम्।
रेखोद्भासिकृतं वलित्रयमिदं न स्पष्टनिम्नोन्नतम्॥
मध्येऽस्यात्रृजुरायतार्धकपिशा रोमावलीनिर्मिता।
रम्यं यौवनशैशव व्यतिकरोन्मिश्रं वयो वर्तते॥

'यह विस्तृत होनेवाला स्तन मण्डल अभी तक अपनी पूरी उन्नति को प्राप्त नहीं हो सका है; तीनों वलियाँ रेखा से तो शोभित होने लगी हैं किन्तु अभी तक इनकी ऊँचाई नीचाई स्पष्ट नहीं हुई है; इसके मध्य भाग में सीधी रोमावली तो बन गई है किन्तु वह अभी आधी कपिश वर्ण की ही है; इस प्रकार इसकी जवानी और बचपन के मेल की आयु बड़ी सुन्दर ज्ञात हो रही है।'

दूसरा उदाहरण जैसे धनिक का श्लोक :—

उच्छ्वसन्मण्डलप्रान्तरेखमाबद्धकुड्मलम।
अपर्याप्त मुरोवृद्धेः शसत्यस्याः स्तनद्वयम्॥

'इसके स्तन मण्डल के प्रांत की रेखा कुछ फूल आई है; कलियाँ सी बँध गई हैं; इस समय इसके दोनों स्तन यह प्रगट कर रहे हैं कि इसकी छाती की वृद्धि अभी पूरी नहीं हो पाई है।'

(आ) काम मुग्धा का उदाहरण :—

दृष्टिः सालसतां बिभर्ति न शिशुक्रीडासु बद्धादरा
श्रोत्रे प्रेषयति प्रवर्तितसखीसम्भोगवार्तास्वपि।
पुंसामङ्कमयेतशङ्कमधुना नारोहति प्राग्यथा
बाला नूतनयौवनव्यतिकरावष्टभ्यमाना शनैः॥

'इस समय इस बाला की दृष्टि आलस्य-पूर्ण है; यह शिशुओं की क्रीड़ा में अब बहुत आनन्द नहीं लेती; जब सखियाँ सम्भोग की बात करती हैं तब यह अपने कान उस ओर को दौड़ाती है; नवीन यौवन के धीरे धीरे सञ्चारित हो जाने से रोकी हुई यह बाला अब शङ्का को छोड़कर पुरुषों की गोद में नहीं बैठती है।'

(इ) रति में वाम होने का उदाहरण :--

व्याहृता प्रतिवचो न सदधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः॥

'जब शङ्कर जी ने पार्वती जी से बातचीत करनी चाही तो उसने उत्तर नहीं दिया; जब उसके वस्त्र पकड़े गये तब उसने चले जाने की इच्छा की; चारपाई पर दूसरी ओर को करवट लेकर लेट गई; किन्तु फिर भी उस पार्वती की ये सारी चेष्टायें शङ्कर जी के हृदय में अनुराग ही उत्पन्न करनेवाली थीं।'

(ई) कोप में मृदु होने का उदाहरण :--

प्रथमजनिते बाला मन्यौ विकारमजानती
कितवचरिते नासज्याङ्के विनम्रमुजैव सा।
चिबुकमलिकं चोन्नम्योच्चैरकृत्रिम विभ्रमा
नयनसलिलस्यन्दिन्योष्ठेरुदन्त्यपि चुम्बिता॥

'पहली ही बार कोप का कारण उत्पन्न हुआ था; अतएव वह बाला कोप के विकार को प्रगट करने का ढंग नहीं जानती थी, उस समय वह अपनी भुजाओं को नीचे ही किये रही किन्तु उस धूर्त चरित्र वाले नायक ने बलात् उसे गोद में बैठा लिया; उस समय उसके विलास बिल्कुल बनावट से रहित थे उसी समय उसकी ठोढ़ी को जोर से ऊपर को उठाकर नेत्रों के जल से भीगे हुए ओठों में प्रियतम ने उसका चुम्बन ले लिया।'

इसी प्रकार मुग्धाओं के अन्य व्यवहारों का भी वर्णन करना चाहिए जिसमें अनुराग का निबन्धन लज्जा से आवृत्त हो। जैसे :--

न मध्ये संस्कारं कुसुममपि बाला विषहते,
न निश्वासैः सुभ्रूर्जनयति तरङ्गव्यतिकरम्।
नवोढा पश्यंती लिखितमिव भर्तुः प्रतिमुखम्,
प्ररोहद्रोमाञ्चा न पिबति न पात्रं चलयति॥

नवोढा नायिका प्रियतम के साथ शराब पी रही है; प्रियतम के मुख की झलक मदिरा-पात्र में पड़ती है। नायिका मुख के प्रतिबिम्ब को देखने में ऐसी मस्त है कि शराब पीती ही नहीं। उसी का वर्णन कवि कर रहा है— 'वह बाला पान पात्र में बीच में फूल के संस्कार को भी नहीं कर सकती है; वह

सुन्दर भौंहोंवाली (नायिका) श्वांस भी जोर से नहीं लेती जिससे कहीं तरङ्गों के उत्पन्न होने से प्रियतम का मुखबिम्ब दृष्टि से ओझल न हो जावे; वह नव-विवाहिता पत्नी प्रियतम के मुख के प्रतिबिम्ब को पान पात्र में चित्रित सा देखती है, उसके रोमाञ्च उत्पन्न हो गये हैं और वह न तो मदिरा ही पी रही है और न पात्र को ही हिलाडुला रही है।'

(२) मध्या नायिका :—

मध्यौद्यद्यौवनानङ्गा मोहान्त सुरत क्षमा ॥ १६ ॥

[जिसका यौवन और काम वृद्धि को प्राप्त हो रहा हो और जो अन्त में मोह युक्त सुरत में समर्थ हो ऐसी नायिका को मध्या कहते हैं।]

(अ) यौवनवती का उदाहरण :—

आलापान् भ्रविलासोविरलयति लसब्दाहुविक्षिप्तयातम्।
नीवींग्रन्थिं प्रथिम्ना प्रतनयति मनाङ मध्यनिम्नो नितम्बः ॥
उत्पुष्पत्पार्श्वम् उच्छ्वंतकुचशिखरमुरो नूनमन्तःस्मरेण।
स्पृष्ठा कोदण्डकोट्या हरिणशिशुदृशोदृश्यते यौवनश्रीः ॥

'भ्रूविलास वार्तालाप को विरल बना रहा है अर्थात् वार्तालाप के मध्य में भ्रूविलास अधिक प्रगट हो रहा है, बाहों के विक्षेप से युक्त गमन शोभित हो रहा है; नितम्ब विशाल है और कमर पतली है; अतएव नितम्ब अपने विस्तार के कारण नीवी की गाँठ को कुछ अधिक शिथिल और विस्तृत बना रहा है। छाती पर स्तनों का ऊपरी भाग उठ रहा है और उसके किनारे फूल के समान खिल रहे हैं; दृष्टि हरिण के बच्चे के समान चञ्चल हो रही है। इस प्रकार नायिका की यौवन की शोभा ऐसी ज्ञात हो रही है मानों अन्तःकरण में कामदेव ने अपने धनुष की नोक से उसका स्पर्श कर लिया हो।'

(अ) कामवती का उदाहरण :—

स्मर नव नदीपूरेणोढाः पुनर्गुरुसेतुभिः,
यदपिविधृतास्तिष्ठन्त्यारादपूर्णमनोरथाः।
तदपिलिखितप्रख्यैरङ्गैः परस्पवरमुन्मुखाः,
नयननलिनी नालाकृष्टं पिवन्ति रसं प्रियाः ॥

'कामदेवरूपी नवीन नदी के प्रवाह के द्वारा बहाकर लाये हुए, पुनः गुरु रूपी सेतु के द्वारा रोके हुए अपूर्ण मनोरथ वाले जो प्रेमी-जन निकट ही बैठे हैं और जो खिले से अंगों के द्वारा एक दूसरे की ओर उन्मुख प्रतीत हो रहे हैं वे नयन रूपी नलिनी की नाल से लाये हुए रस का पान कर रहे हैं।'

(इ) मध्या के सम्भोग का पर्यवसान मोह (अध्यास शून्यता) में होता है। जैसे :—

ताव चि अ रइसमए महिलाणं विब्भमा विराअन्ति ।
जाव ण कुवलयदलसच्छहाइ मउलेन्ति णअणाइं ॥
[तावदेव रति समये महिलानां विभ्रमा विराजन्ते ।
यावन्न कुवलयदल स्वच्छाभानि मुकुलयन्ति नयनानि ॥]

'रति काल में महिलाओं के विलास तभी तक शोभित होते हैं जब तक कुवलय दल के समान स्वच्छ कान्ति वाले नेत्र मुकुलित नहीं हो जाते।'

मध्या नायिका के तीन भेद होते हैं धीरा, अधीरा और धीराधीरा। सम्भोगावस्था में इनके उदाहरण समझ लेने चाहिए।

अब यह बात बतलाई जा रही है कि मध्या का मान किस प्रकार होता है :—

धीरा सोत्प्रासवक्रोक्त्या मध्या साश्रु कृतागसम् ।
खेदयेद्दयितं कोपादधीरा परुषात्तरम् ॥ १७ ॥

(मध्या धीरा आक्षेप और वक्रोक्ति से, मध्या धीराधीरा आँसुओं के साथ आक्षेप और वक्रोक्ति से तथा मध्या अधीरा क्रोध से कठोर शब्दों द्वारा अपराधी प्रियतम को खिन्न करती है।)

कारिका के धीरा शब्द का अर्थ है मध्या धीरा; मध्या शब्द का अर्थ है मध्य श्रेणी की अर्थात् धीराधीरा और अधीरा शब्द का अर्थ है मध्या अधीरा।

(क) मध्या धीरा आक्षेप और वक्रोक्ति से प्रियतम के हृदय में खेद उत्पन्न करती है। जैसे माघ में

'न खलु वयममुष्य दान योग्याः
पिबतिच पाति च यासकौ रहस्त्वाम ।
व्रज विटपममुं ददस्व तस्यै
भवतु यतः सदृशोश्चिराय योगः ॥'

किसी नायक का अपराध व्यक्त हो गया है; वह नायिका को मनाने के मन्तव्य से नायिका के निकट आकर उसे वृक्ष के एक विटप को देने लगा। तब वह नायिका बोली— 'निस्सन्देह हम इस विटप के दान के योग्य नहीं हैं; जाओ यह विटप उसको दो जो एकान्त में तुम्हें पीती भी है और तुम्हारी रक्षा भी करती है अर्थात् तुम्हें छिपाती भी है। वह तुम्हारी प्रियतमा भी विटप (विट+प=बदमाश को पीनेवाली या उसकी रक्षा करनेवाली) है और यह भी विटप है। अतएव इन दोनों समानों का बहुत समय तक संयोग बना रहेगा।'

(ख) मध्या धीराधीरा आँसुओं के साथ आक्षेप और वक्रोक्ति से प्रियतम के हृदय में खेद उत्पन्न करती है। जैसे :—

बाले नाथ विमुञ्च मानिनि रूषं रोषान्मया किं कृतम् ।
खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान्सर्वेऽपराधामयि ।
तत्किं रोदिषि गद्‌गदेन वचसा कस्याग्रतो रुद्यते ।
नन्वेतन्मम का तवास्मि दयिता नास्मीत्यतो रुद्यते ॥

'प्रियतम--'बाले !' नायिका--'नाथ !' प्रियतम--'हे मानिनि ! क्रोध छोड़ दो ।' नायिका--'क्रोध करके हमने क्या कर लिया ?' प्रियतम--'हमारे हृदय में खेद उत्पन्न कर दिया ।' नायिका--'आपका तो कोई अपराध ही नहीं सब अपराध मेरे ही हैं ।' प्रियतम--'फिर गद्‌गद् वचनों के साथ क्यों रो रही हो ?' नायिका--'मैं किसके सामने रो रही हूँ ?' प्रियतम--'यह देखो मेरे ही सामने ?' नायिका--'मैं तुम्हारी कौन हूँ ?' प्रियतम--'तुम मेरी प्रियतमा हो ।' नायिका--'प्रियतमा ही नहीं हूँ इसी से तो रो रही हूँ ।'

(ग) मध्या अधीरा आँसू बहाती है और कठोर शब्द कहती है । जैसे :--

यातु-यातु किमनेन तिष्ठता मुञ्च-मुञ्च सखि ! मादरं कृथाः ।
खण्डिताधरकलङ्कितं प्रियं शक्नुमो न नयनैर्निरीक्षितुम् ॥

'हे सखि ! जाने दो जाने दो इसके यहाँ बैठने से क्या लाभ; हे सखि ! छोड़ दो छोड़ दो ! इसका आदर मत करो । खण्डित अधर से कलङ्कित प्रिय को मैं नेत्रों से भी नहीं देख सकती ।'

मध्या से कुछ ऐसे ही और भी व्यवहार होते हैं जिनमें लज्जा की अधिकता नहीं होती किन्तु वे स्वयं ही अपने प्रियतमों के सामने प्रेम का व्यवहार प्रारम्भ नहीं करतीं । जैसे :--

स्वेदाम्भः कणिकाञ्चितेऽपि वदने जातेऽपि रोमोद्‌ये
विश्रम्भेऽपिगुरौ पयोधर भरोत्कम्पेऽपि वृद्धिंगते ।
दुर्वारस्मर निर्भरेऽपि हृदये नैवारभियुक्तः प्रिय—
स्तन्वङ्ग्या हठकेशकर्षण घनाश्लेषामृतेलुब्धया ॥

'यद्यपि उस तन्वङ्गी का बदन पसीने की बूँदों से भरा हुआ था; उसको रोमाञ्च भी हो रहा था; प्रियतम में महान् विश्वास भी उत्पन्न हो गया था, स्तन भार का उत्कम्पन भी वृद्धि को प्राप्त हो गया था, हृदय दुर्वार काम पीड़ा से परिपूर्ण था फिर भी उस नायिका ने मानों बलात् केशाकर्षण और घने अलिङ्गन रूप अमृत के लोभ से प्रियतम के प्रति स्वयं अपनी कामना व्यक्त नहीं की ।'

(३) प्रगल्भा :--

यौवनान्धा स्मरोन्मत्ता प्रगल्भा दीयताङ्गके ।
विलीयमानेवानन्दाद्रतारम्भेऽप्यचेतना ॥१८॥

[जो यौवन के कारण अन्धी हो रही हो, काम के वेग से उन्मत्त हो,

प्रियतम के निकट मानों आनन्दवश अंगों में घुसी सी जा रही हो और सुरत के प्रारम्भ में ही जो आनन्दातिरेक के कारण बेहोश सी हो जावे उसे प्रगल्भा नायिका कहते हैं।]

गाढ यौवना का उदाहरण :—

अभ्युन्नतस्तनमुरो नयने सुदीर्घे,
वक्रे भ्रुवावतितरां वचनं ततोऽपि।
मध्योऽधिकं तनुरतीव गुरुर्नितम्बो,
मन्दा गतिः किमपि चाद्भुत यौवनायाः॥

'छाती स्तनों की ऊँचाई से परिपूर्ण है, नेत्र सुविशाल हैं, भौंहें टेढ़ी हैं और वचन उनकी अपेक्षा भी अत्यन्त टेढ़े हैं, मध्य बहुत ही कृश हो रहा है और नितम्ब अत्यन्त विशाल हो रहे हैं, उस अद्भूत यौवनवाली नायिका की चाल भी कुछ-कुछ मन्द हो रही है।'

दूसरा उदाहरण :—

स्तनतटमिदमुत्तुङ्ग निम्नो मध्यः समुन्नतं जघनम्।
विषमे मृगशावाद्या वपुषि नवेक इव न स्खलति॥

'मृगनयनी का यह स्तन तट ऊँचा हो रहा है, मध्य भाग नीचा है, जंघाएँ ऊँची हैं, इस प्रकार मृगनयनी के इस ऊँचे-नीचे शरीर में ठोकर खाकर कौन नहीं गिर जावेगा।'

भाव प्रगल्भा का उदाहरण :—

न जाने सम्मुखायाते प्रियाणि वदति प्रिये।
सर्वाण्यङ्गानि मे यान्ति नेत्रतामुत कर्णताम्॥

'प्रियतम के सामने आने पर और प्रिय वचनों के कहने पर नहीं पता मेरे सभी अंग नेत्र बन जावेंगे या कान बन जावेंगे।'

रतप्रगल्भा का उदाहरण :—

कान्ते तल्पमुपागते विगलिता नीवी स्वयं बन्धनात्।
वासः प्रश्लथमेखला गुणधृतं किञ्चिन्नितम्बे स्थितम्।
एतावत्सखि वेद्मि केवलमहं तस्याङ्गसङ्गे पुनः।
कोऽसौ कास्मि रतं नु किं कथमिति स्वल्पापि मे न स्मृतिः॥

'प्रियतम के चारपाई पर आने पर मेरी नीवी की गाँठ स्वयं खुल पड़ी, कपड़ा भी सरक गया और वह तगड़ी के गुण से रोका हुआ कुछ थोड़ा सा नितम्ब पर पड़ा रहा। बस मैं केवल इतना ही जानती हूँ। इसके बाद उस नायक के अंगों का मेल होने पर मुझे कुछ याद नहीं रहा कि वह कौन है, मैं कौन हूँ, सहवास क्या है और मेरा सहवास किस प्रकार हुआ।'

इसी प्रकार के प्रगल्भा के दूसरे भी व्यवहार दिखलाये जाने चाहिए जिसमें लज्जा का नियन्त्रण हट गया हो और जिसमें वैदग्ध्य (निपुणता) अधिक हो। जैसे :—

क्वचित्ताम्बूलाक्तः क्वचिदगुरु पङ्काङ्कमलिनः।
क्वचिच्चूर्णोद्गारी क्वचिदपि च सालक्तकपदः।
बलीभङ्गाभोगैरलकपतितैः शीर्णकुसुमैः,
स्त्रियाः सर्वावस्थं कथयति रतं प्रच्छदपटः॥

'रात का बिछौने का वस्त्र प्रगट कर रहा है कि उस नायिका का सुरत प्रत्येक प्रकार का हुआ। वह वस्त्र कहीं तो पान से रंगा हुआ है; कहीं अगर के पङ्क से अङ्कित होकर मलिन हो रहा है, कहीं उस पर शृंगार का चूर्ण गिरा हुआ मालूम पड़ रहा है कहीं-कहीं उसमें महावर के दाग पड़ गये हैं, कहीं-कहीं उसमें त्रिवली के विस्तार के कारण सिलवटें पड़ गई हैं और दूसरे स्थानों पर बालों से टूटकर गिरे हुए फूल दिखलाई पड़ रहे हैं। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि इस नायिका का सुरत विविध प्रकार का हुआ है।'

प्रगल्भा की कोपचेष्टाएँ इस प्रकार ही होंगी :—

सावहित्थादरोदास्ते रतौ धीरेतरा क्रुधा।
संतर्ज्य ताडयेत् मध्या-मध्या धीरेवतं वदेत् ॥१६॥

[धीरा प्रगल्भा अवहित्थ (भावसंवरण) और आदर को प्रगट करती है और रति में उदासीन रहती है; अधीरा प्रगल्भा क्रोध से डाँटती फटकारती है और पीटती है; प्रगल्भा धीरा-धीरा मध्या धीरा के समान नायक से बातचीत करती है।]

(क) धीरा प्रगल्भा एक तो अवहित्थ का प्रदर्शन करती है अर्थात् भाव छिपाने की चेष्टा करती है और बहुत अधिक आदर दिखलाती है तथा रति में उदासीन रहती है। अवहित्थ और आदर प्रदर्शन का उदाहरण :—

एकत्रासनसंस्थितिः परिहृता प्रत्युद्गमाद्दूरतः।
ताम्बूलाहरणच्छलेन रभसाश्लेषोऽपि संविघ्नितः॥
आलापोऽपि न मिश्रितः परिजनंव्यापारयत्यन्त्यान्तिके।
कान्तं प्रत्युपचारतश्चतुरया कोपः कृतार्थीकृतः॥

'नायक को दूर से आता हुआ देखकर उठकर खड़ी हो गई जिससे एक साथ आसन पर बैठना बचा दिया, पान लाने के बहाने से चली गई जिससे नायक वेग से आलिङ्गन भी न कर सका और उसमें भी विघ्न पड़ गया, जब नायक ने बातचीत करने की चेष्टा की तब निकट बैठे हुए परिजनों की ओर इशारा करके उसे भी टाल दिया। इस प्रकार उस नायिका ने प्रियतम के प्रति

आदर-सत्कार दिखलाने के बहाने से चतुरता के साथ अपने कोप को सफल कर लिया।'

रति में उदासीनता का उदाहरण :—

आयस्ता कलहं पुरेव कुरुते न संसने वाससो-
भग्नभ्रूगति खण्ड्यामानमधरं धत्ते न केशग्रहे।
अङ्गान्यर्पयति स्वयं भवति नो वामा हठालिङ्गने
तन्व्याः शिक्षित एष सम्प्रति कुतः कोपप्रकारोऽपरः॥

'चुपचाप लेटी हुई है, जब कपड़े खोले और हटाये जाते हैं तो पहले के समान कलह नहीं करती, बाल पकड़ने पर न तो कोप से उसकी भौंहें ही टेढ़ी होती हैं और न वह ओठ ही काटती है, स्वयं अपने अंगों को प्रदान कर देती है और जब बलात् आलिंगन किया जावे तो विरोध नहीं करती। इस प्रकार इस तन्वी ने इस समय कोप का यह नया ही तरीका सीख लिया है।'

(ख) अधीर प्रगल्भा कुपित होकर डाटती, फटकारती है और पीटती है। जैसे :—

अमरूशतक में :—

कोपात्कोमललोलवाहुलतिकापाशेन वद्ध्वा दृढं,
नीत्वा केलिनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः।
भूयोऽप्येवमितिस्खलत्कलगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितम्
धन्यो हन्यत एव निह्नुतिपरः प्रेयान् रुदन्त्याहसन्।'

'प्रियतमा अपनी कोमल और चञ्चल बाहुलता रूपी पाश में प्रियतम को दृढ़तापूर्वक बाँधकर निवासस्थान पर सखियों के सामने ले आई। अपनी कल मधुरवाणी में जो कोप के कारण स्खलित हो रही थी उसकी दुश्चेष्टाओं को सङ्केत के द्वारा सूचित करते हुए अर्थात् उसके नखक्षत इत्यादि चिह्नों की ओर हाथ से सङ्केत करते हुए सखियों से कहा कि देखो अब कभी ऐसा मत कहना कि यह अपराधी नहीं है। उस समय प्रियतमा रो रही थी और प्रियतम हँसकर अपने अपराध को छिपाने की चेष्टा कर रहा था। उस समय प्रियतमा उसे मारने लगी। सचमुच इस प्रकार का सौभाग्य जिसे प्राप्त होता है वह धन्य ही है।'

(ग) प्रगल्भा धीरा-धीरा मध्या धीरा के समान उससे आक्षेप और वक्रोक्ति में बातचीत करती है। जैसे अमरूशतक में—

कोपो यत्र भ्रुकुटि रचना निग्रहो पत्र मौनम्,
यत्रान्योन्यस्मितमनुनयो दृष्टिपातः प्रसादः।

तस्य प्रेम्णस्तदिदमधुना वैशसंपश्यजातं,
त्वं पादान्ते लुठसि न च मे मन्युमोक्षः खलायाः ॥

'जब कोप की सीमा भौंहों की मरोड़ ही थी; दण्ड एक दूसरे से मौन हो जाने तक ही सीमित था, जब एक दूसरे की ओर देखकर मुस्कुरा देना ही मान-मनौअल थी; दृष्टि-पात ही प्रसन्नता थी; उस सारे प्रेम को देखो, आज यह कैसी हत्या हुई कि तुम तो मेरे पैरों पर लोट रहे हो और मुझ दुष्टा का क्रोध ही नहीं छूट रहा है।'

इस प्रकार मध्या और प्रगल्भा इन दोनों प्रत्येक के धीरा, धीराधीरा और अधीरा ये तीन तीन भेद होते हैं। इनके अतिरिक्त इन छः भेदों में प्रत्येक के दो-दो भेद और होते हैं--

द्वेधा ज्येष्ठा कनिष्ठाचेत्यमुग्धा द्वादशोदिताः ।

[ज्येष्ठा और कनिष्ठा ये दो-दो भेद और होते हैं। इस प्रकार अमुग्धा नायिका (मध्या और प्रौढ़ा दोनों को मिलाकर १२ प्रकार की होती है।]

मुग्धा केवल एक प्रकार की होती है। इस प्रकार स्वकीया के १३ भेद होते हैं। ज्येष्ठा और कनिष्ठा का उदाहरण जैसे अमरूशतक में--

दृष्ट्वैकासन संस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरात्,
एकस्यानयने पिधाय विहित क्रीडानुबन्धच्छलः ।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसाम्,
अन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ॥

'एक ही आसन पर दो प्रियतमाओं को बैठा हुआ देखकर आदरपूर्वक पीछे से आकर एक की आँखें बन्द करके मजाक के छल को जारी रखते हुए कुछ गर्दन को टेढ़ा करके और प्रफुल्लित चित्त होकर धूर्त नायक ने प्रेम से उल्लसित चित्त-वाली, अन्दर हँसी से मुक्त प्रफुल्लित कपोल फलकवाली दूसरी नायिका का चुम्बन ले लिया।'

यहाँ पर यह नहीं समझना चाहिए कि ज्येष्ठ नायिका के प्रति प्रेम नहीं है केवल कनिष्ठ नायिका के प्रति ही प्रेम है। ज्येष्ठा के प्रति केवल दाक्षिण्य है। इसके प्रतिकूल यहाँ पर दोनों नायिकाओं के प्रति प्रेम ही है। दक्षिण नायिक का वर्णन करने के अवसर पर यह बात स्पष्ट की जा चुकी है। ज्येष्ठा और कनिष्ठा को मिलाकर मध्या और प्रगल्भा के ऊपर जो १२ भेद किये गये हैं उनमें प्रत्येक का प्रयोग प्रबन्ध काव्यों में होता है। अतएव रत्नावली और वासवदत्ता के समान महाकवियों के प्रबन्धों में उनके उदाहरण ढूँढ़ने चाहिए।

परकीया नायिका

अन्यस्त्री कन्यकोढा च नान्योढाऽङ्गिरसे क्वचित् ॥२०॥
कन्यानुरागमिच्छातः कुर्यादङ्गाङ्गिसंश्रयम् ॥

[अन्य स्त्री (परकीया) के दो भेद होते हैं कन्या और परोढा। नायिका को कभी भी प्रधान रस का आलम्बन नहीं बनाना चाहिए। कन्या के अनुराग को इच्छानुसार प्रधान और अप्रधान दोनों प्रकार के रसों का आलम्बन बनाया जा सकता है।]

किसी अन्य नायक से सम्बन्ध रखनेवाली नायिका को परोढा कहते हैं। जैसे :—

दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मद्गृहे दास्यसि,
प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति।
एकाकिन्यपि यामि सत्वरमितः स्रोतस्तमालाकुलं,
नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदाः नलग्रन्थयः ॥

'हे पड़ोसिन्! क्षण भर यहाँ पर हमारे घर की ओर भी निगाह दिये रहना; इस बच्चे का पिता कुएँ का जल नहीं पियेगा क्योंकि प्रायः उसे इस जल में स्वाद नहीं आता है। मैं अकेली ही जाऊँगी; बहुत जल्दी में जाना पड़ेगा; मैं उस श्रोत की ओर जाऊँगी जो तमाल वृक्षों से घिरा हुआ है (वहीं से जल लाना है।) और पुराने खण्डोंवाली नल की गाँठें बहुत ही घनी हैं; वे मेरे शरीर चींथ डालेंगी। किन्तु क्या करूँ जाना तो है ही।'

यहाँ पर व्यञ्जना यह है कि यह नायिका परपुरुष से सम्भोग करने श्रोत की ओर जा रही है और अपने घर की रखवाली के लिए पड़ोसिन को प्रेरित कर रही है। उसे मालूम है कि सम्भोग की थकावट से उसकी श्वासें चलने लगेंगी और शरीर पर दन्तक्षत और नखक्षत के चिह्न बन जावेंगे। उन्हीं को छिपाने के लिए वह जल्दी जाने और नल की गाँठों से छिद जाने की बात कहती है। यह दूसरे को ब्याही हुई स्त्री है।

यहाँ पर इसका विशेष विस्तार नहीं किया जावेगा, क्योंकि यह प्रधान रस की नायिका कभी नहीं होती। कन्या को परकीया इसलिए कहा गया है कि वह पिता इत्यादि के आधीन होती है। एक तो वह पिता इत्यादि से आसानी से प्राप्त नहीं होती और यदि किसी न किसी तरह प्राप्त हो भी जावे तो भी दूसरों की रुकावट और अपनी पत्नी का भय स्वच्छन्दता नहीं आने देते। अतएव इसके प्रेम की प्रवृत्ति गुप्त रूप से होती है। जैसे माधव का मालती से प्रेम और वत्स-राज का सागरिका से प्रेम। उसके प्रेम को स्वेच्छानुसार चाहे अङ्गी (प्रधान)

प्रेम के रूप में वर्णन करे चाहे अङ्ग (अप्रधान) के रूप में। जैसे रत्नावली में सागरिका का प्रेम प्रधान रस है और नागानन्द में मलयवती का प्रेम अप्रधान रस है।

साधारण स्त्री

साधारण स्त्री गणिका कलाप्रागल्भ्य धौर्त्ययुक् ॥२१॥

[साधारण स्त्री को गणिका कहते हैं; यह कला प्रगल्भता और धूर्तता से युक्त होती है।]

काम-शास्त्र की पुस्तकों में विस्तार से गणिका के व्यवहार का वर्णन किया गया है। यहाँ पर उसका दिग्दर्शन मात्र किया जा रहा है :—

छन्नकामसुखार्थाज्ञ स्वतन्त्राहंयुपण्डकान्।
रक्तेव रञ्जयेदाढ्यान् निःस्वान् मात्रा विवासयेत् ॥२२॥

[प्रच्छन्न कामनावाले, सुखार्थ, अज्ञ, स्वतन्त्र, अहंयु और पण्डक इनको अनुरक्त के समान यदि ये धनवान् हों तो अनुरक्त के समान अनुरञ्जित करे और यदि धन-रहित हों तो अपनी माता से उन्हें निकलवा दे।]

'प्रच्छन्न कामना वाले' का अर्थ है गुप्त रूप से काम वासना में प्रवृत्त होनेवाले, जैसे विद्वान् लोग, बनिआ और संन्यास इत्यादि का कोई चिह्न धारण करनेवाले तथा इसी प्रकार के और लोग। सुखार्थ का अर्थ है ऐसा व्यक्ति जिसको धन आसानी से मिल जाता हो अथवा जिसके धन का प्रयोजन सुख भोगना ही हो। अज्ञ का अर्थ है मूर्ख और स्वतन्त्र का अर्थ है निरङ्कुश। अहंयु अहङ्कारी को कहते हैं और पण्डक वायुदोष इत्यादि के नपुंसक हुए व्यक्ति को कहते हैं। पण्डक अवारा को भी कह सकते हैं। यदि इन लोगों के पास अधिक धन हो तो इनके धन प्राप्ति के उद्देश्य से प्रेम करे। क्योंकि वेश्या की प्रधान वृत्ति धन के लिये प्रेम करना ही है। इनका धन लेकर कुट्टिनी इत्यादि से इनको निकलवा दे। क्योंकि यदि वेश्या स्वयं ही निकाल देगी तो वह प्रेम करनेवाला पुनः नहीं आवेगा और यदि वेश्या प्रेम प्रदर्शित करती रहेगी और कुट्टिनी इत्यादि निकाल देंगी तो वह धन लेकर पुनः आवेगा। यह वेश्याओं का सामान्य लक्षण है।

रूपकों में इसके विषय में यह विशेषता है :—

रक्तैव त्वप्रहसने नैषा दिव्य नृपाश्रये

[प्रहसन से भिन्न अन्य रूपकों में इसको अनुरक्त ही दिखलाना चाहिए किन्तु दिव्य राजाओं के आश्रय से लिखे जाने वाले रूपकों में इनको नहीं दिखलाना चाहिए।]

प्रहसन से भिन्न प्रकरण इत्यादि में इस वेश्या को अनुरक्त ही दिखलाना चाहिए। जैसे मृच्छकटिक में वसन्त सेना चारुदत्त के प्रेम के आलम्बन के रूप में दिखलाई गई है। प्रहसन में यदि अनुरक्त न हो तब भी दिखलाना चाहिए क्योंकि प्रहसन का मन्तव्य हास्य की सृष्टि करना होता है। नाटक इत्यादि में यदि नायक कोई दिव्य राजा हो तो इसको नायिका के रूप में नहीं दिखलाना चाहिए।

नायिकाओं के दूसरे भेद

नायिकाओं के दूसरे भेद ये होंगे :—

आसामष्टाववस्थाः स्युः स्वाधीनपतिकादिकाः ॥

[इन नायिकाओं की स्वाधीन पतिका इत्यादि ८ अवस्थायें होती हैं।]

वे आठ अवस्थायें ये हैं—स्वाधीन पतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता कालहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितप्रिया और अभिसारिका। ये ८ अवस्थायें स्वकीया इत्यादि की होती हैं। नायिकाओं की स्वकीया इत्यादि भी एक प्रकार की अवस्था ही हैं और स्वयं नायिका होना भी एक अवस्था ही है। इस प्रकार स्वाधीन पतिका इत्यादि को विशेष रूप से अवस्था कहने का मन्तव्य यह है कि पूर्व अवस्थाओं की।ही ये अवस्थायें होती हैं। पूर्व अवस्थायें धर्मी हैं और ये अवस्थायें धर्म हैं। 'आठ' इस संख्या का उल्लेख करने का आशय यह है कि अवस्थाओं की संख्या न्यूनाधिक नहीं होती।

वासकसज्जा इत्यादि का स्वाधीन पतिका इत्यादि में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। कारण यह है कि वासकसज्जा का प्रियतम उसके निकट नहीं होता। अतएव वह स्वाधीनपतिका नहीं कही जा सकती। यह भी नहीं कहा जा सकता कि वासकसज्जा का पति आनेवाला होता है। अतएव वह स्वाधीन पतिका कही जानी चाहिए। यदि प्रियतम के आगमन की सम्भावना में स्वाधीन पतिका हो सकती है तो प्रियतम के आगमन की सम्भावना होने के कारण ही प्रोषित पतिका भी स्वाधीन पतिका हो सकती है। दूरी की मात्रा तो कोई नियत होती नहीं जिसके आधार पर कहा जा सके कि आगमिष्यत्पतिका स्वाधीन पतिका होती है और प्रोषित पतिका उक्तपरिमाण से अधिक दूरी होने के कारण अस्वाधीन पतिका होती है। इसी प्रकार खण्डिता और प्रोषित पतिका में भेद समझना चाहिए। खण्डिता तब तक नहीं हो सकती जब तक प्रियतम के अपराध का पता न चले। प्रोषित पतिका भी तभी हो सकती है जब कि प्रियतम के वियोग का इसे अनुभव हो रहा हो। यदि वह परपुरुष इत्यादि के साथ उसकी रतिभोग की प्रवृत्ति हो गई हो या रतिभोग की इच्छा ही उत्पन्न हो तो उसे प्रोषित पतिका नहीं कह सकते। अभिसारिका भी तभी हो सकती है जब कि या तो वह स्वयं

नायक के पास जावे या नायक को अपने पास बुलावे। इसी प्रकार उत्कण्ठिता नायिका भी पूर्वोक्त नायिकाओं से भिन्न है। वासकसज्जा तभी तक रहती है जब तक कि आभूषणादि से आभूषित होकर प्रियतम की उत्साह और हर्ष पूर्वक प्रतीक्षा करे। यदि आगमन के उचित समय का अतिक्रमण हो जाने से व्याकुलता का अनुभव करने लगे तो वह वासकसज्जा नहीं कही जावेगी तब वह उत्कण्ठिता ही कही जावेगी। विप्रलब्धा भी वासकसज्जा के समान पूर्वोक्त नायिकाओं से पृथक् ही होती है। यदि नायक वचन देकर भी न आवे तो उसमें वञ्चना की अधिकता होती है किन्तु वासकसज्जा और उत्कण्ठिता को इस प्रकार का वचन नहीं दिया गया होता है। तो ये दोनों नायिकायें प्रियतम के आगमन की सम्भावना मात्र कर लेती हैं। अतएव वञ्चना की अधिकता होने से विप्रलब्धा उत्कण्ठिता और वासकसज्जा से भिन्न होती है। यद्यपि खण्डिता और कलहान्तरिता दोनों को ही प्रियतम के अपराध का ज्ञान होता है किन्तु कलहान्तरिता में इतनी विशेषता और होती है कि वह प्रियतम के अनुनय-विनय को पहले तो स्वीकार नहीं करती किन्तु बाद में पश्चात्ताप को प्रगट करने से अपनी प्रसन्नता को प्रकाशित कर देती है। अतएव कलहान्तरिता का भी खण्डिता में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। इस प्रकार यह बात सिद्ध हो गई कि नायिकाओं की आठ ही अवस्थायें होती हैं। इन भेदों की क्रमशः व्याख्या की जा रही है :—

(१) स्वाधीन पतिका :—

आसन्नायत्तारमणा हृष्टा स्वाधीनभर्तृका ॥२३॥

[जिसका पति निकटवर्ती हो और आधीन हो रहे तथा जो प्रसन्नचित्त रहे उसे स्वाधीन पतिका कहते हैं।]

उदाहरण :—

मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति
कान्तस्वहस्त लिखिता मम मञ्जरीति।
अन्यापि किन्न सखिभाजनमीदृशानां,
वैरी न चेद्भवति वेपथुरन्तरायः॥

'हे सखि! इस बात का अभिमान मत करो कि प्रियतम के द्वारा अपने हाथ से लिखी हुई मञ्जरी तुम्हारे कपोलतल में शोभित हो रही है। इस प्रकार के सौभाग्य का पात्र दूसरी भी स्त्रियाँ क्या नहीं हो जावें यदि वैरी कम्पन विघ्नकारक न हो जावे।'

आशय यह है कि प्रियतम तुमसे अधिक प्रेम नहीं करता अतएव निर्विकार चित्त से तुम्हारे कपोल पर मञ्जरी लिख देता है। किन्तु मेरे कपोल पर जब वह

मञ्जरी लिखने लगता है तब सात्विक कम्पन हो जाता है। अतएव यह स्वाधीन पतिका का उदाहरण है।

(२) वासकसज्जा :—

मुदा वासक सज्जा स्वं मण्डयत्येष्यति प्रिये ॥२४॥

[वासकसज्जा पति के आगमन की प्रतीक्षा में आनन्द से अपने को आभूषित करती है।]

'अपने को' का अर्थ है अपने घर को और अपने शरीर को। जैसे :—

निज पाणि पल्लवतलस्खलनादभिनासिकाविवरमुत्पतितैः।
अपरा परीक्ष्य शनकैर्मुमुदे मुखवासमास्व कमलश्वसनैः॥

'कोई दूसरी स्त्री मुख में पाणिपल्लव को लगाकर उसके तल से स्खलित हुई और नासिका विवर की ओर उठी हुई मुख कमल की श्वासवायु के द्वारा अपने मुख की सुगन्धि की धीरे से परीक्षा करके आनन्दित हुई।'

(३) विरहोत्कण्ठिता :—

चिरयत्यव्यलीकेतु विरहोत्कण्ठितोन्मनाः।

[यदि प्रियतम का अपराध ज्ञात न हो और वह आने में विलम्ब कर रहा हो; अतएव उसकी प्रतीक्षा में नायिका उत्कण्ठित हो तो उसे विरहोत्कण्ठिता कहते हैं।]

उदाहरण :—

सखि स विजितोवीणावाद्यैःकथाप्यपरस्त्रिया,
पणितमभवत्ताभ्यां तत्रक्षपाललितं ध्रुवम्।
कथमितरथा शेफालीषु स्खलत्कुसुमास्वपि,
प्रसरति नभोमध्येऽपीन्दौ प्रियेण विलम्ब्यते॥

'हे सखि ऐसा ज्ञात होता है कि वीणा वादन के द्वारा किसी दूसरी स्त्री ने हमारे प्रियतम को छल लिया और उन दोनों ने निस्सन्देह रात्रि के आनन्द को दाँव पर लगा दिया। नहीं तो शेफालिका के पुष्पों का गिरना प्रारम्भ हो जाने पर भी और चन्द्रमण्डल के आकाश के मध्य में आ जाने पर भी प्रियतम देर क्यों लगा रहे हैं?'

(४) खण्डिता :—

ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता ॥ २५ ॥

[दूसरी नायिका के सहवास के विकार को जान लेने पर जिस नायिका के चित्त में ईर्ष्या के कारण क्रोध उत्पन्न हो उसे खण्डिता कहते हैं।]

उदाहरण :—

नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन,
स्थगयसिपुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम्।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशंसी विसर्पन्,
नव परिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम्॥

'तुम नवीन (ताज़े) नाखूनों के चिह्नवाले अपने अङ्ग को तो वस्त्रों से छिपा रहे हो। दन्तक्षत से युक्त ओठ को अपने हाथ से ढके हुए हो। किन्तु यह तो बतलाओ यह जो तुम्हारे शरीर से चारों ओर को नवीन परिमलगन्ध उड़ रहा है, जो कि पर-स्त्री सहवास को प्रगट कर रहा है वह किसके द्वारा छिपाया जा सकता है।'

(५) कलहान्तरिता :—

कलहान्तरिताऽमर्षाद्विधूतेऽनुशयार्तियुक्।

[जो क्रोध से नायक का प्रत्याख्यान कर दे और बाद में पश्चात्ताप करे उसे कलहान्तरिता कहते हैं।]

उदाहरण :—

निश्वासा वदनं दहन्ति हृदयं निर्मूलमुन्मथ्यते।
निद्रा नैति न दृश्यते प्रियमुखं नक्तंदिवं रुद्यते॥
अङ्गं शोषमुपैति पादपतितः प्रेयांस्तथोपेक्षितः।
सख्यः कं गुणमाकलय्या दयिते मानं वयं कारिताः॥

'गहरी श्वासें मुख को जला रही हैं; हृदय पूर्णरूप से उन्मथित हो रहा है; नींद नहीं आ रही है; प्रियतम का मुख नहीं दिखलाई पड़ रहा है; रात-दिन रोना पड़ता है; अङ्ग सूख रहा है। मैंने पैरों पर पड़े हुए प्रियतम की इस प्रकार उपेक्षा की। हे सखी! न जाने किस गुण का विचार कर (क्या भलाई समझ कर) मैंने प्रियतम के प्रति मान किया था।'

(६) विप्रलब्धा :—

विप्रलब्धोक्तसमयमप्राप्तेऽतिविमानिता॥२६॥

[सङ्केत स्थान पर निश्चित समय पर प्रियतम के न आने से जिसका महान् अपमान हुआ हो उसे विप्रलब्धा कहते हैं।]

उदाहरण :—

उत्तिष्ठदूति! यामो यामो यातस्तथापि नायातः।
याऽतः परमपिजीवेज्जीवितनाथो भवेत्तस्याः॥

'हे दूती! उठो चलें!! पहर बीत गया फिर भी वह नहीं आया। जो इसके बाद भी जीवित रहे प्रियतम उसी का प्राणप्यारा होगा।'

(७) प्रोषित पतिका :—

दूर देशान्तरस्थेतु कार्यतः प्रेम्णिप्रषित प्रिया ।

[किसी कार्य से यदि प्रियतम किसी दूसरे दूर देश में स्थित हो तो उसे प्रोषित पतिका कहते हैं ।]

उदाहरण :—

आदृष्टि प्रसरात्प्रियस्य पदवीमुद्वीक्ष्य निर्विण्णया ।
विश्रान्तेषुपथिष्वहः परिणतौ ध्वान्ते समुत्सर्पति ॥
दत्वैकंसशुचा॰ गृहं प्रतिपदं॰पान्थस्त्रियास्मिन्क्षणे ।
मा भूदागत इत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितम् ॥

'जहाँ तक दृष्टि पहुँचती थी वहाँ तक दुखित होकर वह नायिका प्रियतम का मार्ग देखती रही । जब पथिक लोगों ने विश्रामस्थान स्वीकार कर लिया (अर्थात् यात्रियों ने चलना बन्द कर दिया ।) दिन अस्त हो गया और अन्धकार फैलने लगा तब उस परदेशी की स्त्री ने शोक से घर की ओर लौटने के लिए एक पैर रक्खा और 'कहीं इसी क्षण न आ गया हो' यह सोचकर शीघ्रता के साथ अपनी गर्दन को घुमाकर फिर देखा ।'

(८) अभिसारिका :—

कामार्ताभिसरेत्कान्तं सारयेद्वाभिसारिका ।

[जो कामपीड़ित होकर प्रियतम के पास स्वयं अनुसरण (गमन) करे या प्रियतम को अपने पास अभिसरण करावे उसे अभिसारिका कहते हैं ।]

उदाहरण :—

उरसिनिहितस्तासेहारः कृता जघने घने ।
कलकलवती काञ्ची पादौरणन्मणिनूपुरौ ॥
प्रियमभिसरस्येवं मुग्धे त्वमाहत डिण्डिमा ।
यदि किमधिकत्रासोत्कम्पं दिशःसमुदीक्षसे ॥

'तुमने अपने वक्षस्थल पर विशाल हार धारण कर लिया है; अपनी घनी जंघाओं पर कलकल शब्द करनेवाली तगड़ी धारण कर ली और पैरों में शब्द करनेवाले मणिओं के नूपुर पहन लिये हैं । हे मुग्धे (पगली) यदि तू इस प्रकार ढोल पीटती हुई प्रियतम के पास अभिसार कर रही है फिर अधिक भय से काँपती हुई इधर-उधर दिशाओं को क्यों देख रही है ?'

दूसरा उदाहरण :—

नच मेऽवगच्छति यथा लघुतां करुणां यथा च कुरुते समयि
निपुणं तथैनमुपगम्य वदेरभिदूति काचिदिति संदिदिशे ॥

'हे दूति ! तुम निपुणतापूर्वक प्रियतम से जाकर ऐसी बातचीत करना

जिससे वह मेरी हीनता भी न समझे और मेरे ऊपर करुणा करके मेरे पास आने की चेष्टा करे।' यह बात किसी नायिका ने अपनी दूती से कही।"

इन अवस्थाओं के विषय में इतना और ध्यान रखना चाहिए :—

चिन्ता निश्वास खेदाश्रु वैवर्ण्यग्नान्याभूषणैः।
युक्ताः षडन्त्याः द्वे चाद्ये क्रीडौज्ज्वल्प प्रहर्षितैः ॥२८॥

[उक्त नायिकाओं में अन्तिम ६ (विरहोत्कण्ठिता इत्यादि) चिन्ता, निश्वास, खेद, अश्रु, वैवर्ण्य (चेहरे का फीका पड़ जाना) ग्लानि और आभूषणों की हीनता से युक्त होती हैं और प्रारम्भिक दो (स्वाधीन पतिका और वासकसज्जा) क्रीड़ा, उज्ज्वलता और प्रहर्ष से युक्त होती हैं।]

यहाँ पर आभूषणों से रहित होने का अर्थ शोभा इत्यादि से रहित (दीन) होना है क्योंकि अभिसारिका आभूषणों को तो धारण करती ही है।

यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि दोनों प्रकार की परकीया कन्या और परोढा के केवल तीन ही भेद होते हैं—(१) जब तक मिलने का संकेत निश्चित न किया जावे तब तक वे विरहोत्कण्ठिता होती हैं। (२) जब विदूषक इत्यादि की सहायता से वे संकेत-स्थान पर जाने की या नायक को अपने यहाँ बुलाने की चेष्टा करती हैं तब अभिसारिका होती हैं और (३) यदि नायक किसी कारण संकेत-स्थान पर न पहुँच सके तो विप्रलब्धा होती हैं। शेष भेद परकीया के सम्भव नहीं हैं। वे केवल स्वकीया के ही होते हैं। कारण यह है स्वाधीन पतिका तो स्वकीया ही हो सकती है; प्रोषित पतिका भी स्वकीया ही होगी। पर स्त्री न तो प्रियतम के सम्मिलन की प्रसन्नता ही खुलकर प्रगट कर सकती है और न कलह को ही दूसरों को बता सकती है। उसके लिए घर या शरीर का सजाना भी असम्भव है और पर-पुरुष से खुलकर कलह करना भी असम्भव है। अतएव परकीया न तो वासकसज्जा हो सकती है और न कलहान्तरिता। खण्डिता भी वही होती है जिसका पति दूसरे के संभोग से दूषित हो। परकीया का अपना पति ही नहीं होता। अतएव परकीया खण्डिता भी नहीं हो सकती।

(प्रश्न) मालविकाग्निमित्र की नायिका मालविका कन्या होने के कारण परकीया ही है। जब उसने कहा—'जो राजा इस प्रकार धीर है वह भी देवी के सामने देखा गया।' इस पर राजा कहने लगे :—

दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि नायकानां कुलव्रतम्।
तन्मे दीर्घाक्षि ये प्राणास्ते त्वदाशानिबन्धना॥

'हे बिम्बोष्ठि! दक्षिण होना नायकों के कुल का एक नियम है। अतएव हे दीर्घ नयने, मेरे प्राण तो तुम्हारी ही आशा पर अवलम्बित हैं।'

यहाँ पर मालविका खण्डिता के रूप में क्यों चित्रित की गई है ? (उत्तर) यहाँ पर राजा के ये वचन खण्डिता के अनुनय के लिए नहीं कहे गये हैं किंतु 'मुझे' देवी के आधीन समझकर कहीं यह मालविका निराश न हो जावे इसलिए उसके हृदय में विश्वास उत्पन्न करने के लिए कहे गये हैं।

इसी प्रकार यदि नायक का समागम न हो सके और नायक दूर देश में स्थित हो तो भी परकीया प्रोषित पतिका नहीं होगी किन्तु उत्कण्ठिता ही कही जावेगी।

नायिका की सहायिकाएँ

नायिका की सहायिकाएँ ये होती हैं :—

दूत्यो दासी सखी कारूर्धात्रेयी प्रतिवेशिका।
लिङ्गिनी शिल्पिनी स्वं च नेतृमित्र गुणान्विता ॥२६॥

[दासी (सेविका), सखी (प्रेम-पात्र सहचरी), कारू (परजा धोबिन इत्यादि), धात्रेयी (धाय की लड़की), पड़ोसिन; लिङ्गिनी (संन्यास इत्यादि का चिह्न धारण करनेवाली), शिल्पिनी (चित्रकार इत्यादि की स्त्री) और स्वयं (नायिका, ये दूती होती हैं। इनमें नायक के मित्रों के गुण होते हैं।]

नायक के मित्र पीठमर्द इत्यादि होते हैं। उनके निसृष्टार्थत्व इत्यादि गुणों से युक्त दूती होती हैं। दूत तीन प्रकार के माने जाते हैं--(१) निसृष्टार्थ—जो नायक की ओर से स्वयं निर्णय कर ले। (२) मितार्थ--जो दूसरों के भाव को समझकर केवल उत्तर दे दे और नायक के परामर्श के आधार पर कोई कार्य करे और (३) सन्देशहारक--जो केवल सन्देश पहुँचा दे। इनके गुण जैसे मालतीमाधव में कामन्दकी के प्रति :—

शास्त्रेषु निष्ठा सहजश्चबोध: प्रागल्भ्यमभ्यस्तगुणा च वाणी।
कालानुरोध: प्रतिभानवच्वमेते गुणा: कामदुधा: क्रियासु॥

'शास्त्रों में निष्ठा, स्वाभाविक ज्ञान, बोलने में निपुणता, वाणी का गुणों में अभ्यस्त होना, काल का अनुसरण करना और प्रतिभाशाली होना ये गुण कार्य क्षेत्र में कामनाओं को पूरा करनेवाले होते हैं।'

उनमें से सखी के दूती होने का उदाहरण :—

मृगशिशुदृशस्तस्यास्तापं कथं कथयामि ते।
दहनपतिता दृष्टा मूर्तिर्मया नहि वैधवी॥
इति तु विदितं नारीरूप: सलोकदृशांसुधा।
तव शठतया शिल्पोत्कर्षोविधेर्विघटिष्यते॥

'मैं उस मृगनयनी के सन्ताप का तुम्हारे सामने किस प्रकार वर्णन करूँ?

मैंने आज तक चन्द्रमा की मूर्ति को कभी भी आग में पड़ा हुआ नहीं देखा (जिससे तुलना करके मैं तुम्हें समझा सकूँ) हाँ इतना मुझे मालूम है 'कि केवल तुम्हारी शठता से ही वह सारे संसार की दृष्टि का अमृत नारी रूपी विधाता के कौशल का उत्कर्ष आज नष्ट हो जावेगा।'

दूसरा उदाहरण :--

सच्चं जाणइ दट्ठुं सरिसम्मि जणम्मि जुज्जयेराओ।
मरउणतुमं भणिस्सं मरणं पि सलाहणिज्जं से॥
[सत्यं जानाति द्रष्टुं सदृशे जने युज्यते रागः।
म्रियतां न त्वां भीणष्यामि मरणमपि श्लाघनीयमस्याः॥]

'सच्चाई को सब कोई देख सकता है; सदृश व्यक्ति से ही प्रेम करना उचित होता है। अब वह मर जावे किन्तु मैं तुमसे कुछ नहीं कहूँगी; अब उसका मर जाना ही अच्छा है।'

स्वयं दूती का उदाहरण :--

प्रहु एहि कि णिवालअ हरसि णिअंवाउ जइ विमे सिचअम्।
साहेमिकस्स-सुंदर दूरे गामो अहम् एक्का॥
[मुहुरेहि किं निवारक हरसि निजंवायो यद्यपि मे सिचयम्।
साधयामि कस्य सुन्दर दूरेग्रामोऽहमेका॥]

'हे रोकनेवाले वायु! धीरे-धीरे आ। यद्यपि तुम मेरे वस्त्र को खींच रहे हो; हे सुन्दर! अब मैं किसके पास जाऊँ। मेरा गाँव दूर है और मैं अकेली ही हूँ।'

यहाँ पर नायिका ने अपने को अकेला और गाँव को दूर बतलाकर अपनी भावना को स्वयं व्यक्त किया है। अतएव यहाँ पर स्वयं दूतिका नायिका है। इसी प्रकार अन्य दूतियों के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

अलङ्कार

स्त्रियों के अलङ्कार निम्नलिखित होते हैं :--

यौवने सत्त्वजास्तासामलङ्कारास्तु विंशतिः।

[यौवन में सत्त्व से उत्पन्न हुए २० अलङ्कार होते हैं।]

उनमें--

भावो हावश्च हेला च त्रयस्तत्र शरीरजाः॥३०॥
शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यश्च प्रगल्भता।
औदार्यं धैर्यमित्येते सप्तभावा अयत्नजाः॥३१॥
लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलकिञ्चितम्।

मोहायितम् कुट्टमितं विव्वोको ललितं तथा ॥३२॥
विहृतं चेति विज्ञेया दशभावाः स्वभावजाः ॥

[भाव, हाव और हेला ये तीन शरीरज अलङ्कार होते हैं। शोभा इत्यादि सात अयत्नज अलङ्कार होते हैं। लीला इत्यादि दस स्वभावज अलङ्कार होते हैं।]

इन्हीं की क्रमशः व्याख्या की जा रही है।

(१) भाव—

निर्विकारात्मकात्सत्वात् भावस्तत्राद्यविक्रिया ॥३३॥

[निर्विकारात्मक सत्व में प्रथम विकार का उत्पन्न होना भाव कहलाता है।]

आत्मा पर रजोगुण और तमोगुण का आवरण न होना ही सत्व कहलाता है इस प्रकार के सत्वगुण के आविर्भाव में चित्त में किसी प्रकार का विकार नहीं होता। जैसे कुमारसम्भव में—

श्रुताप्सरो गीतिरपिक्षणेऽस्मिन् हरः प्रसंख्यानपरोबभूव।
आत्मेश्वराणां नहि जातुविघ्नाः समाधिभेद प्रभवो भवन्ति ॥

'अप्सराओं का गान सुनने पर भी इस क्षण शङ्कर जी ध्यान में ही लगे रहे। आत्मा पर अधिकार रखनेवाले व्यक्तियों के लिए समाधि भेद से उत्पन्न होनेवाले विघ्न कभी नहीं होते।'

यही शुद्ध सत्व कहलाता है। इसी अविकारात्मक सत्व से एक अन्दर ही अन्दरविपरिवर्तित होनेवाला सूक्ष्म विकार उत्पन्न हो जाता है। यह विकार उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार मिट्टी और जल का संयोग प्राप्त कर बीज पहले पहल कुछ फूल जाता है जैसे—

दृष्टिः सालसतां बिभर्ति न शिशुक्रीडासु वद्धादरा,
श्रोत्रे प्रेषयति प्रवर्तित सखी सम्भोगवार्तास्वपि।
पुंसामङ्कमपेत शङ्कमधुना नारोहति प्राग्यथा,
बाला नूतन यौवनव्यतिकरावष्टभ्यमाना शनैः ॥

'दृष्टि आलस्य-पूर्णता को धारण किये हुए है; अब वह बचपन की क्रीड़ा में विशेष प्रेम नहीं रखती; जब सखियों की सम्भोग वार्ता प्रारम्भ होती है तब वह उस ओर को अपने कान दौड़ाती है; अब वह मनुष्यों की गोद में निश्शङ्क होकर नहीं बैठती है। अब इस समय वह बाला शैशव और यौवन के मेल से धीरे धीरे घिरती चली जा रही है।'

दूसरा उदाहरण जैसे कुमारसम्भव में—

हरस्तु किञ्चित्परिवृत्त धैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमा मुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥

'जिस प्रकार चन्द्रोदय के प्रारम्भ में समुद्र विक्षुब्ध हो जाता है उसी प्रकार शङ्कर जी का धैर्य कुछ च्युत हो गया और उमा के मुख पर जिसके अधरोष्ठ विम्बफल के समान लाल थे उन्होंने अपने नेत्रों को डाला।'

तीसरा उदाहरण जैसे धनिक का :—

तं चिअ वअणं ते च्चेआ-लोचणे जोव्वणं पि तं च्चेअ।
अण्णा अणङ्गलच्छी अण्णं चिअ किं पि साहेइ॥
[तदेव वचनं ते चैव लोचने यौवनमपितदेव।
अन्यानङ्ग लक्ष्मीरन्यदेव किमपि साधयति॥]

'वही वचन है, वही नेत्र हैं, वही यौवन भी है। किन्तु कामदेव की कुछ और ही प्रकार की शोभा उसके अन्दर कुछ और ही बात सिद्ध कर रही है।'

(२) हाव :—

अल्पालापः सश्रृङ्गारो हावोऽक्षिभ्रूविकार कृत्॥

[जो थोड़े से आलाप और श्रृङ्गार से युक्त हो और आँख तथा भौंह में विकार उत्पन्न करनेवाला हो उसे हाव कहते हैं।]

निश्चित अङ्गों में विकार उत्पन्न करनेवाला श्रृंगार होता है और उसी के विशेष प्रकार के स्वभाव को हाव कहते हैं। जैसे धनिक का पद्य :—

जं किं पि पेच्छमाणं भणमाणं रे जहातहच्चेअ।
णिज्झाअ णेहमुद्धं वअस्स मुद्धं णिअच्छेहि।
[यत्किमपि प्रेक्षमाणां भणमानां रे यथातथैव।
निध्याय स्नेहमुग्धां वयस्य मुग्धां पश्य॥]

'हे मित्र इस मुग्धा को देखो। यह चाहे जिस ओर यों ही देखने लगती है; चाहे जिस रूप में बातचीत करने लगती है और कुछ ध्यान करके प्रेम के प्रभाव से स्वयं ही मुग्ध हो रही है।'

(३) हेला :—

स एव हेला सुव्यक्त श्रृङ्गार रस सूचिका।

[यदि हाव ही स्पष्ट रूप से श्रृङ्गार रस को सूचित करे तो उसे हेला कहते हैं।]

इस हेला में बहुत अधिक विकार स्पष्ट हो जाते हैं जिससे श्रृङ्गार की सूचना स्पष्ट रूप से मिलने लगती है। जैसे धनिक का पद्य :—

'तह झत्ति से पअत्ता सव्वङ्गं विब्भमा थणुब्भेए।
संसइअवालभावा होइ चिरं जह सहीणं पि॥

[तथा झटित्यस्याः प्रवृत्ताः सर्वाङ्गं विभ्रमाः स्तनोद्भेदे ।
संशयित वालभावा भवति चिरं यथा सखीनामपि ॥]

उसके स्तनों के उद्भिन्न होने पर उसके समस्त अङ्गों में एकदम इतने अधिक विलास प्रारम्भ हो गये कि सखियाँ भी बड़ी देर तक उसके वाल्य भाव को शङ्का की दृष्टि से ही देखती रहीं। अर्थात् उन्हें भी इस बात में शङ्का उत्पन्न हो गई कि नायिका अपनी वाल्य दशा में विद्यमान है।'

ये तीनों भाव, हाव और हेला शरीरज विकार हैं। इनके अतिरिक्त सात अयत्नज अलङ्कार होते हैं। उनकी क्रमशः व्याख्या की जा रही है।

(१) शोभा :—

रूपोपभोगतारुण्यैः शोभाङ्गानां विभूषणम् ।

[रूप उपभोग और तारुण्य के द्वारा अङ्ग को आभूषित करना शोभा कहलाता है जैसे कुमारसम्भव में :—

तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्यबालां क्षणं व्यलम्बन्त पुरोनिषण्णाः ।
भूतार्थ शोभा ह्रियमाण नेत्राः प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्यः ॥

'उस बाला पार्वती को पूर्वाभिमुख बैठाकर सामने बैठी हुई स्त्रियाँ क्षण भर रुककर रह गईं। यद्यपि श्रृङ्गार की सारी सामग्री उनके पास ही रक्खी थी किन्तु पार्वती की स्वाभाविक सुन्दरता से उन श्रृङ्गार करनेवाली स्त्रियों के नेत्र हर गये थे। (वे निश्चय ही न कर सकीं कि जिन अङ्गों में स्वाभाविक सौन्दर्य विद्यमान है उनको श्रृङ्गार के द्वारा किस प्रकार सजाया जावे।) इसी लिए वे थोड़ी देर तक बैठी ही रहीं श्रृङ्गार करने में प्रवृत्त हो हीन सकीं।'

दूसरा उदाहरण जैसे अभिज्ञान शाकुन्तल में :—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहैः
अनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं,
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥

'यह शकुन्तला का रूप एक ऐसा फूल है जो आज तक सूँघा नहीं गया; एक ऐसा किसलय है जिसको उँगलियों से काटा नहीं गया (उँगुलियों ने जिसका स्पर्श भी नहीं किया) यह एक ऐसा रत्न है जो अभी तक छेदा नहीं गया, यह एक ऐसी नवीन मदिरा है जिसका स्वाद अभी तक नहीं लिया। इसका यह दोष रहित रूप पुण्यों के अखण्ड फल के समान है। नहीं कहा जा सकता कि विधाता किस भोगनेवाले को इसके लिये उपस्थित करेगा।'

(२) कान्ति :—

मन्मथावापित च्छाया सैव कांतिरितिस्मृता ॥३४॥

[यदि उसी शोभा की छाया को कामदेव ने घना कर दिया हो तो उसे कान्ति कहते हैं।]

उदाहरण :—

उन्मीलद्वदनेन्दुदीप्ति विसरैर्दूरे समुत्सारितम्
भिन्नं पीन कुचस्थलस्य च रुचा हस्त प्रभाभिर्हतम्
एतस्याः कलविङ्ककण्ठकदलीकल्पं मिलत्कौतुका
दप्राप्ताङ्ग सुखं रुषेव सहसा केशेषु लग्नं तमः ॥

'ऐसा प्रतीत होता है मानों अन्धकार इस नायिका के सौन्दर्य से आकर्षित होकर इसका उपभोग करने आया। किन्तु इसके मुखचन्द्र के प्रभा-पुञ्ज के विस्तार ने उसे बहुत दूर भगा दिया; दृढ़ और विशाल स्तनों की शोभा से छिन्न-भिन्न हो गया और हाथ की शोभा से भी पीड़ित कर दिया गया। इस प्रकार कौतुकवश जो काली गौरैया के कण्ठ की शोभा को धारण करनेवाला अन्धकार इसके शरीर का स्पर्श करने के लिये मिलने की चेष्टा कर रहा था वही अङ्गों का सुख न प्राप्त करके मानों क्रोध में भर कर एकदम इसके बालों में जा लगा। (दूसरा भी व्यक्ति निराश होकर किसी के बाल पकड़ लेता है।)

दूसरा उदाहरण जैसे महाश्वेता के वर्णन के अवसर पर बाणभट्ट का वर्णन।

(३) माधुर्य :—

अनुल्बणत्वं माधुर्यम्

[भद्दा न होना अर्थात् सब अवस्थाओं में रमणीय रहना माधुर्य कहलाता है।]

जैसे शाकुन्तल में :—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं।
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ॥
इयमधिक मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी।
किमिवहि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥

'सिवार में फँसा हुआ भी कमल सुन्दर ही प्रतीत होता है; हिमांशु का मलिन भी लक्ष्य उसकी शोभा को ही बढ़ाता है, वल्कल वस्त्रों से भी यह शकुन्तला सुन्दर ही प्रतीत हो रही है, मधुर आकृतियों के लिये कौन सी वस्तु आभूषण नहीं बन जाती।'

(४) दीप्ति :—

दीप्तिः कान्तेस्तु विस्तरः

[कान्ति की ही अधिकता को दीप्ति कहते हैं।]

जैसे :--

देआ पीसत्र णिअन्त सुमुह ससि जोपहा विलुत्ततमनिवहे।
अभिसारिआण विग्घं केरसि अण्णाण विहआसे ॥
[दैवाद्दृष्ट्वा नितान्तसुमुख शशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे।
. अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासां वत हताशे] ॥

'अपने अत्यन्त सुन्दर मुखचन्द्र की चाँदनी से अन्धकार के समूह को नष्ट करनेवाली हे सुन्दरी दैववश इधर उधर देखकर अन्य अभिसारिकाओं के लिये भी विघ्न करोगी; इस प्रकार तुम्हारी भी आशा पूर्णरूप से विहत हो जावेगी।'

(५) प्रागल्भ्य :--

निस्साध्वसत्वं प्रागल्भ्यम्

[साध्वस से रहित होने को प्रागल्भ्य कहते हैं।]

मन के सक्षोभ के साथ अङ्गों में म्लानता का सञ्चार होना साध्वस कहलाता है और उसके अभाव को प्रागल्भ्य कहते हैं। जैसे धनिक का पद्य :--

तथा व्रीडा विधेयापि तथा मुग्धापि सुन्दरी।
कला प्रयोग चातुर्यें सभास्वाचार्यकं गता ॥

'यद्यपि वह सुन्दरी उस प्रकार से लज्जा--परवश हो रही थी और उतनी अधिक मुग्ध थी किन्तु फिर भी कलाओं के प्रयोग की निपुणता में सभा में आचार्य बन गई।'

(६) औदार्य :—

औदार्यं प्रश्रयः सदा ॥३६॥

[सदा प्रेम की अनुकूलता धारण किये रहने को औदार्य कहते हैं।]

उदाहरण :—

दिअहं खु दुक्खिआए सअलं काऊणगेहवारम्।
गरूएवि मण्णुदुक्खे भरिमो पाअन्त सुत्तस्य ॥
[दिवसं खलु दुःखितायाः सकलं कृत्वा गृह व्यापारम्।
गुरुण्यपि मन्युदुःखे भरिमा पादान्ते सुप्तस्य ॥]

'उस बेचारी दुःखित नायिका के दिन भर घर का काम करने के उपरान्त नायक रात में पैरों के पास सो रहता है तब दीर्घ भी मन्यु और दुःख से भर जाते हैं।]

(७) धैर्य :—

चापलाविहता धैर्यं चिद्वृत्तिरविकत्थना।

[यदि चिद्वृत्ति चञ्चलता से नष्ट न हो गई हो और विशेष रूप से डींग न हाँकी जावे तो उस चिद्वृत्ति को धैर्य कहते हैं ।] जैसे :—

ज्वलतु गगने रात्रौ रात्रावखण्डकलः शशी ।
दहतु मदनः किंवा मृत्योः परेण विधास्यति ॥
मम तु दयितः, श्लाघ्यस्तोता जनन्यमलान्वया ।
कुलममलिनं नत्वेवायं जनो न च जीवितम् ॥

'प्रत्येक रात्रि में आकाश में अखण्ड कलावाला चन्द्र जले; कामदेव मुझे जला भी डाले वह मेरा मृत्यु से बढ़कर क्या बिगाड़ लेगा ? मेरे लिये मेरा श्लाघ्य पिता ही प्यारा है माता भी शुद्ध वंशवाली हैं और कुल मलिनता रहित है । ये दोनों मुझे प्यारे हैं । किन्तु यह व्यक्ति (जीवनाधिक प्रिय माधव) प्यारा नहीं है और न मेरा जीवन ही मुझे प्यारा है । (अर्थात् मैं अपने जीवन की परवा ही क्या करूँगी जब मैं जीवन से भी अधिक प्रिय माधव की भी कुल मर्यादा के सामने परवा नहीं करती ।)

इस प्रकार ये सात अत्नलज अलङ्कार होते हैं । अब दस स्वाभाविक अलङ्कारों की व्याख्या की जा रही है ।

(१) लीला :—

प्रियानुकरणं लीला मधुराङ्गविचेष्टितैः ।

[मधुर अङ्ग और चेष्टाओं के द्वारा प्रियतम का अनुकरण करने को लीला कहते हैं ।]

उदाहरण जैसे धनिक का पद्य :—

तह तिष्ठं तह भणिअं ताए णिअदं तहा तहा सणिम् ।
अवलोइअं सइण्हं सविब्भमं जहसवित्तीहिं ॥
[तथा दृष्टं तथा भणितं तथा नियतं तथा सनिम् ।
अवलोकितं सतृष्णं सविभ्रमं यथा सपत्नीभिः ॥]

'उस नायिका ने उसी प्रकार (नायक के समान ही) देखा, वैसे ही बातचीत की, वैसे ही नियम का पालन किया और उसी प्रकार बैठी जिससे उसकी सौतों ने सतृष्ण दृष्टि से विलासों के साथ उसकी ओर देखा । (अर्थात् नायिका ने नायक का ऐसा अनुकरण किया कि सौतों को भ्रम हो गया और वे नायक के धोखे नायिका पर ही अपने विलासों का प्रयोग करने लगीं ।)

दूसरा उदाहरण जैसे 'उसकी कही हुई बात को उसी प्रकार कहती है वैसे ही चलती है ।'

(२) विलास :—

तात्कालिको विशेषस्तु विलासोऽङ्गक्रियोक्तिषु ।

[प्रियतम को देखने के अवसर पर अङ्ग, क्रिया और वचनों में जो अत्यन्त विशेषता आ जाती है उसे विलास कहते हैं ।] जैसे मालती माधव में :—

अत्रान्तरे किमपि वाग्विभातिवृत्त-
वैचित्र्यमुल्लसितविभ्रममायताद्क्याः ।
तद्भूरिसात्विकविकारविशेषरम्य-
माचार्यकं विजयिमान्मथमाविरासीत् ॥

'इसी बीच में उस विशाल नेत्रोंवाली नायिका का कामदेव सम्बन्धी विजयी आचार्यत्व प्रगट हो गया । इस आचार्यत्व की विचित्रता वाणी के वैभव (शक्ति) का भी अतिक्रम कर गई थी; उसमें विलास बहुत अधिक शोभित हो रहे थे; बहुत अधिक सात्विक भावों के विकारों के आविर्भाव के कारण उसमें विशेष रमणीयता आ गई थी ।'

(३) विच्छित्ति :—

आकल्परचनाल्पापि विच्छित्तिःकान्ति पोषकृत् ।

[थोड़ी भी वेश की रचना यदि अधिक कान्ति का परिपोष करनेवाली हो तो उसे विच्छित्ति कहते हैं ।] जैसे कुमारसम्भव में :—

कर्णार्पितो रोध्रकषाय रूक्षे गोरोचना भेद नितान्त गौरे ।
तस्याःकपोले पर भाग लाभाद्बवन्ध चक्षूंषियवप्ररोहः ॥

'पार्वती के कपोल लोध्र की सुगन्धि से युक्त रूखे से हो रहे थे और गोरोचन के मलने से उनका गौर वर्ण बहुत अधिक बढ़ गया था । उन कपोलों पर जब कानों में पहराया हुआ यवाङ्कुर शोभित होने लगा तो उसकी शोभा बहुत बढ़ गई और उस यवाङ्कुर ने लोगों की दृष्टि को पूरी तौर से अपने ऊपर बाँध लिया ।'

(४) विभ्रम :—

विभ्रमस्त्वरया काले भूषास्थान विपर्यय ः ॥३८॥

[यदि समय पर शीघ्रतावश आभूषणों के स्थान का उलट-फेर हो जावे तो उसे विभ्रम कहते हैं ।] जैसे :—

अभ्युद्गते शशिनि पेशलकान्तदूती,
संलापसंवलितलोचनमानसाभिः ।
अग्राहि भूषणविधिर्विपरीतभूषा-
विन्यासहासितसखीजनमङ्गनाभिः ॥

'चन्द्र के उदय होने पर प्रियतम की दूती से बातचीत करने में लगे हुये मनवाली नायिकाओं ने ऐसा शृंगार कर लिया कि जिसमें विपरीत आभूषणों के पहनने के कारण सखियाँ हँस रही थीं ।

दूसरा उदाहरण जैसे धनिक का पद्य :—

श्रुत्वायातं बहिः कान्तमसमाप्तविभूषया ।
भाले ऽञ्जनं दृशोर्लाक्षा कपोले तिलकः कृतः ॥

'प्रियतम को बाहर आया हुआ सुनकर आभूषणों के पहिनने को न समाप्त कर चुकनेवाली नायिका ने जल्दबाजी में मस्तक में अञ्जन, नेत्रों में लाली और कपोलों पर तिलक लगा लिया ।'

(५) किलकिञ्चित् :—

क्रोधाश्रुहर्ष भीत्यादेः सङ्करः किल किञ्चितम् ।

[क्रोध आँसू हर्ष और भय इत्यादि के सामूहिक सम्मिलन को किलकिञ्चित् कहते हैं ।]

जैसे धनिक का पद्य :—

रतिक्रीडाद्यूते कथमपिसमासाद्यसमयं
मयालब्धे तस्याः क्वणितकलकण्ठार्धमधरे ।
कृतभ्रूभङ्गासौ प्रकटितविलक्षाधरुदित-
स्मितक्रोधोद्भ्रान्तं पुनरपि विदध्यान्मयि मुखम् ॥

'रति क्रीडा के द्यूत में जैसे तैसे समय प्राप्त कर मैंने उसके अधर का चुम्बन कर लिया जिसमें मधुर स्वरवाला कण्ठ अस्फुटरूप में शब्दायमान हो रहा था । तब उसने अपनी भौंहों को टेढ़ा किया और अपने मुख को कुछ परे-शान बनाकर आधा रोदन सा करते हुए मुस्कुराहट और क्रोध से उद्भ्रांत बना लिया । मैं चाहता हूँ कि उस प्रकार की मुख की चेष्टा वह मेरे प्रति फिर करे ।'

(६) मोट्टायित :—

मोट्टायितं तु तद्भावभावनेष्टकथादिषु ।

[प्रियतम की कथा और उसके अनुकरण इत्यादि के अवसर पर अपने प्रिय-तम के अनुराग से अन्तःकरण वृत्ति का पूर्ण रूप से भावित होना मोट्टायित कहलाता है ।]

जैसे पद्म गुप्त का :—

चित्रवर्तिन्यपि नृपे तत्वावेशेन चेतसि ।
व्रीडार्धवलितं चक्रे मुखेन्दुमवशैव सा ॥

'यद्यपि राजा चित्रलिखित थे (प्रत्यक्ष नहीं थे) फिर भी उस नायिका ने केवल चित्र को ही देखकर अपने चित्त को भावना से भरकर परवश सी होकर अपने मुखचन्द्र को लज्जा से आधा घुमा लिया ।'

दूसरा उदाहरण :—

मातः कं हृदये निधाय सुचिरं रोमाञ्चिताङ्गो मुहुः।
जृम्भामन्थरतारकां सुललितापाङ्गां दधाना दृशम्।
सुप्तेवालिखितेव शून्यहृदया लेखावशेषी भव-
स्यात्मद्रोहिणि किं ह्रिया कथय मे गूढो निहन्ति स्मरः॥

'अरी तू इस समय किसको अपने हृदय में धारण किये है; बड़ी देर से तेरा अंग बार-बार रोमाञ्चित हो रहा है; इस समय तेरी पुतलियाँ विकास (चलने) में मन्द सी पड़ गई हैं; तू इस समय बहुत ही सुन्दर अपाङ्गोंवाली दृष्टि को धारण किये हुए है अर्थात् इस समय तेरी दृष्टि में नई चमक सी आ गई है। तू आजकल सोती हुई सी चित्रलिखित सी, और शून्य हृदयवाली सी जान पड़ती है। इस समय तेरा शरीर रेखा-मात्र शेष रह गया है। हे स्वयं ही अपने से द्रोह करनेवाली तू लज्जा क्यों कर रही है? सब बातें सच-सच बतला दे। निस्सन्देह गुप्त कामदेव मार डालनेवाला होता है।'

तीसरा उदाहरण जैसे धनिक का :—

स्मरदवथनिमित्तं गूढमुन्नेतुमस्याः
सुभग तव कथायां प्रस्तुतायां सखीभिः।
भवति वितत पृष्ठोदस्त पीनस्तनाग्रा
ततवलयितबाहुर्जृम्भितैः साङ्गभङ्गैः॥

'हे सुभग! जब सखियाँ इस नायिका की गूढ़ कामाग्नि के कारणों का पता चलाने के लिए तुम्हारी कथा को प्रस्तुत करती हैं तब यह अपने अंगों की मरोड़ के साथ जमुहाने लगती है जिससे इसकी बाहें विस्तृत होकर वलय के रूप में जुड़ जाती हैं और पीठ के भली भाँति फैल जाने से इसके स्तनों का अग्रभाग ऊँचा हो जाता है।'

(७) कुट्टमित :—

सानन्दान्तः कुट्टमितं कुप्येत्केशाधर ग्रहे॥४०॥

[कुट्टमित उस भाव को कहते हैं जिसमें केश और अधर इत्यादि ग्रहण करने पर अन्दर तो आनन्द उत्पन्न हो किन्तु बाहर से क्रोध प्रगट किया जावे।] जैसे :—

नान्दी पदानि रतिनाटक विभ्रमाणाम्।
आशाक्षराणि परमाण्यथवा स्मरस्य॥
दष्टेऽधरे प्रणयिना विधुताग्रपाणेः
सीत्कार शुष्करुदितानि जयन्ति नार्याः॥

'प्रियतम के अधर दशन करने पर नायिका हाथों के अग्रभाग को कपाने लगी और सीत्कार के साथ उसके शुष्क रोदन भी प्रारम्भ हो गये जो ऐसे

शोभित हो रहे थे मानों रति रूपी नाटक के विलासों का नान्दीपाठ हों अथवा कामदेव की आज्ञा के बहुत बड़े अक्षर हों। इस प्रकार के नायिका के शुष्क रोदन विजयी हो रहे हैं अर्थात् सर्वोत्कृष्ट रूप में विराजमान हैं।'

(८) विब्बोक :—

गर्वाभिमानादिष्टेऽपि विब्बोको नादर क्रिया।

[गर्व और अभिमान से यदि इष्ट का भी अनादर किया जावे तो उसे विब्बोक कहते हैं।] जैसे :—

सव्याजं तिलकालकान् विरलयंल्लोलाङ्गुलिः संस्पृशन्।
वारंवारमुदञ्चयन् कुचयुगप्रोदञ्चिनीलाञ्चलम्॥
यद्भ्रू भङ्गतरङ्गिताञ्चितदृशा सावज्ञमालोकितम्।
तद्गर्वादवधीरितोऽस्मि न पुनः कान्ते कृतार्थी कृतः॥

'हे प्रियतमे! किसी बहाने से तुम्हारे तिलकालक नामक शरीर के चिह्न (लहसुन) को चञ्चल अँगुलियों से स्पर्श करते हुए और विरलित करने की चेष्टा करते हुए तथा दोनों स्तनों पर फहरानेवाले नीले वस्त्र को बार-बार ऊपर करते हुए मुझको तुमने जो भ्रूभंग के साथ अपनी सुन्दर दृष्टि को टेढ़ा करते हुए अपमान के साथ देखा यह तुमने गर्व से मेरा अपमान तो कर दिया किन्तु मुझे कृतार्थ नहीं किया।'

(९) ललित :—

सुकुमाराङ्ग विन्यासो मसृणो ललितं भवेत्॥४१॥

[सुकुमार अङ्गों का सरस विन्यास ललित कहलाता है।] जैसे धनिक का :—

सभ्रूभङ्गं कर किसलयावर्तनैरालपन्ती।
सा पश्यन्ती ललितललितं लोचनस्याञ्चलेन।
विन्यस्यन्ती चरणकमले लीलया स्वैरयातैः।
निस्सङ्गीतं प्रथमवयसा नर्तिता पङ्कजाक्षी॥

'वह कमलनयनी उस समय भ्रूभङ्ग के साथ कर किसलयों को नचाती हुई बातचीत कर रही थी; बहुत ही सुन्दरता के साथ वह नेत्रों के प्रान्त भागों से देखती थी; विलसों के साथ बहुत ही मन्द गति से वह अपने चरण कमलों को रख रही थी, उस समय इन सब बातों से ऐसा जान पड़ता था मानों यौवन का प्रथम उद्गम उस कमलनयनी को बिना ही सङ्केत के नचा रहा हो।'

(१०) विहृत :—

प्राप्तकालं न यद्ब्रूया द्व्रीडया विहृतं हितत्।

[समय पड़ने पर लज्जा से जो बोला न जा सके उसे विहृत कहते हैं ।]
जैसे :—

पादाङ्गुष्ठेन भूमिं किसलय रुचिना सापदेशं लिखन्ती ।
भूयः भूयः क्षिपन्ती मपि सित शवले लोचने लोलतारे ॥
वक्त्रं ह्रीनम्रमीषत्स्फुटदधरपुरं वाक्यगर्भं दधाना ।
यन्मां नोवाच किञ्चित्स्थितमपि हृदये मानसं तद्दनोति ॥

'किसलय के समान कान्तिवाले पैर के अँगूठे से किसी अभिप्राय के साथ भूमि को खरोचती हुई, बार-बार चञ्चल पुतलियोंवाले श्वेत और कर्वुर नेत्रों को मेरी ओर डालती हुई, लज्जा से झुके हुए कुछ खुले हुए अधर पुटों से युक्त वाक्य-गर्भित मुख को धारण किये हुए उस नायिका ने जो मुझसे हृदय में स्थित भी कोई भी बात नहीं कही, यही बात मेरे मन को खिन्न बना रही है ।'

नायक के सहायक

नायक के दूसरे कार्यों के सहायक निम्नलिखित होते हैं :—

मन्त्री स्वंवोभयं वापि सखा तस्यार्थ साधने ।

[अर्थ साधन में उस नायक का सहायक या तो मन्त्री होता है या वह स्वयं होता है या दोनों होते हैं ।]

अर्थ साधन में तन्त्र (अपने राज्य में किया हुआ कार्य) अवाप (दूसरे के किये हुए कार्यों को गुप्तचर इत्यादि के द्वारा जानना) शत्रु निग्रह इत्यादि सम्मिलित हैं ।

इनका विभाग इस प्रकार है :—

मन्त्रिणा ललितः शेषा मन्त्रिस्वायत्त सिद्धयः ।

[धीरललित नायक की सिद्धि मन्त्री के हाथ में होती है और शेष नायकों की सिद्धि या तो मन्त्री के हाथ में या अपने हाथ में या दोनों के हाथ में होती है ।]

आशय यह है कि धीरोदात्त इत्यादि नायकों की सिद्धि किसी एक के हाथ में होने का नियम नहीं । धर्म के सहायक ये होते हैं :—

ऋत्विक्पुरोहितौ धर्मे तपस्वि ब्रह्मवादिनः ॥४३॥

[धर्म के सहायक ऋत्विज (यज्ञ करानेवाले) पुरोहित, तपस्वी और ब्रह्म-वेत्ता दुष्टदमन को दण्ड कहते हैं । दण्ड के सहायक ये होते हैं :—

सुहृत्कुमाराटविकाः दण्डे सामन्त सैनिकाः ।

[मित्र, कुमार, आटविक, सामन्त और सैनिक ये दण्ड के सहायक होते हैं ।]

इसी प्रकार भिन्न-भिन्न कार्यों में भिन्न-भिन्न सहायकों को नियुक्त करना चाहिए। यही बात निम्नलिखित कारिका में कही गई है :—

अन्तःपुरे वर्षवराः किराताः मूकवामनाः ॥४४॥
म्लेच्छाभीर शकाराद्याः स्व स्व कार्योप योगिनः।

[अन्तःपुर में वर्षवर (नपुंसक) किरात, मूक, वामन, म्लेच्छ, आभीर, शकार (राजा का साला) ये सब अपने अपने कार्यों में उपयोगी होते हैं।]

इनमें इतनी विशेषता और है :—

ज्येष्ठ मध्याधमत्वेन सर्वेषां च त्रिरूपता ॥४५॥
तारतम्याद्यथोक्तानां गुणानां चोत्तमादिता।

[पूर्वोक्त सभी नायक इत्यादि ज्येष्ठ, मध्य और अधम इन भेदों से तीन-तीन प्रकार के होते हैं। उपर्युक्त गुणों के भी तारतम्य से उत्तम इत्यादि भेद होते हैं।]

इस प्रकार पहले कहे हुए नायक-नायिका, दूत-दूती, मन्त्री-पुरोहित, इत्यादि तीन-तीन प्रकार के होते हैं ज्येष्ठ, मध्यम और अधम। गुणों में भी उत्तमता इत्यादि हो सकती है। किन्तु इस उत्तमता इत्यादि का विचार गुणों की संख्या के उपचय या अपचय के द्वारा नहीं किया जाता किन्तु गुणों के परिमाण की अधिकता इत्यादि के विचार से किया जाता है।

उपसंहार :—

एवं नाट्ये विधातव्यो नायकः सपरिच्छदः।

[इस प्रकार अपने परिच्छद (सहचर और अनुचर वर्ग) के सहित नायक का नाट्य में विधान करना चाहिए।]

वृत्ति-निरूपण

अब नायक के व्यापार बतलाये जा रहे हैं :—

तद्व्यापारात्मिका वृत्तिश्चतुर्धा तत्र कैशिकी।
गीत नृत्य विलासाद्यैः मृदुः शृङ्गार चेष्टितैः ॥४७॥

[नायक के कार्यों के अनुकूल स्वभाव को वृत्ति कहते हैं। यह वृत्ति चार प्रकार की होती है। उन चारों में कैशिकी नामक प्रथम वृत्ति उसे कहते हैं जो नृत्य, गीत, विलास इत्यादि शृङ्गार चेष्टाओं से कोमल हो।]

वृत्ति नायक के ऐसे स्वभाव को कहते हैं जिससे प्रेरित होकर नायक किसी कार्य में प्रवृत्त हो। यह चार प्रकार की होती है—कैशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती। यहाँ पर इन्हीं वृत्तियों का विवेचन किया जा रहा है।

(अ) कैशिकी वृत्ति

कैशिकी वृत्ति कोमल वृत्ति होती है। इसकी पहिचान यह है कि इसमें गाना नाचना कामनाओं का उपभोग इत्यादि हुआ करता है। इसका क्रिया-कलाप श्रृंगार रसमय होता है और यह वृत्ति काम फल की प्राप्ति से युक्त होती है। इस कैशिकी वृत्ति के निम्नलिखित चार भेद होते हैं :--

नर्म तत्स्फिञ्जतत्स्फोट तद्‌गर्भैश्चतुरङ्गिका ।

[(१), नर्म (२) नर्मस्फिञ्ज, (३) नर्मस्फोट और (४) नर्मगर्भ ये चार अङ्ग कैशिकी वृत्ति के होते हैं।]

(१) नर्म :—

वैदग्ध्य क्रीडितंनर्म प्रियोपच्छन्दनात्मकम् ॥४८॥
हास्येनैव सश्रृङ्गारभयेन विहितं त्रिधा ।
आत्मोपक्षेपसंभोगमानैः श्रृङ्गार्यपि त्रिधा ॥४६॥
शुद्धमङ्गं भयं द्वेधा त्रेधावाग्वेषचेष्टितैः ॥
सर्वं सहास्यमित्येवं नर्माष्टादशधोदितम् ॥५०॥

[विदग्ध-क्रीड़ा को नर्म कहते हैं जिसमें प्रिय के आवर्जन की चेष्टा की गई हो। यह नर्म तीन प्रकार का होता है (१) शुद्ध हास्य नर्म, (२) श्रृङ्गार युक्त हास्य नर्म और (३) भययुक्त हास्य नर्म। श्रृङ्गार नर्म भी तीन प्रकार का होता है (१) आत्मोपक्षेप अर्थात् अपने अनुराग का निवेदन, (२) सम्भोग अर्थात् सहवास की इच्छा प्रकाशन और (३) मान अर्थात् सापराध प्रिय का प्रति भेदन या मानापनोदन। सभय नर्म भी दो प्रकार का होता है (१) अङ्गी के रूप में शुद्ध भय और (२) दूसरे रस के अङ्ग के रूप में भय। इस प्रकार से नर्म के छः भेद हो गये--एक प्रकार का शुद्धहास्य तीन प्रकार का श्रृङ्गार हास्य और दो प्रकार का भय हास्य। इन सब भेदों में प्रत्येक के वाणी, वेष और चेष्टा गत रूप में तीन तीन भेद होते हैं। इस प्रकार हास्य से युक्त सभी प्रकार के नर्म के १८ भेद होते हैं।]

नर्म सामान्य रूप से विदग्धों (निपुणों) की मज़ाक को कहते हैं। इस मज़ाक का प्रयोग प्रियतम की अनुकूलता प्राप्त करने की बात कही गई हो। इसके उपर्युक्त १८ भेद हैं। इनके कुछ उदाहरण यहाँ पर दिये जा रहे हैं :—

(क) शुद्ध हास्य नर्म के तीन भेद :—

(अ) वचनों के हास्य नर्म का उदाहरण जैसे कुमारसम्भव में :—

पत्युश्शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम् ।
सारञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान ॥

'सखी ने पार्वती के चरणों में लाली लगाकर हँसी करते हुए कहा कि इस रंगे हुए चरण से पति के मस्तक पर विराजमान चन्द्रकला का स्पर्श करना और यह कह कर सखी ने आशीर्वाद दिया। इस बात को सुनकर पार्वती ने बिना कुछ कहे ही उसे माला से मार दिया।'

(आ) वेषनर्म का उदाहरण जैसे नागानन्द में विदूषक और शेखर की घटना।

(इ) क्रियानर्म जैसे मालविकाग्निमित्र में स्वप्न देखनेवाले विदूषक के ऊपर निपुणिका सर्प भय को उत्पन्न करनेवाले दण्ड काष्ठ को उसके ऊपर गिरा देती है।

यह शुद्ध हास्य के तीनों भेदों की व्याख्या हो गई। इसी प्रकार वाणी-वेष और चेष्टा की दृष्टि सश्रृङ्गार हास्य और सभयहास्य के तीन तीन भेदों के उदाहरण समझ लेने चाहिए।

(ख) सश्रृङ्गार हास्य के मौलिक तीनों भेदों के उदाहरण :—

(अ) आत्मोपक्षेप या प्रणय निवेदन सश्रृङ्गारहास्य का उदाहरण :—

मध्याह्नं गमय त्यजश्रमजलं स्थित्व पयः पीयताम्।
मा शून्येति विमुञ्च पान्थ विवशः शीतः प्रपामण्डप।
तामेव स्मरघस्मर श्रम शरत्रस्तां निजप्रेयासम्।
त्वच्चित्तं तु न रञ्जयन्ति पथिक प्रायः प्रपापालिकाः॥

'हे पथिक! तुम इस प्याऊ के मण्डप में मध्याह्न काल बिता लो; पसीने को सुखा लो, बैठकर पानी पी लो; यह प्याऊ का मण्डप बड़ा ही शीतल है इसको शून्य समझकर अकेले होने के कारण विवश होकर छोड़ न देना; अपनी उसी प्रियतमा का स्मरण करो जो भक्षक कामदेव के बाणों से पीड़ित है। प्रायः प्रपापालिकायें तो तुम्हारे चित्त का अनुरञ्जन कर ही नहीं सकतीं।'

(आ) संभोग नर्म का उदाहरण :—

सालोए च्चिअ सूरे घरिणी घरसा मिअस्य घेत्तूण।
णेच्छन्तस्यवि पाए धुअई हसन्ती हसन्तस्स॥
[सालोके एव सूर्ये गृहिणी गृहस्वामिकस्य गृहीत्वा।
अनिच्छतोऽपि पादौ धुनोति हसन्ती हसतः॥]

'सूर्य के आलोकपूर्ण रहते हुए भी गृहणी अनिच्छुक भी गृहस्वामी के पैरों को पकड़ कर हिला रही है। उस समय गृहस्वामी भी हँस रहा है और वह भी हँस रही है।'

(इ) माननर्म का उदाहरण :—

तदवितथमवादीर्यन्ममत्वं प्रियेति,
परिजन परिभुक्तं यद्दुकूलं दधानः।
मदधिवसतिमागाः कामिनां मण्डनश्रीः,
व्रजति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन ॥

'यह तुम जो कहा करते थे कि 'तुम मेरी प्रियतमा हो' यह तुम्हारा कथन बिल्कुल सच ही था। तुम परिजन के द्वारा भोग किये हुए वस्त्र को धारण करके मेरे पास आये हो। निस्सन्देह कामियों के शृङ्गार की शोभा प्रियों के देख लेने से ही सफल होती है। (आशय यह है तुम मेरी सौत के भोगे हुए वस्त्रों को धारण किये हुए मेरे पास आये हो। यदि मैं तुम्हारी प्रियतमा न होती तो तुम अपना शृङ्गार मुझे दिखलाने क्यों आते।'

(ग) सभय नर्म के दोनों भेदों के उदाहरण :—

(अ) अङ्गी (शुद्ध) भयनर्म का उदाहरण जैसे रत्नावली में चित्र दर्शन के अवसर पर सुसङ्गता सागरिका से कह रही है--'मैंने चित्रफलक के सहित तुम्हारा सारा वृत्तान्त जान लिया है। मैं जाकर अभी देवी जी से कहे देती हूँ।'

(आ) शृङ्गार के अङ्ग भयनर्म का उदाहरण

अभिव्यक्तालीकः सकलविफलोपायविभवः
चिरंध्यात्वा सद्यः कृतकृतकसंरम्यनिपुणम्।
इतः पृष्ठे पृष्ठे किमिदमिति संत्रास्य सहसा
कृताश्लेषं धूर्तः स्मितमधुरमालिङ्गतिवधूम्॥

जिसका अपकार प्रगट हो चुका था जिसके उपायों का सारा वैभव विफल हो गया था, इस प्रकार के उस धूर्त नायक ने कुछ देर विचार कर एकदम निपुणतापूर्वक बनावटी उद्वेग को दिखलाते हुए 'अरे यह पीछे पीछे क्या आ रहा है यह कह कर भय दिखलाकर मुस्कुराहट की मधुरता के साथ आश्लेष करते हुए उस वधू को भेंट लिया।'

(२) नर्मस्फिञ :—

नर्मस्फिञ्जः सुखारम्भो भयान्तो नवसङ्गमे।

[प्रथम समागम में यदि प्रारम्भ में सुख हो और अन्त में भय हो तो उसे नर्मस्फिञ कहते हैं।]

जैसे मालविकाग्निमित्र में नायिका नायक के पास गई है। उस समय नायक कह रहा है :--

विसृजसुन्दरि सङ्गमसाध्वसं ननुचिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे।
परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरितंमयि ॥

'हे सुन्दरि तुम समागम के भय को दूर कर दो। निस्सन्देह बहुत समय से मैं प्रणयोन्मुख हो रहा हूँ। अब तुम सहकारता (साथ) को प्राप्त होनेवाले मेरे वही चरित्र ग्रहण करो जो सहकार (आम) के विषय में मेधावीलता धारण करती है।'

इस पर मालविका कहती है--'हे स्वामी! मैं देवी के भय से अपना भी प्रिय करने में समर्थ नहीं हूँ।' इत्यादि।

(३) नर्मस्फोट :--

नर्मस्फोटस्तु भावानां सूचितोऽल्परसोलवैः।

[भावों के कुछ अंशों के द्वारा जहाँ पर थोड़ा सा रस सूचित किया जावे उसे नर्मस्फोट कहते हैं।]

उदाहरण :--

गमनमलसं शून्यादृष्टिः शरीरमसौष्ठवम्।
श्वसितमधिकं किन्वेतत्स्यात्किमन्यदतोऽथवा॥
भ्रमति भुवने कन्दर्पाज्ञा विकारि च यौवनम्।
ललितमधुरास्ते ते भावाः क्षिपन्तिच धीरताम्॥

मालती माधव में मकरन्द कह रहा है--'इसका गमन आलस्यपूर्ण है; दृष्टि शून्य सी प्रतीत हो रही है; शरीर में सुन्दरता नहीं है; श्वास भी अधिक चल रही है, यह सब क्या हो सकता है? अथवा यह और होगा ही क्या? संसार में भगवान् कामदेव की आज्ञा फैली हुई है और यौवन विकारमय होता ही है। भिन्न-भिन्न भाव जो स्वभाव से ही ललित और मधुर हैं वे धैर्य को नष्ट कर रहे हैं।'

यहाँ पर गमन इत्यादि भावों के थोड़े-थोड़े अंशों के द्वारा कुछ-कुछ माधव का मालती से प्रेम व्यक्त हो रहा है।

(४) नर्मगर्भ :--

छन्ननेतृप्रतीचारो नर्मगर्भोऽर्थहेतवे।

[यदि किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए नायक का प्रच्छन्न प्रवेश हो तो उसे नर्मगर्भ कहते हैं।]

जैसे अमरूशतक में :--

दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा—
देकस्याःनयने पिधाय विहितक्रीडानुबन्धच्छलः।
ईषद्वक्रितकन्धरःसपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसाम्—
अन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति॥

'नायक ने एक ही आसन पर दो प्रियतमाओं को बैठा हुआ देखकर पीछे से आकर क्रीडानुबन्ध का बहाना कर एक के नेत्रों को बन्द करके कुछ अपने कन्धे को टेढ़ा करके प्रफुल्लित होकर धूर्त ने प्रेम से उल्लसित मनवाली अन्दर ही अन्दर हँसी से युक्त विकसित कपोल फलकोंवाली दूसरी प्रियतमा का चुम्बन कर लिया।'

दूसरा उदाहरण जैसे प्रियदर्शिका के गर्भाङ्क में वत्सराज का वेष धारण करनेवाली सुसङ्गता के स्थान पर साक्षात् वत्सराज का प्रवेश।

अङ्गैः सहास्यनिर्हास्यै रेभिरेषात्रकैशिकी ॥५२॥

[इस प्रकार हास्य से युक्त और हास्य से रहित चारों अङ्गों के साथ-कैशिकी वृत्ति की व्याख्या की गई।]

(आ) सात्त्वती-वृत्ति

विशोका सात्वती सत्व शोर्यत्यागदयार्जवैः।
संलापोत्थापकावस्यां साङ्घात्यः परिवर्तकः ॥५३॥

[सत्व (तेज), शौर्य, त्याग, दया और आर्जव इन गुणों से युक्त शोक से रहित वृत्ति (नायक के व्यापार) को सात्वती वृत्ति कहते हैं। इसके चार भेद होते हैं—'संल्लापक, उत्थापक, साङ्घात्य और परिवर्तक।]

(१) संल्लापक :—

संल्लापको गंभीरोक्तिर्नानाभावरसामिथः।

[अनेक प्रकार के भावों और रसों से युक्त परस्पर गम्भीर उक्ति को संल्लापक कहते हैं।] उदाहरण जैसे वीरचरित में :—

राम :— क्या यह वही परशु है जो परिवार के सहित स्वामिकार्तिकेय के विजय से प्रसन्न किये हुये भगवान नीललोहित (शङ्करजी) ने एक सहस्र वर्ष-पर्यन्त शिष्य रहनेवाले तुम्हें प्रसाद के रूप में दिया था।' परशुराम—'हे राम! हे राम! हे दशरथ के पुत्र। यह वही हमारे पूज्य आचार्य चरणों का प्यारा परशु है जो :—

शस्त्रप्रयोग खुरली कलहे गणानां,
सैन्यैर्वृतो विजित एव मयाकुमारः।
एतावतापि परिरभ्यकृतप्रसादः,
प्रादादमुं प्रियगुणो भगवान् गुरुर्मे॥

'गणों के शस्त्र प्रयोग सम्बन्धी कलह में मैंने सेनाओं से घिरे हुए कुमार स्वामिकार्तिकेय को जीत ही लिया। इतने पर भी गुणों का ही प्यार करनेवाले

हमारे गुरु भगवान् शङ्कर ने मेरा आलिङ्गन करके मुझे यह परशु प्रसन्न होकर पुरस्कार के रूप में दिया था।'

इत्यादि नाना प्रकार के भाव और रसों से युक्त राम और परशुराम के एक दूसरे से गम्भीर वचनों का आदान-प्रदान हुआ है। अतएव यह संलापक नाम की सात्वती वृत्ति है।

(२) उत्थापक :—

उत्थापकस्तु यत्रादौ युद्धायोत्थापयेत्परम्।

[जहाँ पर युद्ध के लिये शत्रु को उत्तेजित किया जावे वहाँ उत्थापक वृत्ति होती है।] जैसे वीरचरित में :—

आनन्दायच विस्मयाय च मया दृष्टोऽसिदुःखाय वा।
वैतृष्ण्यं नु कुतोऽद्य सम्प्रतिममत्वद्दर्शने चक्षुषः॥
त्वत्साङ्गत्यसुखस्य नास्मि विषयः किंवा बहुव्याहृतैः।
अस्मिन् विश्रुत जामदग्न्य विजयेबाहौ धनुर्जृम्भताम्॥

'चाहे मैंने तुम्हें आनन्द के लिए और विस्मय के लिए देखा हो या दुःख के लिए ही देखा हो आज तुम्हारे दर्शन में मेरे नेत्रों की तृष्णा शान्त हो ही कैसे सकती है। मैं तुम्हारे साहचर्य का विषय नहीं हूँ। अथवा बहुत कहने की क्या आवश्यकता। अब इस परशुराम के विजय के लिए प्रसिद्ध बाहु में धनुष अपना बल दिखलावे।'

(३) साङ्घात्य :—

मन्त्रार्थ दैवशक्त्यक्त्यादेः साङ्घात्यः सङ्घ भेदनम्।

[मन्त्र, अर्थ या दैव की शक्ति से सङ्घ भेदन को साङ्घात्य कहते हैं।]

मन्त्र (विचार) की शक्ति से सङ्घ भेदन का उदाहरण जैसे मुद्राराक्षस में चाणक्य ने राक्षस और उसके सहायकों का अपनी बुद्धि से भेद करा दिया।

अर्थशक्ति से जैसे मुद्राराक्षस में ही पर्वतक के आभूषणों के राक्षस के हाथ में जाने से मलयकेतु और उसके सहयोगियों का भेद किया गया।

दैवशक्ति से जैसे रामायण में दैवशक्ति से रावण और विभीषण में भेद डाला गया।

(४) परिवर्तक :—

प्रारब्धोत्थानकार्यान्य करणात्परिवर्तकः॥५५॥

[प्रारम्भ किये हुए उद्योगवाले कार्य का परित्याग कर अन्य कार्य को करना परिवर्तक कहलाता है।] जैसे वीरचरित में :—

हेरम्बदन्तमुसलोल्लिखितैक भित्ति
वक्षोविशाख विशिखव्रणलाञ्छनं मे।

रोमाञ्चकञ्चुकितमद्भुतवीरलाभात्
यत्सत्यमद्य परिरब्धुमिवेच्छतित्वाम् ॥

'मेरा वक्षस्थल की भित्ति श्री गणेशदेव के दाँत रूपी मूसल से खरोंचा जा चुका है और स्वामिकार्तिकेय के बाण का चिह्न उस पर बना हुआ है। आज अद्भुत वीर के प्राप्त कर लेने से यह रोमाञ्च रूप कञ्चुक से परिपूर्ण हो गया है और सचमुच आज वह तुम्हें भेंटना चाहता है।'

'राम—भगवन्! परिरम्भण की बात प्रस्तुत के प्रतिकूल प्रतीत होती है।' इत्यादि सात्वती वृत्ति का उपसंहार :—

एभिरङ्गैश्चतुर्धेयं सात्वती—

[इन अंगों के द्वारा सात्वती वृत्ति के चार अंग होते हैं।]

(इ) आरभटी वृत्ति

—आरभटी पुनः

मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादि चेष्टितैः ॥५६॥
संक्षिप्तिका स्यात्संफेटो वस्तूत्थानावपातने।

[माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध और उद्भ्रान्त इत्यादि चेष्टाओं के द्वारा आरभठी वृत्ति होती है। उसके चार भेद होते हैं—(१) संक्षिप्तिका, (२) संफेट, (३) वस्तूत्थान और (४) अवपातन।]

माया का अर्थ है मन्त्र के बल से अविद्यमान वस्तु को प्रकाशित करना। तन्त्र के बल पर अविद्यमान वस्तु का प्रकाशन इन्द्रजाल कहलाता है। नीचे उन चार भेदों की व्याख्या की जा रही है।

(१) संक्षिप्तिका :—

संक्षिप्त वस्तुरचना संक्षिप्तिः शिल्पयोगतः ॥५७॥
पूर्वनेतृनिवृत्यान्ये नेत्रन्तर परिग्रहाः।

[शिल्प (मिट्टी, बाँस का दल इत्यादि द्रव्यों के संयोग से संक्षिप्त रूप में किसी वस्तु को प्रगट कर देना संक्षिप्ति कहलाता है। दूसरे लोग कहते हैं कि प्रथम नायक को हटाकर दूसरे नायक को उपस्थित करना संक्षिप्तिका कहलाता है।]

प्रथम मत के अनुसार संक्षिप्तिका का उदाहरण जैसे उदयन चरित में किलिञ्ज (चटाई या पतले लकड़ी के तख्ते) के बने हुए हाथी का उपस्थित करना। दूसरे मत के अनुसार उदाहरण जैसे बालि को हटाकर सुग्रीव यो उपस्थित करना। एक नायक के स्थान पर दूसरे नायक को उपस्थित करने का यह भी आशय है कि नायक की एक दशा से उसे दूसरी दशा में ले जाना भी संक्षि-

सिका कहलाता है। जैसे परशुराम के औद्धत्य को दूर कर 'ब्राह्मण जाति पवित्र होती है।' यहाँ से उनमें शान्त रस का सम्पादन करना।

(२) संफेट :—

संफेटस्तु समाघातः क्रुद्धसंरब्धयोर्द्वयोः।

[क्रुद्ध और उत्तेजित दो व्यक्तियों का परस्पर अधिक्षेप संफेट कहलाता है।] जैसे मालती माधव में माधव और अघोरघंट का तथा रामायण के आधार पर रचे हुए प्रबन्धों में मेघनाद और लक्ष्मण का परस्पर अधिक्षेप हुआ है। अतएव वहाँ पर संफेट कहा जावेगा।

(३) वस्तूत्थापनम :—

मायाद्युत्थापितं वस्तु वस्तूत्थापनमिष्यते।

[माया इत्यादि के द्वारा उत्थापित वस्तु को वस्तूत्थापनम कहते हैं।] जैसे उदात्त राघव में :—

जीयन्ते जयिनोऽपि सान्द्रतिमिर व्रातैर्वियद्व्यापिभि।
भास्वन्तः सकलारवेरपिरुचः कस्मादकस्मादमी॥
एताश्चोग्र कवन्धरन्ध्ररुधिरैराध्माय मानोदराः।
मुञ्चन्त्याननकन्दरानलमुचस्तीव्रारवाः फेरवः॥

'विजयशील भी चमकनेवाले सूर्य के भी सारे प्रकाश में अकस्मात् ही क्यों आकाश में व्याप्त होनेवाले घने अन्धकार के समूह से जीत लिये गये हैं। ये भयानक कबन्धों के छिद्रों में प्रवाहित होनेवाले रक्त से फूले हुए पेटोंवाले तीव्र शब्द से युक्त सियार इस ओर को अपने मुख गह्वर से आग क्यों छोड़ रहे हैं।' इत्यादि।

(४) अवपात :—

अवपातस्तु निष्काम प्रवेशत्रास विद्रवैः॥५९॥

[निष्क्रमण प्रवेश भय और भागना इत्यादि के वर्णन में अवपात नामक आरभटी वृत्ति होती है।] जैसे रत्नावली में —

कण्ठे कृत्वाव शेषं कनकमयमधः शृङ्खलादाम कर्षन्।
क्रान्त्वाद्वाराणि हेलावलचरण बलत्किङ्किणी चक्रवालः।
दत्तातङ्को गजानामनुसृतसरणिः सम्भ्रमादश्वपालैः।
प्रभ्रष्टोऽयं प्लवङ्गः प्रविशति नृपतेर्मन्दिरं मन्दुरातः॥

'सोने की बनी हुई जञ्जीर की माला को अपने कण्ठ में डाले हुए और शेष को पृथ्वी पर घसीटते हुए, द्वारों का अतिक्रमण करके अपमानपूर्वक चरणों के रखने से किङ्किणी के समूह को शब्दायमान करते हुए, हाथियों को आतङ्कित करनेवाला भ्रमपूर्वक अश्वपालों के द्वारा पीछा किया हुआ यह बंदर अपने बँधने के स्थान से छूटकर राजभवन में घुस रहा है।'

नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणना भावादकृत्वात्रपा-
मन्तः कञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः ॥
पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतम् ।
कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किनः ॥

'हिजड़े तो मनुष्यों में गणना न होने के कारण लज्जा छोड़कर भाग गये; यह वामन भय के कारण कञ्चुकी के कञ्चुक के अन्दर घुसा जा रहा है; किरातों ने तो दिशाओं के छोर का आश्रय लेकर अपने नाम का चरितार्थ ही कर दिया और कुबड़े लोग कहीं देखने के लिए न जावें इस भय से बहुत धीरे धीरे झुक-झुककर जा रहे हैं ।

दूसरा उदाहरण जैसे प्रियदर्शिका के प्रथम अङ्क में विन्ध्यकेतु के आक्रमण के अवसर पर । आरभटी के सहित वृत्ति निरूपण का उपसंहार :—

एभिरङ्गैश्चतुर्धेयं नार्थ वृत्तिरतः परा ।
चतुर्थी भारती सापि वाच्या नाटक लक्षणे ॥६०॥
कैशिकीं सात्वतीं चार्थवृत्तिमारभटीमिति ।
पठन्तः पञ्चमीं वृत्तिमौद्भटाः प्रतिजानते ॥६१॥

[उपर्युक्त अङ्गों के द्वारा आरभटी वृत्ति चार प्रकार की होती है । (इस प्रकार ऊपर तीन वृत्तियों का निरूपण किया जा चुका है ।) चौथी भारती वृत्ति होती है; उसका वर्णन हम नाटक के लक्षण में करेंगे । उद्भट के अनुयायियों ने कैशिकी, सात्वती और आरभटी नाम की अर्थ वृत्तियों को स्वीकार करते हुए एक पाँचवीं वृत्ति को भी अङ्गीकार किया है ।]

यह पाँचवीं वृत्ति कहीं लक्ष्य में नहीं देखी जाती और यह सिद्ध भी नहीं की जा सकती । क्योंकि रसों में हास्य इत्यादि का तो समावेश भारती वृत्ति में ही हो जाता है और नीरस अर्थ को कोई काव्य कह ही नहीं सकता । वास्तव में तो तीन ही वृत्तियाँ हैं । भारती एक शब्द-वृत्ति होती है । आमुख का अङ्ग होने के कारण इसका आमुख के प्रकरण में ही वर्णन किया जावेगा ।

वृत्तियों के प्रयोगनियम की व्यवस्था यह है :—

शृंगारे कैशिकी वीरे सात्वत्यारभटी पुनः ।
रसे रौद्रे च वीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती ॥६२॥

[शृंगार में कैशिकी, वीर में सात्वती और रौद्र तथा वीभत्स रस में आरभटी वृत्ति का प्रयोग होता है । भारती वृत्ति का सर्वत्र प्रयोग होता है ।]

अब यह बतलाया जा रहा है कि नायकों को देश भेद के अनुसार भिन्न-भिन्न वेष रचना इत्यादि क्रियाकलाप को प्रवृत्ति कहते हैं :—

देश भाषा क्रियावेषलक्षणाः स्युः प्रवृत्तयः ।
लोकादेवावगम्यैताः यथौचित्यं प्रयोजयेत् ॥६३॥

[नायकों की प्रवृत्तियाँ देश, भाषा क्रिया और वेष के लक्षणोंवाली होनी हैं अर्थात् इन्हीं के अनुसार नायकों का क्रियाकलाप जाना जा सकता है। इन सबका प्रयोग लोक से ही समझकर औचित्य के अनुसार करना चाहिए।]

पाठ्य

पाठ्य में ये विशेषताएँ होती हैं :—

पाठ्यं तु संस्कृतं नृणामनीचानां कृतात्मनाम् ।
लिङ्गिनीनां महादेव्या मन्त्रिजावेश्ययोः क्वचित् ॥६४॥

[मनुष्यों में अनीच और कुशल आत्मावाले मनुष्यों की भाषा संस्कृत होती है। कहीं-कहीं चिह्न धारण करनेवाली (संन्यासिनी इत्यादि) महादेवी (रानी) मन्त्री की लड़की और वेश्या स्त्रियों की भी भाषा संस्कृत होती है।]

स्त्रीणां तु प्राकृतं प्रायः सौरसेन्यधमेषु च ।

[स्त्रियों की प्रायः प्राकृत भाषा होती है और अधम पात्रों की सौरसेनी भाषा होती है ।]

प्राकृत का अर्थ है जो प्रकृति सिद्ध हो। संस्कृत के तत्सम, तद्भव, देशी इत्यादि अनेक प्रकार के शब्द इसमें आते हैं। सौरसेनी और मागधी अपने-अपने प्रदेशों में बोली जाती है और उनके व्याकरण भी अपने-अपने अलग हैं।

पिशाचात्यन्त नीचादौ पैशाचं मागधं तथा ॥६५॥
यद्देशं नीचपात्रं यत्तद्देशं तस्य भाषितम् ।
कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाव्यतिक्रमः ॥६६॥

[पिशाच और अत्यन्त नीच व्यक्ति इत्यादिकों की पैशाची या मागधी भाषा होती है। नीच पात्र जिस देश का हो उसी देश की उसकी भाषा भी होनी चाहिए। कार्यवश उत्तम इत्यादि व्यक्तियों की भाषा में भी परिवर्तन कर देना चाहिए।]

आमन्त्रण

कहनेवाले और सुननेवाले व्यक्तियों की योग्यता के औचित्य के अनुसार आमन्त्रण का प्रयोग किया जाता है। उसके लिए नियम ये हैं :—

भगवन्तो वरैर्वाच्या विद्वद्देवर्षिलिङ्गिनः ।
विप्रामात्याग्रजाश्चार्या नटीसूत्रभृतौ मिथः ॥६७॥

[श्रेष्ठ पात्र विद्वानों, देवर्षियों और चिह्नधारी संन्यासी इत्यादिकों को 'भगवन्' शब्द से तथा ब्राह्मण, मन्त्री और ज्येष्ठ को आर्य शब्द से सम्बोधित करें। नटी और सूत्रधार एक दूसरे को आर्य शब्द से सम्बोधित करें।]

रथी सूतेन चायुष्मान् पूज्यैः शिष्यात्मजानुजाः।
वत्सेति तातः पूज्योऽपि सुगृहीताभिधस्तु तैः ॥६८॥

[सारथी रथ के स्वामी को 'आयुष्मान्' शब्द से सम्बोधित करे। पूज्य लोग शिष्यों, पुत्रों और छोटों से वत्स कहें और तात भी कहें। शिष्य इत्यादि पूज्यों को 'तात' या 'सुगृहीतनामा' इन शब्दों से सम्बोधित करें।]

भावोऽनुगेन सूत्रीच मार्षेत्येतेन सोऽपि च।

[अनुचर (पारिपार्श्विक) सूत्रधार को 'भाव' कहे और सूत्रधार पारिपार्श्विक को 'मार्ष' कहे।]

देवः स्वामीति नृपतिर्भृत्यैर्भट्टेति चाधमैः ॥६९॥
आमन्त्रणीयाः पतिवज्ज्येष्ठमध्या धमैस्त्रियः।

[नौकर राजा को 'देव' और 'स्वामी' इन शब्दों से सम्बोधित करें और अधम लोग 'भट्ट' शब्द से सम्बोधित करें। ज्येष्ठ मध्य और अधम व्यक्ति स्त्रियों को उनके पतियों के समान ही सम्बोधित करें।]

स्त्रियों के विषय में इतनी विशेषता है :—

समाहलेति प्रेष्या च हञ्जे वेश्याज्जुका तथा ॥७०॥
कुट्टिन्यम्बेत्यनुगतैः पूज्या वा जरतोजनैः ॥
विदूषकेण भवती राज्ञी चेटीति शब्द्यते ॥७१॥

[समान स्त्री से 'हला' शब्द का प्रयोग करना चाहिए; नौकरानी से हञ्जे कहना चाहिए; वेश्या से अज्जुका कहना चाहिए; कुट्टिनी से 'अम्बा' कहना चाहिए; अनुचर व्यक्तियों के द्वारा पूज्या या वृद्धा के लिए भी अम्बा शब्द का ही प्रयोग करना चाहिए। रानी और चेटी को विदूषक 'भवती' शब्द का प्रयोग करे।]

उपसंहार

चेष्टा गुणोदाहृति सत्त्वभावान्-
अशेषतो नेतृदशा विभिन्नान्।
को वक्तुमीशो भरतो न यो वा,
यो वा न देवः शशिखंडमौलिः ॥७२॥

[चेष्टा (लीला इत्यादि) गुण (विनय इत्यादि) उदाहृति (संस्कृत प्राकृत भाषा इत्यादि की उक्तियाँ) सत्व (निर्विकार चित्त) और भाव (चित्त का प्रथम विकार) इन सब बातों को जो कि नायकों की दशाओं के भेदों का अनुसरण करते हुए अनेक प्रकार की हो जाती हैं परिपूर्ण रूप से ऐसा कौन व्यक्ति कह सकता है जो न तो भरत ही हो और न चन्द्र खण्ड को मस्तक पर धारण करनेवाला शङ्कर ही हो।]

आशय यह है कि इन सब बातों का पूर्ण रूप से वर्णन कर सकना असम्भव है। यहाँ पर उसका दिग्दर्शन मात्र कराया गया है।

तृतीय प्रकाश

यह बतलाया गया था कि नाटकों के भेदक, वस्तु, नायक और रस होते हैं। इन्हीं तीनों के आधार पर रूपकों का वर्गीकरण किया जाता है। प्रथम प्रकाश में वस्तु का निरूपण कर दिया गया है, द्वितीय प्रकाश में नायक के भेदों का भी विस्तार से विवेचन कर दिया गया है। अब प्रकरण के अनुसार रस का विवेचन करना चाहिए। किन्तु रस विवेचन में बहुत अधिक कहना पड़ेगा। अतएव उसका उल्लङ्घन कर यहाँ पर यह बतलाया जा रहा है कि नाटक में पृथक् पृथक् उनका क्या उपयोग होता है :—

प्रकृतित्वादथान्येषां भूयोरस परिग्रहात्।
सम्पूर्ण लक्षणत्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते ॥१॥

[नाटक अन्य प्रकार के भेदों की प्रकृति है अर्थात् प्रकरण इत्यादि भेदों का लक्षण नाटक के आधार पर ही किया जाता है; नाटक में बहुत अधिक रस का परिग्रह होता है और लक्षण भी उसमें सम्पूर्ण होते हैं। अतएव पहले नाटक की ही व्याख्या की जा रही है।]

नाटक उद्दिष्ट धर्मोंवाला होता है अर्थात् नाटक में सभी धर्म सामूहिक रूप में सङ्कलित होते हैं किन्तु दूसरे भेदों में सभी धर्म सङ्कलित नहीं होते। यही कारण है कि नाटक का लक्षण पहले बनाया जा रहा है। उस नाटक में :—

पूर्वरङ्गं विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते।
प्रविश्य तद्वदपरः काव्यमास्थापयेन्नटः ॥२॥

[पहले पूर्वरङ्ग का विधान करके सूत्रधार के चले जाने पर उसी के समान दूसरा नट प्रविष्ट होकर काव्य की स्थापना करे।]

नाट्यशाला का जिसमें प्रथम अनुरञ्जन किया जाता है उसे पूर्वरङ्ग कहते हैं। नाट्यशाला में सबसे पहले प्रयोग के उत्थापन रूप कार्य के द्वारा सभा का अनुरञ्जन करने से ही पूर्वरङ्ग संज्ञा होती है। जब पूर्वरङ्ग का सम्पादन करके निकल जाता है तब उसी के समान दूसरा नट वैष्णव इत्यादि के वेश में आकर काव्यार्थ की स्थापना करता है। इसीलिए इसे स्थापक कहते हैं। स्थापक के निम्नलिखित भेद और कार्य होते हैं :—

दिव्यमर्त्ये सतद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयोः।
सूचयेद्वस्तु वीजं वा मुखं पात्रमथापि वा ॥३॥

[स्थापक दिव्य वस्तु को दिव्य होकर और मर्त्य वस्तु को मर्त्य होकर सूचित करे। यदि मिश्र वस्तु हो तो वह दो में से एक का रूप धारण कर अर्थात् चाहे दिव्य और चाहे मर्त्य होकर सूचित करे। वह वस्तु, बीज, मुख अथवा पात्र में किसी एक को सूचित करे।

(१) वस्तु के सूचित करने का उदाहरण जैसे उदात्त राघव में : —

रामो मूर्ध्निनिधाय काननमगान्मालामिवाज्ञां गुरोः।
तद्भक्त्या भरतेन राज्यमखिलंमात्रा सहैवोज्झितम् ॥
तौ सुग्रीवविभीषणावनुगतौ नीतौ परां सम्पदम्।
प्रोद्वृत्तादशकन्धरप्रभृतयो ध्वस्ताः समस्ताः द्विषः ॥

'राम अपने पिता की आज्ञा को माला के समान सर पर धारण करके वन को चले गये। भरत ने उनकी भक्ति से माता के साथ ही राज्य का भी परित्याग कर दिया। वे दोनों सुग्रीव और विभीषण जो कि अनुचर बन गये थे महती सम्पत्ति को पहुँचा दिये गये और उद्धत चरित्रवाले रावण इत्यादि सारे शत्रु मार डाले गये।'

(२) बीज का आक्षेप जैसे रत्नावली में 'द्वीपादन्यस्मात्' इत्यादि।

(३) मुख के आक्षेप अर्थात् श्लेष के द्वारा प्रस्तुत वस्तु के प्रतिपादन का उदाहरण :—

आसादितप्रकट निर्मलचन्द्र हासः,
प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्ध कान्तः।
उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं,
रामोदशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीवः ॥

'प्रकट निर्मल चन्द्रहास (१—चन्द्रमा के प्रकाश २—चन्द्रहास नाम की रावण की तलवार) को जिसने प्राप्त कर लिया है जो विशेष रूप से शोभा-वाला है और जिसे बन्धुजीव (१—दोपहरिया का फूल २—बन्धुओं का जीवन) परिपूर्ण (प्रफुल्लित) कर दिया है। इस प्रकार का यह शरत्काल गाढे अन्ध-कारवाले भयानक वर्षाकाल को नष्ट करके उसी प्रकार प्रगट हो रहा है जिस प्रकार मानो राम भयानक रावण को नष्ट करके प्रगट हो रहे हों।'

(४) पात्र के आक्षेप के द्वारा जैसे अभिज्ञान शाकुन्तल में :—

तवास्मिगीतरागेण हारिणा प्रसभंहृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा ॥

'मैं तुम्हारे आकर्षक गीतराग के द्वारा बलात् उसी प्रकार आकर्षित कर लिया गया हूँ जिस प्रकार अत्यन्त वेगवाले हरिण के द्वारा यह राजा दुष्यन्त

आकर्षित कर लिया गया है।' यहाँ पर दुष्यन्त की ओर सङ्केत करके पात्र प्रवेश किया गया है।

भारती-वृत्ति

रङ्गं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः ।
ऋतुं कञ्चिदुपादाय भारती वृत्तिमाश्रयेत् ॥

[किसी ऋतु का आश्रय लेकर मधुर काव्यार्थ सूचक श्लोकों से रङ्ग (नाट्य-शाला) को प्रसन्न करके भारती वृत्ति का आश्रय लेना चाहिए।]

उदाहरण :—

औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया,
तैस्तैर्बन्धु वधूजनस्यवचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः ।
दृष्ट्वाग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे,
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवापातु वः ॥

'नवीन सङ्गम के अवसर पर पार्वती उत्कण्ठा के कारण शीघ्रता करने लगीं; साथ में उत्पन्न होनेवाली लज्जा के कारण घूमकर खड़ी हो गईं; बन्धुवर्ग की बधुओं के भिन्न भिन्न वचनों के द्वारा पुनः सामने लाईं गईं; वर को सामने ही देखकर उनके हृदय में सङ्कोच मिश्रित भय का रस एकदम उत्पन्न हो गया और रोमाञ्च उत्पन्न हो गया; यह देखकर जिन पार्वती जी को हँसते हुए शङ्करजी ने छाती से लगा लिया वे पार्वती जी तुम्हारा कल्याण करें।

इसी प्रकार से भारती वृत्ति का आश्रय लेना चाहिए।

भारती वृत्ति की परिभाषा :—

भारती संस्कृत प्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः ।
भेदैः प्ररोचनायुक्तैः वीथीप्रहसनामुखैः ॥५॥

[भारती वृत्ति ऐसे वाणी के व्यापार को कहते हैं जिसका प्रयोग पुरुष पात्र करें और जिसमें अधिकतर संस्कृत भाषा का प्रयोग किया जावे। इसके चार भेद होते हैं (१) प्ररोचना (२) वीथी (३) प्रहसन और (४) आमुख।]

अब क्रमशः इनके लक्षण बतलाये जा रहे हैं :—

(१) प्ररोचना :—

उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्ररोचना ।

[प्रशंसा के द्वारा उन्मुखी करण को प्ररोचना कहते हैं।] आशय यह है कि जहाँ पर प्रस्तुत अर्थ की प्रशंसा करते हुए श्रोताओं को उन्मुख किया जावे उसे प्ररोचना कहते हैं। जैसे रत्नावली में :—

श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी,
लोकेहारि च वत्सराज चरितं नाट्ये च दक्षावयम्।
वस्त्वेकैक मपीह वाञ्छितफल प्राप्तेः पदं किं पुनः,
मद्भाग्योपचयादया समुदितः सर्वो गुणानां गणः ॥

'एक तो श्रीहर्ष निपुण कवि है; यह परिषद् भी गुणग्राहिणी है; लोक में वत्सराज उदयन का चरित्र आकर्षक है और हम सब नाट्यकला में निपुण भी हैं। यदि इन सब बातों में केवल एक ही हो तो भी वह अभीष्ट फल की प्राप्ति का स्थान बन जाती है फिर यहाँ का तो कहना ही क्या? यहाँ तो हमारे भाग्य से सभी गुणों का समूह एकत्र हो गया है।'

(२) वीथी (३) प्रहसन :—

वीथी प्रहसनं चापि स्वप्रसङ्गेऽभिधास्यते ॥६॥
वीथ्यङ्गान्या मुखाङ्गत्वादुच्यन्तेऽत्रैवतत्पुनः।

[वीथी और प्रहसन की व्याख्या इन्हीं के प्रकरण में की जावेगी। वीथी के अङ्ग आमुख के भी अङ्ग होते हैं। अतएव वीथी के अङ्गों की व्याख्या आमुख के साथ ही कर दी जावेगी।]

(४) आमुख :—

सूत्रधारो नटीं ब्रूते मार्षं वाथ विदूषकम् ॥७॥
स्वकार्यं प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्यायत्तदामुखम्।
प्रस्तावना वा तत्रस्युः कथोद्घातः प्रवृत्तकम् ॥८॥
प्रयोगातिशयश्चाथ वीथ्यङ्गानि त्रयोदश।

[जहाँ पर नटी, पारिपार्श्विक या विदूषक से सूत्रधार बातचीत करता है और चित्रोक्ति के द्वारा जहाँ अपने कार्य का प्रस्तुत से आक्षेप किया जाता है उसे आमुख कहते हैं और उसे ही प्रस्तावना भी कहते हैं। इसके अङ्ग ये होते हैं (१) कथोद्घात (२) प्रवृत्तक (३) प्रयोगातिशय और (४ से १६ तका) १३ वीथी के अङ्ग।]

(१) कथोद्घात :—

स्वेतिवृत्तिसमं वाक्यमर्थं वा यत्र सूत्रिणः।
गृहीत्वा प्रविशेत्पात्रं कथोद्घातो द्विधैवसः ॥

[जहाँ अपने इतिवृत्ति के समान सूत्रधार के (१) वाक्य या (२) अर्थ को लेकर पात्र का प्रवेश हो उसे कथोद्घात कहते हैं। इस प्रकार का यह दो प्रकार का होता है।]

(अ) वाक्य को लेकर पात्र प्रवेश का उदाहरण जैसे रत्नावली में "यौगन्ध-

रायण—"द्वीपा दन्यस्मात्" इत्यादि (देखो पृ०) सूत्रधार के वाक्य को लेकर प्रविष्ट होते हैं।

(आ) वाक्यार्थ को लेकर पात्र प्रवेश का उदाहरण जैसे वेणी संहार में सूत्रधार कहता है :—

निर्वाण वैरिदहनाः प्रशमादरीणां,
नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सहमाधवेन।
रक्त प्रसाधित भुवः क्षत विग्रहाश्च,
स्वस्थाः भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः॥

'शत्रुओं के शान्त हो जाने से शत्रुरूपी आग जिनकी शान्त हो गई है इस प्रकार के पाण्डु पुत्र माधव (कृष्ण) के साथ आनन्द को प्राप्त हों और अनुरक्त व्यक्तियों से पृथ्वी को अलङ्कृत करनेवाले और नष्ट झगड़ेवाले कुरुराज के पुत्र (दुर्योधन इत्यादि) अपने भृत्यों के साथ स्वस्थ हो जावें।' भीमसेन इसके अर्थ को लेकर प्रविष्ट होते हैं और कहते हैं :—

लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः,
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य।
आकृष्ट पाण्डववधू परिधान केशाः,
स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः॥

'लाक्षागृह, अग्नि, विषमिश्रित अन्न और सभा प्रवेश इत्यादि के द्वारा हमारे प्राणों और धनराशियों पर प्रहार करके और पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी के वस्त्र और केशों को खींचकर धृतराष्ट्र के पुत्र मेरे जीते हुए स्वस्थ हों यह कैसे हो सकता है?'

(यहाँ पर सूत्रधार के उक्त वाक्य का एक अर्थ यह भी है कि 'पाण्डवों की शत्रुरूपी आग बुझ जावे और शत्रु विनाश से पाण्डुपुत्र कृष्ण सहित आनन्दित हों और कौरवगण अपने रक्त (खून) से पृथ्वी को अलंकृत कर नष्ट शरीर होकर भृत्यों सहित स्वस्थ (स्वर्गस्थ) हो जावें। किन्तु भीमसेन इस अर्थ को न समझकर प्रथम अर्थ को लेकर ही प्रविष्ट हुए हैं।)

(२) प्रवृत्तक :—

कालसाम्य समाक्षिप्त प्रवेशः स्यात्प्रवृत्तकम् ॥१०॥

[जहाँ पर काल की समानता को लेकर जहाँ पात्र प्रवेश आक्षिप्त (सूचित) किया जावे अर्थात् जहाँ पर वर्तमान काल के गुणों के समान गुणों के वर्णन के द्वारा पात्र-प्रवेश का आक्षेप होवे उसे प्रवृत्तक कहते हैं।] जैसे 'आसादित प्रकटनिर्मलचन्द्रहासः सम्भृतबन्धुजीवः' (देखो पृ० १०४)।

(३) प्रयोगातिशय :—

एषोऽयमुपक्षेपात् सूत्रधारप्रयोगतः ।
पात्र प्रवेशो यत्रैष प्रयोगातिशयो मतः ॥११॥

[जहाँ पर सूत्रधार यह कहे कि--'यह वह है' और इसी आधार को लेकर पात्र प्रवेश हो उसे प्रयोगातिशय कहते हैं ।] जैसे शाकुन्तल में सूत्रधार के — 'जैसे यह राजा दुष्यन्त' यह कहने पर पात्र प्रवेश हुआ है । (दे० पृ० १०४)

वीथी के १३ अङ्ग :—

उद्घात्यका वलगिते प्रपञ्चत्रिगते छलम् ।
वाक्केल्यधिवले गण्डमवस्पन्दित नालिके ॥१२॥
असत्प्रलाप व्याहार मृदवानि त्रयोदश ।

[उद्घात्यक इत्यादि वीथी के १३ अङ्ग होते हैं ।]

(१) उद्घात्यक :—

गूढार्थपद पर्यायमाला प्रश्नोत्तरस्य वा ॥१३॥
यत्रान्योन्यं समालापो द्वेधोषद्धात्यं तदुच्यते ।

[जहाँ पर (१) या तो गूढ अर्थवाले पदों की पर्याय माला हो या (२) प्रश्नोत्तर हो और इस प्रकार उत्तर प्रत्युत्तर दिखलाया जावे उसे उद्घात्यक कहते हैं । इस प्रकार इसके दो भेद होते हैं ।]

(अ) गूढ़ार्थ पद पर्यायमाला (अर्थात् गूढ़ अर्थवाले पद के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए उसके कई एक पर्याय देने) का उदाहरण । जैसे विक्रमोर्वशी में :—

विदूषक - 'यह कामदेव कौन है जो तुम्हें भी कष्ट देता है ? क्या यह कोई पुरुष है या स्त्री है ?' राजा—'मित्र' ?

मनोजातिरनाधीना सुखेष्वेव प्रवर्तते ।
स्नेहस्य ललितो मार्गः काम इत्यभिधीयते ॥

'यह मन से उत्पन्न होता है और व्याधिरहित पुरुषों के सुख में ही प्रवृत्त हुआ करता है । स्नेह के ललित मार्ग को काम कहा जाता है ।'

विदूषक—'फिर भी मैं नहीं समझा ।' राजा—'मित्र ? वह इच्छा से उत्पन्न होता है ।' विदूषक—'क्या जो इच्छा करता है उसी की उसकी कामना कही जाती है ?' राजा—'जी हाँ !' विदूषक—'अच्छा समझ गया जैसे मैं भोजनालय में भोजन की इच्छा करता हूँ ।

प्रश्नोत्तर में वार्तालाप का उदाहरण जैसे पाण्डवानन्द में :—

का श्लाघ्या गुणिनां क्षमा परिभवः को यः स्वकुल्यैः कृतः ।
किं दुःखं परसंश्रयो जगति कः श्लाघ्यो य आश्रीयते ।

को मृत्युर्व्यसनं शुचं जहति के यैर्निर्जिता शात्रवः ।
कैर्विज्ञातमिदं विराट नगरे छन्नस्थितैः पाण्डवैः ॥

'(प्रश्न) गुणियों की प्रशंसा क्या है ? (उत्तर) सहनशीलता। (प्रश्न) पराभव क्या है ? (उत्तर) जो अपने वंशवालों ने किया हो। (प्रश्न) दुःख क्या है ? (उत्तर) दूसरे का सहारा लेना। (प्रश्न) संसार में प्रशंसा-पात्र कौन है ? (उत्तर) जिसका आश्रय लिया जावे। (प्रश्न) मृत्यु क्या है ? (उत्तर) आपत्ति में पड़ना। (प्रश्न) शोक को कौन लोग छोड़ देते हैं ? (उत्तर) जो शत्रु पर विजय प्राप्त कर लें। (प्रश्न) ये बातें किसने जान पाईं ? (उत्तर) विराट नगर में गुप्त रूप में रहनेवाले पाण्डवों ने।'

(२) अवगलित :—

यत्रैकत्र समावेशा त्कार्यमन्यत्प्रसाध्यते ॥१४॥
प्रस्तुतेऽन्यत्र वान्यत्स्यात्तच्चावलगितं द्विधा ॥

[जहाँ पर (१) एक के समावेश से दूसरा कार्य सिद्ध कर लिया जावे अथवा (२) प्रस्तुत अन्य हो और अन्य कार्य बन जावे उसे अवगलित कहते हैं। इस प्रकार अवगलित दो प्रकार का होता है।]

(अ) अन्य के समावेश से अन्य कार्य के सिद्ध करना रूप प्रथम अवगलित का उदाहरण जैसे उत्तर रामचरित में सीता के हृदय में वन विहार का गर्भ दोहद उत्पन्न हुआ है। उस दोहद की पूर्ति के लिए प्रविष्ट होकर जनापवाद के कारण उनका परित्याग कर दिया गया है।

(आ) अन्य के प्रस्तुत होने पर अन्य कार्य के बन जाना रूप दूसरे अवगलित का उदाहरण जैसे छलितराम में--'राम -हे लक्ष्मण ! पिता ·जी से वियुक्त अयोध्या में·मैं विमान पर बैठकर प्रवेश नहीं कर सकता। अतएव उतरकर चलूँगा।

कोऽपि सिंहासनस्याधः स्थितः पादुकयोः पुरः ।
जटावानक्षमाली च चामरी च विराजते ॥

'यह कोई सिंहासन के नीचे पादुकाओं के सामने बैठा हुआ, जटाधारी अक्षमाला को लिये हुए और चमर को धारण किये हुए शोभित हो रहा है।' यहाँ पर दूसरे प्रयोजन से विमान से उतरकर चलने पर भरत दर्शन रूप कार्य की सिद्धि हुई है।

(३) प्रपञ्च :—

असद्भूतं मिथः स्तोत्रं प्रपञ्चो हास्य कृन्मतः ॥१५॥

[असद्भूत (निन्दनीय) बातों से जहाँ पर परस्पर प्रशंसा की जावे और

वह हँसी उत्पन्न करनेवाली हो उसे प्रपञ्च कहते हैं।] निन्दनीय बात का अर्थ है पर दाराभिगमन इत्यादि में निपुणता। जैसे कर्पूरमञ्जरी में :—

रण्डा चन्डा दिक्खिदा धम्मदारा मज्जं मंसं पिज्ज खज्जए अ।
भिक्खा भोज्जं चम्मखण्डं च सेज्जा कोलो धम्मो कस्य नो होइ रम्मो॥
[रण्डा चण्डा दीक्षिता धर्मदारा मद्यं मांसं पीयते खाद्यते च।
भिक्षा भोज्यं चर्मखण्डं च शय्या कौलोधर्मः कस्यनो भातिरम्यः॥]

'रांड और उग्र स्वभाव वाली औरतें तो दीक्षा ली हुई धर्म की पत्नी होती हैं; मद्य और मांस पिया और खाया जाता है; भिक्षा ही भोज्य है और चर्म खण्ड की शय्या होती है। भला यह कौलधर्म किसको पसन्द न आवेगा।'

(४) त्रिगत :—

श्रुति साम्यादनेकार्थ योजनं त्रिगतं त्विह।
नटादित्रितयालापः पूर्वरङ्गे तदिष्यते॥१६॥

[शब्द साम्य से अनेकार्थ योजना को त्रिगत कहते हैं। नट इत्यादि तीन का इसमें आलाप होता है और इसका विधान पूर्व रङ्ग में हुआ करता है।]

नट इत्यादि तीन का अर्थ है सूत्रधार, नटी और पारिपार्श्विक। तीन व्यक्तियों की बातचीत होने से इसे त्रिगत कहते हैं। जैसे विक्रमोर्वशी में :—

मत्तानां कुसुमरसेन षट्पदानां,
शब्दोऽयं परभृतनाद एषधीरः।
कैलासे सुरगण सेवितेसमन्तात्
किन्नर्यः कलमधुराक्षरं प्रगीताः॥

'पुष्प रस से मत्त भौंरों का यह शब्द है; यह कोकिलाओं का धीर नाद है; सुरगणों से सेवित इस कैलास पर चारों ओर किन्नरियाँ कलमधुर अक्षरों में गाना गा रही हैं।'

(५) छलनम् :—

प्रियाभैरप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्य छलनात् छलम्।

[अप्रिय वाक्यों से जो देखने में प्रिय मालूम पड़ते हों विलुब्ध करके छलनम् छल कहलाता है।] जैसे वेणी संहार में भीम और अर्जुन कह रहे हैं :—

कर्ताद्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी।
राजादुःशासनादे गुरुरनुज शतस्याङ्गराजस्य मित्रम्॥
कृष्णा केशोत्तरीय व्ययनयनपट्टः पाण्डवा यस्यदासाः।
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत पुरुषाः द्रष्टुमभ्यागतौस्वः॥

'द्यूत छल को करनेवाला, लाख के निवासस्थान को जलानेवाला, अभि-

मानी, दुश्शासन इत्यादि सौ अनुजों का ज्येष्ठ, अङ्गराज (कर्ण) का मित्र, द्रौपदी केश और वस्त्र के दूर कराने में निपुण वह राजा दुर्योधन जिसके दास पाण्डव हैं, इस समय कहाँ है ? बतलाओ; हम दोनों उसे देखने आये हैं।'

(६) वाक्केली :—

विनिवृत्यास्य वाक्केली द्विस्त्रिः प्रत्युक्तितोऽपिवा ॥१७॥

[(१) प्रक्रान्त साकांक्ष वाक्य के लौटा के कह देना अथवा (२) दो तीन बार उसको प्रगट कर देना वाक्केली कहलाता है।]

(अ) जैसे उत्तर रामचरित में वासन्ती श्री रामचन्द्रजी से कह रही है :—

त्वं जीवितं त्वमसि में हृदयं द्वितीयं,
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे ।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्यमुग्धां,
तामेव शान्तमथवा किमिहोत्तरेण ॥

'तुम जिस मुग्धा को—'तुम्हीं मेरा जीवन हो; तुम मेरा दूसरा हृदय हो, तुम नेत्रों में कौमुदी हो और तुम शरीर में अमृत हो' इत्यादि सैकड़ों प्रिय वचनों से अनुरोध (अनुकूलता) दिखलाया करते थे उसी को तुमने...... अथवा जाने दीजिये अब अधिक उत्तर देने की क्या आवश्यकता ?

(आ) उक्ति प्रत्युक्ति से वाक्केली का उदाहरण जैसे रत्नावली में विदूषक कह रहा है—'श्रीमति मदनिका ! इस चर्चरी को हमें भी सिखा दो।' मदनिका—'हताश ! यह चर्चरी नहीं है; यह द्विपद खण्डक है।' विदूषक—'श्रीमती ! क्या इस खण्डक (खांड) से लड्डू बनाये जाते हैं ?' मदनिका—'नहीं यह पढ़ी जाती है।'

(७) अधिबल :—

अन्यान्यवाक्याधिक्योक्तिः स्पर्धयाधिवलं भवेत् ।

[एक दूसरे के प्रति वाक्यों में स्पर्धासे अधिक कथन करना अधिबल कहलाता है।]

जैसे वेणीसंहार में अर्जुन कह रहे हैं :—

सकलरिपु जयाशा यत्रवद्धा सुतैस्ते,
तृणमिव परिभूतो यस्यदर्पेण लोकः ।
रण शिरसि निहन्ता तस्य राधा सुतस्य,
प्रणयति पितरौ वां मध्यमः पांडुपुत्रः ॥

'जिन पर तुम्हारे पुत्रों ने समस्त शत्रुओं के विजय की आशा बाँध रक्खी थी; जिसके गर्व से सारा लोक तिनके के समान पराभूत हो गया था, युद्ध

भूमि में उसी राधापुत्र कर्ण को मारनेवाला यह मझला पांडव (अर्जुन) आप दोनों (गांधारी और युधिष्ठिर) को प्रणाम कर रहा है।' इस उपक्रम में राजा दुर्योधन कह रहे हैं—'अरे ! आपके समान मैं बढ़-बढ़कर बातें मारने में निपुण नहीं हूँ। किन्तु :—

द्रक्ष्यन्ति न चिरात्सुप्तं वान्धवास्त्वां रणाङ्गणे।
मद्गदाभिन्न वक्षोऽस्थि वेणिका भङ्गभीषणम् ॥

'अत्यन्त शीघ्र तुम्हारे बांधव तुम्हें युद्ध भूमि में सोता हुआ देखेंगे जबकि मेरी गदा से तुम्हारी छाती और हड्डी टूट गई होगी और तुम्हारी आकृति के भङ्ग से बड़ी भयानक हो जावेगी।'

यहाँ पर एक ओर भीम और अर्जुन और दूसरी ओर दुर्योधन में वाक्यों का बढ़ा-चढ़ा कर प्रयोग हुआ है। अतः यहाँ पर दूसरे प्रकार का अधिबल है।

(८) गण्ड :—

गण्डः प्रस्तुतसम्बन्धि भिन्नार्थं सहसोदितम् ॥१८॥

[गण्ड उसे कहते हैं जहाँ पर प्रस्तुत से सम्बन्ध रखनेवाला विरुद्धार्थक वाक्य एकदम कह दिया जावे।] जैसे उत्तर रामचरित में :—

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयोः।
रसावस्याः स्पर्शोवपुषिवहलश्चन्दन रसः ॥
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः।
किमस्या न प्रेयो यदिपरमसह्यस्तु विरहः ॥

'यह सीता घर में तो लक्ष्मी है; नेत्रों के लिए अमृत की बत्ती है; इसका रसमय स्पर्श घने चन्दन रस के समान है; कण्ठ में यह बाहु शीतल और चिकनी मोतियों की माला है। इनकी कौन सी वस्तु प्यारी नहीं हैं ? किन्तु केवल वियोगी ही असह्य है।'

प्रतिहारी - (प्रविष्ट होकर) 'देव आ गया।' राम—'अरे कौन ?' प्रतिहारी—'देव का निकटवर्ती परिचारक दुर्मुख।' यहाँ पर सीता जी के प्रति प्रेम वार्ता प्रस्तुत थी; उसी समय उसका विरोधी दुर्मुख उपस्थित हो गया। अतएव यहाँ पर गण्ड नामक वीथी का अंग है।

(९) अवस्पन्दित :—

रसोक्तस्यान्यथा व्याख्या यत्रावस्पन्दितं हितत्।

[रस के कारण कही हुई बात की और रूप में व्याख्या कर देने को अवस्पन्दित कहते हैं।]

जैसे छलितराम में—"सीता—'पुत्र ! कल तड़के तुम दोनों को अयोध्या को जाना होगा। तब उन राजा को विनयपूर्वक प्रणाम करना।' लव—'माता-

जी ! क्या हम दोनों को राजा के आश्रित होना चाहिए ?' सीता—'पुत्र ! वे तुम्हारे पिता हैं ।' लव—'क्या हम दोनों के रामचन्द्रजी पिता हैं ?' सीता—(आशङ्का के साथ) 'पुत्र ! केवल तुम्हारे ही नहीं किन्तु सम्पूर्ण पृथ्वी के ।"

(१०) नालिका :—

सोपहासा निगूढार्था नालिकैव प्रहेलिका ॥ १६॥

[यदि उपहास के साथ गुप्त बात कह दी जावे तो ऐसी पहेली (छिपे हुए उत्तर) को नालिका कहते हैं ।]

जैसे मुद्राराक्षस में—"चर—'अहे ब्राह्मण ! क्रोध न करो । कुछ तो तुम्हारा गुरु जानता है और कुछ हम जैसे लोग जानते हैं ।' शिष्य—'क्या हमारे उपाध्याय की सर्वज्ञता को नष्ट कर देना चाहते हो ?' दूत—'यदि तुम्हारा उपाध्याय सब कुछ जानता है तो जाने कि चन्द्रमा किसको प्यारा नहीं है ?' शिष्य—'यह जानने से क्या होगा ?" इस उसक्रम में "चाणक्य—'इसका आशय यह है कि मैं चन्द्रगुप्त से विरुद्ध लोगों को जानता हूँ ।"

(११) असत्प्रलाप :—

असम्बद्धकथाप्रयोऽसत्प्रलापो यथोत्तरः ।

[बार-बार असम्बद्ध बातचीत करना असत्प्रलाप कहलाता है ।]

(प्रश्न) असम्बद्धार्थक बातचीत में असङ्गति नाम का वाक्यदोष क्यों नहीं होता ? (उत्तर) स्वप्न देखना; मद, उन्माद और शैशव इत्यादि में असम्बद्ध बातचीत ही विभाव होती है अर्थात् मद इत्यादि का विभावन (परिज्ञान) असम्बद्धार्थक बातचीत से ही होता है । जैसे :—

अर्चिष्यन्ति विदार्य वक्त्र कुहराण्यासृक्कतो वासुके
रङ्गुल्या विषकर्बुरान्गणयतः संस्पृश्यदन्ताङ्कुरान् ।
एकं त्रीणि नवाष्टसप्त षडिति प्रध्वस्तसंख्याक्रमाः
वाचः क्रौञ्चरिपोः शिशुत्वविकलाः श्रेयांसिपुष्णन्तुः ॥

'वासुकि जिस समयरहा था उस समय स्वामि कार्तिकेयजी उसके प्रकाशमान मुख गह्वर को विदीर्ण कर, विष के कारण चित्र-विचित्र वर्ण के दन्ताङ्कुरों को अंगुलि से स्पर्श करके संख्या के क्रम को छोड़कर गिन रहे थे और—'एक तीन नौ आठ सात छः' इत्यादि कह रहे थे । क्रौञ्च के शत्रु कार्तिकेय जी की इस प्रकार की शिशुता के कारण खंडित होनेवाली वाणी आप लोगों के कल्याण को पुष्ट करनेवाली हो ।'

दूसरा उदाहरण :—

हंस प्रयच्छ में कान्ताम् गतिस्तस्यात्वयाहृता ।
विभावितैकदेशेन देयं यदभियज्यते ॥

'हे हंस मेरी प्रियतमा को लौटाओ; क्योंकि तुमने उसकी चाल चुरा ली है। यदि किसी के पास चोरी गये हुए माल का एक भाग मिल जावे तो उसे वह समस्त देना पड़ता है जिसके लिये दावा किया गया हो।'

तीसरा उदाहरण :—

भुक्ताहिमयागिरयः स्नातोहं वह्निना पिवामिजलम्।
हरिहर हिरण्यगर्भाः मत्पुत्रास्तेन नृत्यामि ॥

'मैंने पहाड़ खा लिये हैं; मैंने आग से स्नान कर लिया है; विष्णु, शिव और ब्रह्माजी मेरे पुत्र हैं इसी लिए मैं नाच रहा हूँ।'

(१२) व्याहार :—

अन्यार्थमेव व्याहारो हास्यलोभकरंवचः ॥२०॥

[जो कुछ कहा जावे उससे भिन्न हास्य और लोभ को उत्पन्न करनेवाला वचन व्याहार कहा जाता है।]

जैसे मालविकाग्निमित्र में लास्य प्रयोग के अवसान में—'(मालविका जाना चाहती है) विदूषक—'ऐसा मत करो, उपदेश से शुद्ध होकर जाना।' प्राण-दास—(विदूषक से) 'आर्य कहो क्या तुमने पूजा के क्रम में भेद देखा?' विदू-षक—'प्रातःकाल पहले ब्राह्मण की पूजा होती है। उसका इसने उल्लङ्घन किया है।' (मालविका मुस्कुराती है।) इत्यादि में नायक के विश्वासपूर्वक स्वतन्त्रता से नायिका को देख लेने के कारण उत्पन्न होनेवाले हास्य और लोभ को उत्पन्न करनेवाले वचनों से व्याहार नामक वीथी का अङ्ग है।

(१३) मृदव :—

दोषाः गुणा गुणादोषा यत्रस्युर्मृदवंहितत्।

[जहाँ गुण दोष के रूप में और दोष गुण के रूप में दिखलाये जावें उसे मृदव कहते हैं।]

जैसे शाकुन्तल में :—

मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्साह योग्यं वपुः।
सत्वानामुपलक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः ॥
उत्कर्षः सच धन्विनां यदिषवः सिध्यन्तिलक्ष्येचले।
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगया मीदृग्विनोदः कुतः ॥

'मृगया से भेद छुट जाता है, उदर कृश हो जाता है और शरीर हल्का और उत्साह के योग्य हो जाता है। जीवों का भी चित्त भय और क्रोध में विकारवाला ज्ञात हो जाता है अर्थात् यह मालूम पड़ जाता है कि किस जीव का भय में कैसा चित्त होता है और क्रोध में कैसा होता है। धनुर्धारियों का यह उत्कर्ष है कि उनके बाण चञ्चल लक्ष्य में भी सिद्ध हो जाते हैं। व्यर्थ

ही लोग मृगया को एक दुर्व्यसन बतलाते हैं। ऐसा आनन्द अन्यत्र कहाँ प्राप्त हो सकता है ?'

यहाँ पर सदोष मृगया को गुणयुक्त बतलाया गया है। दूसरा उदाहरण :--

सततमनिवृत्तमानसमायाससहस्र संकुलक्लिष्टम्।
गतनिद्रमविश्वासं जीवतिराजा जिगीषुरयम्॥

'यह विजय का इच्छुक राजा (बड़ा ही बुरा) जीवन व्यतीत कर रहा है। इसका मन निरन्तर अशान्त रहता है; सहस्रों परिश्रमों से भरे होने के कारण इसका जीवन बड़ा ही क्शलेमय है; निद्रा आती ही नहीं और विश्वास भी किसी व्यक्ति का नहीं है।इस प्रकार इसका जीवन बड़ा ही बुरा है।'

यहाँ पर गुणों से परिपूर्ण राज्य के दोषों का वर्णन किया गया है।

दोनों (गुणों को दोष और दोषों को गुण कहने) का उदाहरण :--

सन्तः सच्चरितोदय व्यसनिनः प्रादुर्भवद्यन्त्रणाः।
सर्वत्रैव जनापवाद चकिताः जीवन्ति दुःखं सदा॥
अव्युत्पन्नमतिः कृतेन न सता नैवासता व्याकुलो।
युक्तायुक्तविवेकशून्यहृदयो धन्योजनः प्राकृतः॥

'सज्जनों को सच्चरित्रता के उदय का व्यसन होता है और इसके लिए उनके चित्त में यन्त्रणा उत्पन्न होती रहती है। सर्वत्र ही लोकनिन्दा से वे भयभीत रहते हैं और उनका जीवन सदा दुःखमय होता है। किन्तु साधारण (असज्जन) व्यक्ति न तो किसी बात को समझता है और न अच्छे या बुरे अपने किये हुये कार्यों से वह व्याकुल होता है। उसका हृदय कर्तव्य और अकर्तव्य के ज्ञान से रहित होता है। ऐसे ही साधारण व्यक्ति का जीवन धन्य है।'

उपसंहार :--

एषामन्यतमेनार्थं पात्रं वाक्षिप्य सूत्रभृत्॥२१॥
प्रस्तावनान्ते निर्गच्छेत्ततो वस्तु प्रपञ्चयेत्।

[ऊपर प्रस्तावना के जो अङ्ग बतलाये गये हैं उनमें से किसी एक का आश्रय लेकर सूत्रधार या तो बीज रूप अर्थ का या पात्र का आक्षेप करे और प्रस्तावना के बाद चला जावे। इसके बाद में वस्तु का प्रपञ्च होना चाहिए।]

नाटक

नाटक के नायक और वस्तु की विशेषताएँ ये हैं :—

अभिगम्य गुणैर्युक्तो धीरोदात्तः प्रतापवान्॥२२॥
कीर्तिकामो महोत्साहस्त्रय्यास्त्राता महीपतिः।

प्रख्यातवंशोराजर्षिर्दिव्यो वायत्र नायकः ॥२३॥
तत्प्रख्यातं विधातव्यं वृत्तमत्राधिकारिकम्।

[जिस कथावस्तु का नायक उत्कृष्ट कोटि के सेवन करने योग्य गुणों से युक्त हो, धीरोदात्त हो, प्रतापशाली हो, कीर्ति की इच्छा करनेवाला हो; बड़ा ही उत्साही हो, वेदत्रयी की मर्यादा की रक्षा करनेवाला हो और प्रसिद्ध वंश वाला या तो कोई राजर्षि हो या दिव्य (स्वर्गीय) हो, ऐसे ही नायकवाली प्रख्यात कथावस्तु को आधिकारिक वृत्त बनाना चाहिए।]

इस इतिवृत्त का सत्य वचन इत्यादि अविसंवादी नीतिशास्त्र प्रसिद्ध ऐसे गुणों से युक्त होना चाहिए जिससे दूसरे व्यक्ति अपने चरित्रनिर्माण के उद्देश्य से उसका अनुसरण कर सकें। ऐसा नायक रामायण, महाभारत इत्यादि में प्रसिद्ध कोई धीरोदात्त हो या शङ्कर इत्यादि कोई दिव्य नायक हो। राम या कृष्ण इत्यादि दिव्यादिव्य नायक भी हो सकता है। नाटक में नियमानुसार आधिकारिक वृत्त कोई प्रख्यात (इतिहासप्रसिद्ध) कथावस्तु ही होती है।

यत्तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा ॥२४॥
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्।

[उस प्रख्यात वृत्त में जो नायक के चरित्र दृष्टि से या रस की दृष्टि से अनुचित हो उस विरुद्ध अंश का परित्याग कर देना चाहिए या उसकी दूसरे रूप में कल्पना कर लेनी चाहिए।]

जैसे राम एक धीरोदात्त नायक हैं। उनका छल से बालिवध करना अनुचित है। अतएव माथुराज ने अपने उदात्तराघव में उस वृत्त को छोड़ दिया है। वीरचरित में उसको इस प्रकार बदल लिया है कि रावण के मैत्री भाव से बालि राम को मारने आया था। अतएव राम ने उसे मार डाला।

आद्यन्तमेवं निश्चित्य पञ्चधातद्विभज्य च ॥२५॥
खंडशः सन्धिसंज्ञांश्च विभागानपि कल्पयेत्।

[इस प्रकार आदि से अन्त तक कथावस्तु का निश्चय करके उसको पाँच भागों में विभक्त कर ले। इन सन्धि नामक पाँचों भागों को भी खण्डों में विभक्त करे।]

आशय यह है कि पहले तो कथावस्तु में अनौचित्य और रस विरोध का परिहार करे। इस प्रकार जब कथावस्तु परिशुद्ध हो जावे तब यह निश्चय कर ले कि कौन-सी वस्तु अभिनय के द्वारा रङ्गमञ्च पर दिखलाई जावेगी और कौन सी वस्तु केवल सूचित की जावेगी। इस प्रकार फल का अनुसरण करते हुए उस कथावस्तु में बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य इन पाँच अर्थ प्रकृतियों की कल्पना कर लेनी चाहिए और आरम्भ, यत्न, प्रत्याशा, नियताप्ति और

फलागम इन पाँचों अवस्थाओं के गुणों के अनुसार मुख प्रतिमुख गर्भ, विमर्श और निर्वहण इन पाँच सन्धियों में कथानक को विभक्त कर लेना चाहिए। इसके बाद एक एक सन्धि को लेकर प्रथम प्रकाश में बतलाये हुये उपक्षेप इत्यादि भाग करने चाहिए। इस प्रकार आधिकारिक कथावस्तु को ठीक रूप में विभक्त कर लेने से उसका उचित अनुसन्धान होने लगता है।

चतुःषष्टिस्तुतानि स्युरङ्गानीत्यपरं तथा ॥२६॥
पताकावृत्तमप्यूनमेकाद्यैरनुसन्धिभिः।
अङ्गान्यत्र यथालाभमसन्धिं प्रकरीं न्यसेत् ॥२७॥

[सन्धियों के अङ्ग ६४ होने चाहिए (जिनका वर्णन किया गया है। यह तो हुई आधिकारिक कथावस्तु की बात।) दूसरी कथावस्तु (प्रासङ्गिक वृत्त) में पताका (व्यापक इतिवृत्त) एक दो अनुसन्धि से रहित होना चाहिए। सन्धियों के अंग जितने सम्भव और सुलभ हो सकें उनको निबद्ध करना चाहिए। किंतु प्रकरी (एकदेशस्थ इतिवृत्ति) में सन्धियाँ नहीं होनी चाहिए।]

आधिकारिक इतिवृत्त में पाँचों सन्धियाँ होती हैं किन्तु पताका में उसकी अपेक्षा एक दो न्यून होती हैं। क्योंकि पताका कम स्थान को घेरती है। कभी कभी पताका में तीन या चार भी सन्धियाँ कम हो जाती हैं, अर्थात् एक या दो सन्धि तक ही पताका सीमित हो जाती है। उपक्षेप इत्यादि अंगों को इस प्रकार रखना चाहिए कि जिससे प्रधान का विरोध न होने पावे। पताका की सन्धियाँ आधिकारिक वृत्त की सन्धियों का अनुसरण करती हैं। अतएव उसके लिए अनुसन्धि शब्द का प्रयोग किया गया है।

कथावस्तु का विभाजन कर लेने पर नाटक के प्रारम्भ करने की परिपाटी का वर्णन नीचे दिया जाता है :—

आदौ विष्कम्भकं कुर्यादङ्कं वा कार्ययुक्तितः।

[कार्ययुक्ति को समझकर उसके अनुसार प्रारम्भ में या तो विष्कम्भक रखना चाहिए या अङ्क।]

कार्ययुक्ति का आशय यह है :—

अपेक्षितं परित्यज्य नीरसं वस्तु विस्तरम् ॥२८॥
यदा सन्दर्शयेच्छेषं कुर्याद्विष्कम्भकं तदा।
यदा तु सरसं वस्तुमूलादेव प्रवर्तते ॥२९॥
आदावेव तदाङ्कः स्यादामुखाक्षेप संश्रयः।

[यदि कथानक के अनुसन्धान के लिए वस्तु का विस्तार अपेक्षित तो हो किन्तु नीरस समझकर उसका परित्याग कर दिया जावे और शेष सरस वस्तु दिखलाई जावे तो उस नीरस वस्तु की सूचना देने के लिये विष्कम्भक करना

चाहिए। किन्तु यदि प्रारम्भ से ही सरस वस्तु की प्रवृत्ति हो जावे तो विष्कम्भक की आवश्यकता नहीं होती। ऐसी दशा में आमुख का आश्रय लेकर उपर्युक्त प्रयोगातिशय इत्यादि के द्वारा बीज इत्यादि का आक्षेप कर अङ्क को ही प्रारम्भ कर देना चाहिए।]

अङ्क की परिभाषा यह है :—

प्रत्यक्षनेतृचरितो विन्दुव्याप्ति पुरस्कृतः ॥३०॥
अङ्को नानाप्रकारार्थसंविधानरसाश्रयः ॥

[जिसमें नायक के चरित्र का प्रत्यक्ष रूप से वर्णन किया जावे, जो द्वितीय प्रयोजन के प्रकृति भूत बिन्दु के उपक्षेप रूप अर्थ से युक्त हो। (बिन्दु का व्यापन जिसमें दृष्टि के सामने रक्खा गया हो।) और जो नाना प्रकार के प्रयोजनों के सम्पादन का और नाना प्रकार के रसों का आश्रय हो उसे अङ्क कहते हैं।]

जब रङ्ग प्रवेश (पूर्वरङ्ग) की प्रक्रिया समाप्त हो जावे तो नायक के व्यापार का निर्देश हो जाने पर तत्काल उसके चरित्र कों प्रारम्भ कर देना चाहिए।

अङ्क में दूसरी निम्नलिखित बातें होनी चाहिए :—

अनुभावविभावाभ्याम् स्थायिना व्यभिचारिभिः ॥३१॥
गृहीतमुक्तैः कर्तव्यमङ्गिनः परिपोषणम् ॥

[अनुभाव विभाव और व्यभिचारी भावों तथा स्थायीभाव के द्वारा इनको ग्रहण करते हुए और छोड़ते हुए अंगी (प्रधान रस के स्थायी भाव) को पुष्ट करना चाहिए।]

अङ्गी शब्द का अर्थ है प्रधान रस का स्थायी भाव। उसकी पुष्टि विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों के द्वारा होगी ही। स्थायी भाव से उसकी पुष्टि करने का आशय यह है कि अप्रधान रस के स्थायी भाव से मुख्य रस के स्थायी भाव को पुष्ट करना चाहिए। गृहीत पतिमुक्त कहने का आशय यह है कि अनुभाव इत्यादि को परस्पर मिलाना या इनको सापेक्ष रखना चाहिए।

नचातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत् ॥३२॥
रसं वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलङ्कारलक्षणैः।

[रस के अधिक विस्तार के द्वारा वस्तु को बहुत अधिक विच्छिन्न नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार वस्तु और कथासन्धि के अङ्ग उपमा इत्यादि अलङ्कारों से रस को भी तिरोहित नहीं होने देना चाहिए।]

एको रसोऽङ्गी कर्तव्यो वीरः शृंगार एव वा ॥३३॥
अंगमन्ये रसाःसर्वेकुर्यान्निर्वहणेऽद्भुतम्।

[शृंगार और वीर दोनों रसों में एक को ही अङ्गी (पधान) बनाना चाहिए।

शेष सारे रस अङ्ग होने चाहिए। निर्वहण सन्धि में अद्भुत रस का समावेश होना चाहिए।]

(प्रश्न) यह तो पहले ही (३१वीं कारिका में ही) कह दिया था कि दूसरे रसों के स्थायी भाव मुख्य रस के स्थायी भाव के अंग होना चाहिए। इससे यह तो सिद्ध ही हो गया कि एक रस प्रधान होता है और दूसरा गौण। पुन: इस बात के कहने की क्या आवश्यकता थी कि 'एक रस प्रधान होता है और दूसरे रस गौण होते हैं? क्या इससे पुनरुक्ति दोष नहीं आ जाता? (उत्तर) इन दोनों उक्तियों में भेद है। जहाँ पर यह कहा गया है कि एक ही रस प्रधान हो, वहाँ पर उसका आशय यह है कि यदि प्रधान रस से भिन्न दूसरे रस का स्थायी भाव अपने अनुभावों विभावों, और सञ्चारी भावों से युक्त दिखलाया जावे और उसका उपनिबन्धन परिपूर्ण रूप में कर दिया जावे तो वह अप्रधान रस मुख्य रस का अङ्ग होना चाहिए। इसके अतिरिक्त जहाँ पर यह कहा गया है कि स्थायी भाव से मुख्य स्थायीभाव का परिपोष होना चाहिए उसका आशय यह है कि यदि केवल दूसरे रस का स्थायी भाव हो और उसका विभाव इत्यादि से किसी प्रकार का परिपोष न किया गया हो तो वह दूसरा स्थायी भाव मुख्य स्थायी के व्यभिचारी भाव की भाँति ही उसका परिपोषक हो जाता है।

दूराध्वानं वधं युद्धं राज्य देशादि विप्लवम् ॥३४॥
संरोधं भोजनं स्नानं सुरतं चानुलेपनम्।
अम्बर ग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत् ॥३५॥

[दूर का मार्ग, वध, युद्ध, राज्य और देश इत्यादि विप्लव, घेरा डालना भोजन स्नान सुरत, अनुलेपन, वस्त्र का पकड़ना इत्यादि (उद्वेजक) बातों को प्रत्यक्ष नहीं दिखलाना चाहिए। (अर्थात् ऐसी बातों को अङ्क में स्थान नहीं देना चाहिए, केवल प्रवेशक इत्यादि से उनकी सूचना दे देनी चाहिए।]

नाधिकारि वधं क्वापि त्याज्यमावश्यके न च।

[अधिकारी नायक का वध तो कभी दिखलाना ही नहीं चाहिए (और सूचित भी नहीं करना चाहिए।) आवश्यक का परित्याग भी नहीं करना चाहिए।]

अर्थात् यदि आवश्यकता पड़ जावे तो देवकार्य या पितृकार्य इत्यादि निषिद्ध वस्तु कहीं दिखला भी दी जावे तो कोई क्षति नहीं होती।

एकाहा चरितैकार्थमित्थमासन्ननायकम् ॥३६॥
पात्रैस्त्रिचतुरैरङ्कं तेषामन्तेऽस्य निर्गमः।

[एक ही दिन में एक ही प्रयोजन से किये गये कार्यों को एक अङ्क में

दिखलाना चाहिए। अङ्क में नायक निकटवर्ती होना चाहिए। एक अङ्क में तीन या चार पात्र होना चाहिए और अङ्क के अन्त में इन पात्रों को निकल जाना चाहिए।)

पताकास्थानकान्यत्र विन्दुरन्ते च वीजवत् ॥३७॥
एवमङ्काः प्रकर्तव्याः प्रवेशादि पुरस्कृतः।

[अङ्क में पताकास्थानकों का भी समावेष करना चाहिए। इसमें बिन्दु भी होना चाहिए और अन्त में बीज का परामर्श भी होना चाहिए। इस प्रकार प्रवेशक इत्यादि से युक्त अङ्क बनाना चाहिए।] पताकास्थानक बिन्दु इत्यादि का लक्षण प्रथम अङ्क में दिया गया है।

पञ्चाङ्कमेतदवरे दशाङ्के नाटकं परम् ॥३८॥

[पाँच अङ्कवाला नाटक छोटा कहा जाता है और दश अङ्कोंवाला बड़ा कहा जाता है।]

प्रकरण

अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्यं लोक संश्रयम्।
अमात्यविप्रवणिजामेकं कुर्याच्च नायकम् ॥३९॥
धीरप्रशान्तं सायायं धर्मकामार्थतत्परम्।
शेषं नाटकवत्संन्धि प्रवेशकरसादिकम् ॥४०॥

[प्रकरण का इतिवृत्ति कवि कल्पित लोक के अनुसार होना चाहिए (अर्थात् उसमें उदात्त लोकोत्तरचारियों का वर्णन नहीं होना चाहिए।) मन्त्री ब्राह्मण बनियाँ इत्यादि में कोई एक नायक होना चाहिए। प्रकरण का नायक धीरशान्त होना चाहिए, उसकी प्रयोजन सिद्धि आपत्तियों से युक्त होनी चाहिए और उसको धर्म कार्य की सिद्धि के लिए तत्पर दिखलाना चाहिए। शेष संधि प्रवेश रस इत्यादि सारी बातें नाटक के समान होती हैं।]

नायिका तु द्विधा नेतुः कुलस्त्री गणिका तथा।
कचिदेकैव कुलजा वेश्या कापि द्वयं कचित् ॥४१॥
कुलजाभ्यन्तरा वाह्या वेश्या नातिक्रयोऽनयोः।

[प्रकरण की नायिका दो प्रकार की होती है या तो वह कुलवती स्त्री होती है या गणिका होती है। कहीं अकेली कुलजाती होती है और कहीं केवल वेश्या ही होती है। कहीं दोनों होती हैं। कुलजा घर के अन्दर रहने वाली होती है और वेश्या बाहर की स्त्री होती है। इन दोनों का अतिक्रमण नहीं किया जाता। (अर्थात् प्रकरण में कुलज या वेश्या नायिका होती है यह नियम अनिवार्य है। प्रकरण की नायिका कोई अन्य नहीं हो सकती।)]

वेश के आधार पर जीवन निर्वाह करनेवाली स्त्री को वेश्या कहते हैं। गणिका वेश्या का ही एक भेद होता है। इन दोनों में भेद यह है :—

आभिरभ्यर्थिता वेश्या रूपशीलगुणान्विता।
लभते गणिका शब्दं स्थानञ्च जनसंसदि॥

'यदि वेश्या इन सबसे अभ्यर्थित हो और रूप शील गुण इत्यादि से युक्त हो तो वह गणिका शब्द की अधिकारिणी होती है और उसे जन समाज में स्थान भी मिलता है।'

आभिः प्रकरणं त्रेधा कङ्कीर्णं धूर्त सङ्कुलम्॥४२॥

[इस प्रकार प्रकरण में पात्रों का सङ्कार होता है और उसमें धूर्त व्यक्ति भी भरे रहते हैं। नायिका की दृष्टि से प्रकरण के तीन भेद होते हैं।]

वे तीन भेद ये है—(१) जहाँ केवल वेश्या ही नायिका हो जैसे तरङ्गदत्त नामक प्रकरण। (२) जहाँ केवल कुलवती स्त्री ही नायिका हो जैसे पुष्पदूषितक नामक प्रकरण और (३) जहाँ दोनों सङ्कीर्ण नायिकायें हों जैसे मृच्छकटिका। बदमाश जुआरी इत्यादि धूर्तों से युक्त होने का उदाहरण जैसे मृच्छकटिका नामक संकीर्ण प्रकरण।

नाटिका

लक्ष्यते नाटिकाऽप्यत्र सङ्कीर्णान्यनिवृत्तये।

[यहाँ पर नाटिका का भी लक्षण दूसरे सङ्कीर्ण भेदों की निवृत्ति के लिए लिखा जा रहा है।]

आशय यह है कि नाटक के समान नाटिका तो होती है किन्तु प्रकरण के समान प्रकरणिका इत्यादि नहीं होती। इसी बात को दिखलाने के लिए यहाँ पर नाटिका का लक्षण लिखा जा रहा है। भरतमुनि ने एक श्लोक लिखा है:—

अनयोश्चवन्धयोगादेकोभेदः प्रयोक्तृभिर्ज्ञेयः।
प्रख्यातस्त्वितरो वा नटी संज्ञाश्रितेकाव्ये॥

इसका अर्थ यह है कि—'इन दोनों नाटक और प्रकरण के संयुक्त बन्धन से प्रयोक्ताओं को नटी संज्ञाश्रित काव्य में एक ही भेद समझना चाहिए चाहे वह प्रख्यात हो चाहे अप्रख्यात।' किन्तु कतिपय विद्वान् 'नटीसंज्ञाश्रिते' और 'काव्ये' इन दोनों शब्दों में सप्तमी का एक वचन न मानकर नपुंसकलिंग की प्रथमा का द्विवचन मानते हैं और पद्य की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—'इन दोनों नाटक और प्रकरण के बन्धन के योग से पृथक्-पृथक् एक भेद और समझना चाहिए। इस प्रकार नटी संज्ञाश्रित काव्य दो प्रकार का होता है—(१) यदि वृत्त प्रख्यात हो तो उसे नाटिका कहते हैं और यदि अप्रख्यात हो तो उसे

प्रकरणिका कहते हैं।' इस प्रकार ये विचारक प्रकरणिका नामक एक भेद और मानते हैं। किन्तु उनका यह विचार ठीक नहीं। क्योंकि भरतमुनि ने प्रकरणिका को न तो उद्देश (नामों के गिनाने) में बतलाया है और व उसका लक्षण ही लिखा है। यदि कहो कि नाटिका का लक्षण ही प्रकरणिका का लक्षण माना जाना चाहिए तो फिर इन दोनों को एक ही क्यों न माना जावे? क्योंकि लक्षण जब लक्षण एक ही हो गया तो भेद ही क्या रह जावेगा? यद्यपि भरतमुनि ने उद्देश में नाटिका को भी सम्मिलित नहीं किया है किन्तु उसका लक्षण कर दिया है। इसका आशय यह है कि जो पुरुष प्रधान लक्षण किये गये हैं उनकी स्त्री प्रधानता होने पर वे ही लक्षण मानकर सामान्य लक्षणों के आधार पर नाटिका इत्यादि भेद भी सम्भव थे किन्तु नाटिका का अलग से लक्षण बनाकर लेखक ने मानों यह नियम बना दिया कि सङ्कीर्णों में केवल नाटिका ही लिखी जानी चाहिए प्रकरणिका इत्यादि नहीं। इसी प्रकार त्रोटक इत्यादि का निषेध भी इसी से हो जाता है।

अब यहाँ पर यह दिखलाया जा रहा है कि नाटिका में नाटक और प्रकरण का संकर किस प्रकार होता है :—

तत्रवस्तु प्रकरणान्नाटकान्नायको नृपः ॥४३॥
प्रख्यातो धीरललितः श्रृंगारोऽङ्गीसलक्षणः।

[उस (नाटिका) में प्रकरण से तो वस्तु लेनी चाहिए और नाटक से कोई राजा नायक लेना चाहिए जो प्रख्यात हो और धीरललित हो। अपने लक्षणों से परिपूर्ण श्रृंगार रस प्रधान होना चाहिए।]

आशय यह है कि नाटिका में प्रकरण धर्म का आश्रय लेकर वस्तु तो कवि कल्पित होनी चाहिए और प्रख्यात नायक होना इत्यादि नाटक धर्मों का पालन किया जाना चाहिए। इस प्रकार यह तो सिद्ध ही हो गया कि प्राकरणिका के लिए न तो कोई ऐसी वस्तु ही रह जाती है और न कोई नायक ही रह जाता है जो नाटक प्रकरण और नाटिका में सम्मिलित न हो चुका हो। फिर प्राकरणिका को अलग से मानने का आधार ही क्या रह जाता है? यदि अङ्कों की संख्या या पात्रों की संख्या के आधार पर दोनों को भिन्न माना जावेगा तब तो अनन्त भेद हो जावेंगे जैसा कि निम्नलिखित कारिका से स्पष्ट है :—

स्त्रीप्रायचतुरङ्कादिभेदकं यदि चेष्यते ॥४४॥
एकद्वित्र्यङ्कपात्रादि भेदेनानन्तरूपता।

[यदि स्त्री-पात्रों की अधिकता और चार अङ्कों का होना इत्यादि को भेदक माना जावेगा तो एक अङ्क, दो अङ्क, तीन अङ्क, एक पात्र, दो पात्र, तीन

पात्र एक अङ्क और एक पात्र, एक अङ्क और दो पात्र, दो अङ्क एक पात्र इत्यादि असंख्य भेद हो जावेंगे ।]

नाव्यशास्त्र में नाटिका के निरुपण के अवसर पर लिखा है--'नाटिका में स्त्री-पात्रों की अधिकता होती है, चार अङ्क होते हैं, ललित अभिनय होता है; इसमें गीत और पाठ्य की प्रवृत्ति रहती है; यह रति सम्भोत्मक होती है। इसमें नायिका कामोचार से युक्त होती है और प्रसाधन (श्रृंगार) और क्रोध से भी युक्त होती है। इसमें नायक की दूती का भी समावेश होता है और यह नाटिका नायिका से अधिक सम्बन्धित होती है।'

उपर्युक्त लक्षणों में स्त्री पात्रों की प्रधानता और चार अङ्कों का होना प्रधान लक्षण हैं। शेष बातें सामान्य हैं। 'नाटिका' का नाम ही यह बात सूचित करता है कि इसमें स्त्री पात्रों की अधिकता होती है और इसमें कैशिकी वृत्ति का होना सूचित करता है कि इसमें अवमर्श के अङ्गों की प्रचुरता नहीं होती। इससे इसके चार अङ्कों का होना स्वतः सिद्ध हो जाता है।

नाटिका के विषय में विशेष बातें ये होती हैं :--

देवी तत्र भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ॥४५॥
गम्भीरामानिनी कृच्छ्रात्तन्नेतृद्वशासंगमः ॥

[नाटिका में देवी (रानी) तो ज्येष्ठ होती है, वह पगल्भ होती है, राजवंश में इसकी उत्पत्ति हुई होती है, यह गम्भीर और मानिनी होती है और इसी (रानी) के आधीन नायक और नायिका का समागम होता है जो बड़ी ही कनिठता से हो सकता है।]

नायिका तादृशी मुग्धा दिव्याचातिमनोहरा ॥४६॥

[नायिका भी ज्येष्ठा के ही समान राजवंशोत्पत्ति इत्यादि गुणों से विभूषित होती है। किन्तु भेद यह होता है कि नायिका मुग्धा होती है, दिव्य होती है और अत्यन्त मनोहर होती है।]

अन्तःपुरादि सम्बन्धादासन्नाश्रुतिदर्शनैः ।
अनुरागोनवावस्पो नेतुस्तस्यां यथोत्तरम् ॥४७॥
नेतातत्र प्रवर्तेत देवी त्रासेन शङ्कितः ।

[यह मुग्धा नायिका अन्तःपुर और संगीत इत्यादि में सम्बद्ध रहने के कारण नायक के श्रुति गोचर भी होती रहती है और दर्शन गोचर भी। इस नायिका से नायक का अनुराग नवीन अवस्था में होता है। किन्तु उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। नायक इस नायिका में देवी के भय से शङ्कित होकर प्रवृत्त होता है।]

कैशिक्यंगैश्चतुर्भिश्च युक्ताङ्कैरिव नाटिका ॥४८॥

[जिस प्रकार नाटिका चार अङ्कों से युक्त होती है उसी प्रकार कैशिकी भी चारों अङ्गों से युक्त होती है ।]

आशय यह है कि कैशिकी के जो चारों भेद उनके लक्षणों सहित बतलाये जा चुके हैं उन चारों अङ्गों में प्रत्येक का एक एक अङ्क में उपनिबन्धन करना चाहिए। यही नाटिका का साधारण परिचय है।

भाण

भाणस्तुधूर्तचरितं स्वानुभूतं परेण वा।
यत्रानुवर्णयेदेको निपुणः पण्डितो विटः ॥४६॥
संबोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः ।
सूचयेद्वीरश्रृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यसंस्तवैः ॥५०॥
भूयसा भारतीवृत्ति रेकांके वस्तुकल्पितम् ।
मुख निर्वहणे सांगे लास्याङ्गानि दशापि च ॥५१॥

[जिसमें एक निपुण विट पण्डित ऐसे धूर्त चरित्र का वर्णन करे जिसका अनुभव उसने या तो स्वयं किया हो या किसी दूसरे व्यक्ति के अनुभव की बात हो उसे भाण कहते हैं। भाण में वह विट आकाशभाषित का आश्रय लेकर सम्बोधन और उत्तर प्रत्युत्तर करे। (अर्थात् 'क्या कहा ?' 'अच्छा यह तुम्हारा कहना है।' इत्यादि वाक्यों के द्वारा स्वयं ही उत्तर प्रत्युत्तर करता जावे।) शौर्य का वर्णन करते हुए वीर रस की सूचना दे और सौभाग्य का वर्णन करते हुए श्रृंगार रस की सूचना दे। (क्योंकि इन रसों का पूर्ण परिपाक तो सम्भव है ही नहीं; अतएव सूचना ही दी जा सकती है।) इसमें अधिकतर भारती वृत्ति का आश्रय लिया जाता है। (इसीलिए इसे भाण कहते हैं।) इसमें अङ्गों के सहित मुख या निर्वहण सन्धियों में कोई एक ही सन्धि होती है। वसु कल्पित होती है। और लास्य के दसों अङ्ग होते हैं।]

लास्य के ग्यारह अङ्गों का नाट्यशास्त्र में इस प्रकार वर्णन किया गया है :—

१—गेय पद—जिसमें वीणा इत्यादि गान के उपकरणों के सामने रख कर सांगोपाङ्ग विधि से कोई स्त्री अपने प्रियतम के गुणों का शुष्कगान करती है। उसे गेय पद कहते हैं।

२—स्थितपाठ्य-जिसमें कोई स्त्री वियोगावस्था में कामाग्नि से संतप्त होकर प्राकृत पाठ करे उसे स्थितपाठ्य कहते हैं।

३—आसीन—जिसमें चिन्ता और शोक से युक्त होकर स्थित हुआ

जावे शरीर को संकुचित कर लिया जावे और कुटिल दृष्टि से देखा जावे उसे आसीन कहते हैं।

४—पुष्पगण्डिका—जब स्त्री पुरुष वेष में सखियों के मनोरञ्जन के लिए ललित संस्कृत में गाना गावे तो उसे पुष्पगण्डिका कहते हैं।

५—प्रच्छेदक—जिसमें चन्द्रातप से पीड़ित होकर स्त्रियाँ अपकार करनेवाले भी प्रतियों में आसक्त हो जाती हैं उसे प्रच्छेदक कहते हैं।

६—त्रिगूड़—जिस नाट्य में निष्ठुरता रहित थोड़े से पद हो, जो समवृत्तों से अलंकृत हो और जिसमें पुष्पभाव की अधिकता हो उसे त्रिगूढ़ कहते हैं।

७—सैन्धव—जिसमें पात्र सङ्केत को भुला सका हो, स्पष्ट रूप से करुणा से युक्त हो और प्राकृत भाषा में वचन बोले उसे सैन्धव कहते हैं।

८—द्विमूढक—जिस शुभ अर्थवाले गीतों का अभिनय किया जावे; पदक्रम चारों ओर की हो; स्पष्ट भाव और रसों से युक्त हो और जिसमें बनावटी चेष्टायें हों उसे द्विमूढक कहते हैं।

९—उत्तमोत्तमक—जिसमें अनेक रसों का आश्रय लिया जावे, जो विचित्र श्लोक बन्धों से युक्त हो और जिसमें हेला भाव भी विद्यमान हो उसे उत्तमोत्तमक कहते हैं।

१०—विचित्रपद—यदि प्रतिकृति को देखकर कामाग्नि पीड़ित मन को विनोदित किया जावे उसे विचित्रपद कहते हैं।

११—उक्तप्रत्युक्त—जो कोप और प्रसन्नता से युक्त हो और आक्षेप पूर्ण शब्दों से युक्त हो तथा जिसमें गीत अर्थ की योजना कर दी जावे उसे उक्त प्रत्युक्त कहते हैं।

१२—भावित—जहाँ स्वप्नगत प्रियतम को देखकर विविध भाव प्रगट किये जावें उसे भावित कहते हैं।

लास्य के इन १२ अंगों में विचित्र पद और भावित को कतिपय आचार्य स्वीकार नहीं करते। उनके मत में १० ही लास्य के अङ्ग होते हैं। इसी आधार पर प्रस्तुत ग्रन्थकार ने भी १० ही अङ्ग माने हैं। उनके नाम नीचे की कारिकाओं में दिये जाते हैं।

गेयपदं स्थितं पाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका।
प्रच्छेदक स्त्रिगूढं च सैन्धवाख्यं द्विगूढकम् ॥५२॥
उत्तमोत्तमकं चान्यदुक्तप्रत्युक्तमेव च।
लास्ये दशविधं ह्येतदंग निर्देशकल्पनम् ॥५३॥

[लास्य की गेयपद इत्यादि रूप में १० प्रकार से अङ्गकल्पना की जाती है।] इनके लक्षण ऊपर दिये जा चुके हैं।

प्रहसन

तद्वत् प्रहसनं त्रेधा शुद्धवैकृतसंकरैः ।

[प्रहसन भाण से ही मिलता-जुलता रूपक होता है । इसके तीन भेद होते हैं शुद्ध, वैकृत और सङ्कर ।] भाण से मिलता हुआ कहने का आशय यह है कि प्रहसन और भाण दोनों में वस्तु सन्धि सन्ध्यङ्ग और लास्य इत्यादि एक जैसे होते हैं ।

(अ) शुद्ध—

पाखण्डिविप्र प्रभृति चेट चेटी विटाकुलम् ॥५४॥
चैष्टित वेषभाषाभिः शुद्धं हास्यवचोन्वितम् ।

[पाखण्डी (बौद्ध नागा इत्यादि) विप्र (अत्यन्त सीधे और केवल जाति का आश्रय लेकर निर्वाह करनेवाले चेट चेटी और विट इत्यादि से घिरा हुआ, वेष और भाषा में उन्हीं की चेष्टाओं से युक्त और हास्य बचनों से युक्त शुद्ध प्रहसन होता है ।] आशय यह है कि प्रहसन का अङ्गीरस हास्य होता है, पाखण्डी और विप्रों का ठीक रूप में व्यवहार उपनिबद्ध किया जाता है और यह चेट चेटी के व्यवहार से युक्त होता है । इसीलिए यह शुद्ध प्रहसन कहलाता है ।

(आ) वैकृत और (इ) सङ्कर :—

कामुकादि बचो वेषैः षण्ढ कञ्चुकि तापसैः ॥५५॥
विकृतं सङ्करा द्वीथ्या सङ्कीर्णं धूर्त सङ्कुलम् ।

[जो कामुक इत्यादि (बदमाश साहसी योद्धा इत्यादि) की वेष और भाषा धारण करनेवाले नपुंसक कञ्चुकी और तापस इत्यादि से युक्त हो उसे वैकृत प्रहसन कहते हैं और वीथी के अङ्गों से सङ्कीर्ण होने के कारण धूर्तों से घिरे हुए प्रहसन को सङ्कीर्ण कहते हैं ।] वैकृत के नामकरण का कारण यह है कि इसमें विभाव अपने स्वरूप को छोड़कर विकृत रूप धारण कर लेता है । अर्थात् नट नपुंसक इत्यादि का रूप बनाकर आते हैं और चेष्टायें कामुक योद्धा इत्यादि की भाँति करते हैं ।

रसस्तुभूयसा कार्यः षड्विधो हास्य एव तु ॥५६॥

[छः प्रकार के सभी रस अधिकतर हास्य में ही परिणत कर दिये जाने चाहिए ।]

नाट्यशास्त्र में प्रहसन के विषय में लिखा है—'प्रहसन भी दो प्रकार का होता है एक तो शुद्ध और दूसरा सङ्कीर्ण । शुद्ध प्रहसन में ऐश्वर्यशाली तपस्वी भिक्षु श्रोत्रिय इत्यादि की अत्यंत होती है; नीच जन इसका प्रयोग करते हैं;

यह परिहास के आभाषणों से युक्त होता है। ×××××× इसमें भाषा और आचार इत्यादि विकृत नहीं होते। ×××××× जिसमें वेश्या चेट नपुंसक धूर्त विट और बंधकी (बदमाश स्त्री) विद्यमान हों उसको अनिश्चित वेष भाषा और आचार का अभिनय करने के कारण सङ्कीर्ण प्रहसन कहते हैं।'

डिम

डिमे वस्तु प्रसिद्धं स्याद्वृत्तयः कैशिकीं बिना।
नेतारो देव गन्धर्व यक्षरक्षो महोरगाः ॥५७॥
भूतप्रेत पिशाचाश्च षोडशात्यन्तमुद्धताः।
रसैरहास्य शृङ्गारैः षड्भिर्दीप्तैः समन्वितः ॥५८॥
मायेन्द्रजालसङ्ग्रम क्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः।
चन्द्र सूर्योपरागैश्च न्याय्ये रौद्र रसीऽङ्गिनि ॥५९॥
चतुरङ्कश्चतुस्सन्धिनिर्विमर्शी डिमः स्मृतः।

[डिम में इतिवृत्त प्रसिद्ध होता है; कैशिकी को छोड़कर और सब वृत्तियाँ होती हैं, देव गन्धर्व यक्ष राक्षस और महासर्प इत्यादि इसके नेता होते हैं; भूत प्रेत पिशाच इत्यादि १६ अत्यन्त उद्धत पात्र होते हैं; शृङ्गार और हास्य को छोड़कर शेष छः (वीर, रौद्र, वीभत्स, अद्भुत, करुण और भयानक) रस होते हैं। इसमें माया, इन्द्रजाल, सङ्ग्रम, क्रोध और उद्भ्रान्त इत्यादि चेष्टायें तथा सूर्य और चन्द्र का उपराग (ग्रहण) इत्यादि दिखलाया जाता है। न्याय्य रौद्र रस अङ्गीरस होता है; चार अङ्क होते हैं और विमर्श को छोड़कर चार सन्धियाँ होती हैं।]

डिम का अर्थ है समूह। इसमें नायकों का सामूहिक व्यापार दिखलाया जाता है। इसी लिए इसे डिम कहते हैं। डिम में प्रस्तावना इत्यादि नाटक के समान होती हैं। इसमें यही प्रमाण है कि भरतमुनि ने त्रिपुरदाह नामक इतिवृत्त को डिम कहा है। इससे सिद्ध होता है कि त्रिपुरदाह में जो बातें हैं वे ही डिम में होनी चाहिए।

व्यायोग

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः ख्यातोद्धतनराश्रयः ॥६०॥
हीनो गर्भविमर्शाभ्यां दीप्ताः स्युः डिमवद्रसाः।
अस्त्रीनिमित्तसंग्रामो जामदग्न्यजये यथा ॥६२॥
एकाहा चरितैकाङ्को व्यायोगो बहुभिर्नरैः।

[व्यायोग उसे कहते हैं जिसमें इतिवृत्त प्रख्यात हो, जिसमें प्रख्यात और उद्धत नायक का आश्रय लिया जावे, जिसमें गर्भ और विमर्श ये दो सन्धियाँ

न हों। इसमें भी डिम के समान ही रस प्रदीप्त होते हैं इसमें जो संग्राम दिखलाया जाता है वह स्त्रीनिमित्तक संग्राम नहीं होता। जैसे जामदग्न्यजय में (परशुराम ने पितृवध से कुपित होकर सहस्रार्जुनवध किया है।) स्त्रीनिमित्तक संग्राम नहीं है। एक दिन के चरित्र का इसमें वर्णन होना चाहिए और बहुत से व्यक्तियों के द्वारा इसमें अभिनय किया जाना चाहिए। इसमें एक ही अङ्क होना चाहिए।]

व्यायोग शब्द का अर्थ है जिसमें बहुत से व्यक्ति व्यायुक्त हों। डिम के समान दीप्त रस कहने का आशय यह है कि इसमें हास्य और श्रृङ्गार नहीं होना चाहिए। रस वृत्यात्मक हुआ करते हैं। अतएव न कहने से भी यही व्यक्त होता है कि इसमें रस के समान ही कैशिकी से रहित इतरवृत्तियाँ होती हैं। कारण यह है कि कैशिकी श्रृङ्गार प्रधान होती है। अतएव श्रृङ्गार की निवृत्ति से कैशिकी की स्वतः निवृत्ति हो जाती है। नाट्यशास्त्र में व्यायोग का एक ही अङ्क होना लिखा है। अतएव 'एक दिन का चरित्र एक अङ्क में दिखलाया जावे' यह अर्थ न करके 'एक दिन का चरित्र हो और एक अङ्क हो' यही अर्थ करना चाहिए।

समवकार

कार्यं समवकारेऽपि आमुखं नाटकादि वत् ॥६२॥
ख्यातं देवासुरं वस्तु निर्विमर्शास्तुसन्धयः।
वृत्तयो मन्दकैशिक्यो नेतारोदेवदानवाः ॥६३॥
द्वादशोदात्त विख्याताः फलं तेषां पृथक् पृथक्।
बहुवीर रसाः सर्वे यद्वदम्भोधिमन्थने ॥६४॥
अङ्कैस्त्रिभिस्त्रिकपटस्त्रिश्रृङ्गारस्त्रिविद्रवः।
द्विसन्धिरङ्कः प्रथमः कार्योद्वादशनालिकः ॥६५॥
चतुर्द्विनालिकावन्त्यौ नालिका घटिकाद्वयम्।
वस्तुस्वभावदैवारिकृताः स्युः कपटास्त्रयः ॥६६॥
नगरोपरोधयुद्धे वाताग्न्यादिकविद्रवाः।
धर्मार्थकामैः श्रृङ्गारो नात्र बिन्दु प्रवेशकौ ॥६७॥
वीथ्यङ्गानि यथालाभं कुर्यात्प्रहसने यथा।

[समवकार में भी नाटक इत्यादि के समान ही आमुख की रचना करनी चाहिए। उसमें वस्तु देवताओं और राक्षसों के विषय में कोई प्रसिद्ध इतिवृत्त होना चाहिए। सन्धियाँ चार होनी चाहिए। विमर्श सन्धि नहीं होनी चाहिए। वृत्ति सभी होन चाहिए; किन्तु कैशिकी की न्यूनता होनी चाहिए। प्रसिद्ध

देव और दानव धीरोदात्त प्रकृति के १२ नायक होना चाहिए। उनके फल (कार्य) भी पृथक् पृथक् होना चाहिए। सबके अन्दर वीररस की अधिकता होनी चाहिए जैसे समुद्रमन्थन में (देव और राक्षस पात्र हैं; पृथक् पृथक् लक्ष्मी इत्यादि की प्राप्ति उनका फल है और सबके अन्दर वीररस की अधिकता (प्रधानता) है।) तीन अंक होने चाहिए; तीन कपट होने चाहिए; तीन शृङ्गार होने चाहिए और तीन विद्रव होने चाहिए। पहला अङ्क मुख और प्रतिमुख इन दो सन्धियों से युक्त १२ नाड़ियों (२४ घड़ी) का होना चाहिए। दूसरा अङ्क ४ नाड़ी का और तीसरा अङ्क दो नाड़ी का होना चाहिए। तीन कपट ये होते हैं--(१) वस्तुस्वभावकृत, (२) देवकृत और (३) अरिकृत। इसी प्रकार तीन विद्रव ये होते हैं—(१) नगरोपरोधकृत, (२) युद्धकृत और (३) वाताग्निकृत। तीन शृङ्गार ये होते हैं--(१) धर्म शृङ्गार, (२) अर्थ शृङ्गार और (३) काम शृङ्गार। तीनों कपट और तीनों विद्रवों में कोई एक अवश्य होना चाहिए। शृङ्गारों में एक अङ्क में एक शृङ्गार अवश्य होना चाहिए। (नाटक में कहे हुए भी) बिन्दु और प्रवेशक इसमें नहीं होना चाहिए और जहाँ तक सम्भव हो वीथी के अङ्गों का सन्निवेश समवकार में अवश्य होना चाहिए।]

समवकार शब्द का अर्थ है जिसमें प्रयोजन समवकीर्ण किये जावे। समवकार में कई नायकों के प्रयोजन समवकीर्ण या संग्रहीत किये जाते हैं यही इसके नामकरण का कारण है। नाड़ियों का नियम बना दिया गया है किन्तु कथानक के विस्तार की दृष्टि से उसमें परिवर्तन भी किया जा सकता है। धर्मपत्नी के साथ शृङ्गार चेष्टाओं को धर्म शृङ्गार कहते हैं; लोभवश जो शृङ्गार चेष्टाएँ की जाती हैं उसे अर्थ शृङ्गार कहते हैं और परकीया के साथ जो शृंगार चेष्टाएँ होती हैं उसे काम शृङ्गार कहते हैं।

वीथी

वीथी तु कैशिकीवृत्तौ सन्ध्यङ्गाङ्कैस्तु भाणवत् ॥६८॥
रसः सूच्यस्तु शृङ्गारः स्पृशेदपि रसान्तरम्।
युक्ता प्रस्तावना ख्यातैरङ्गैरुद्धात्यकादिभिः ॥६९॥
एवं वीथी विधातव्या द्वयेकपात्रप्रयोजिता।

[वीथी कैशिकी वृत्ति में होती है। इसमें सन्धि के अङ्ग और अङ्क भाण के समान होते हैं। शृङ्गार रस की सूचना दी जाती है और दूसरे रसों का भी स्पर्श होता है। प्रस्तावना के बतलाये हुये उद्घात्यक इत्यादि अङ्गों से युक्त होती है। इस प्रकार दो या एक पात्रों से अभिनति वीथी का विधान करना चाहिए]

वीथी शब्द का अर्थ है मार्ग या पंक्ति। इसमें अङ्गों की पंक्ति होती है।

इसी लिए इसे वीथी कहते हैं। इसमें अङ्गों की पंक्ति भाण के समान होती है। श्रृङ्गार रस का पूर्ण परिपाक नहीं हो पाता इसी लिए वह अधिकतर सूचित किया जाता है। श्रृङ्गार रस के औचित्य के कारण से ही कैशिकी वृत्ति का विधान किया जाता है।

अङ्क

> उत्सृष्टिकाङ्कं प्रख्यातं वृत्तं बुद्ध्या प्रपञ्चयेत् ॥७०॥
> रसस्तु करुणः स्थायी नेतारः प्राकृताः नराः।
> भाणवत्सन्धिवृत्यङ्गैः युक्तः स्त्री परिदेवितैः ॥७१॥
> वाचायुद्धं विधातव्यं तथा जय पराजयौ।

[उत्सृष्टिकांक अर्थात् १० रूपकों में गिनाये हुये अंक नामक भेद में प्रख्यात वृत्त का ही उपादान करने उसे कल्पना से स्वयं ही विस्तृत कर देना चाहिए इसमें करुणरस प्रधान होता है प्राकृत व्यक्ति नायक और दूसरे पात्र होते हैं। सन्धि और वृत्ति के अंग भाण के समान होते हैं। यह स्त्रियों के विलाप से युक्त होता है। इसमें युद्ध का विधान वाणी के द्वारा करना चाहिए और इसी प्रकार जय और पराजय भी वाणी के द्वारा ही बतलानी चाहिए।] इसका नाम अंक है। नाटक के अवान्तर विभागों को भी अंक कहते हैं। अतएव भ्रम-निवारण के लिए उत्सृष्टिकांक शब्द का प्रयोग किया गया है।

ईहामृग

> मिश्रमीहामृगेवृत्तं चतुरङ्कं त्रिसन्धिमत् ॥७२॥
> नर दिव्यावनियमान्नायकप्रतिनायकौ ।
> ख्यातौ धीरोद्धतावन्त्यो विपरियासादयुक्तकृत् ॥७३॥
> दिव्यस्त्रियमनिच्छन्ती मयहारादिनेच्छतः।
> श्रृंगाराभासमप्यस्य किञ्चित्किञ्चित्प्रदशयेत् ॥७४॥
> संरम्भं परमानीय युद्धं व्याजान्निवारयेत्।
> वधप्राप्तस्य कुर्वीत वधं नैव महात्मनः ॥७५॥

[ईहामृग में मिश्र (ख्यात और कविकल्पित दोनों प्रकार का) वृत्त होता है। चार अंक होते हैं और तीन सन्धियाँ होती हैं। मनुष्य और दिव्य पुरुष ये बिना नियम के नायक और प्रतिनायक होते हैं (अर्थात् दो में से कोई भी नायक और दूसरा प्रतिनायक हो सकता है।) दोनों ही इतिहास सिद्ध व्यक्ति होते हैं। उनमें प्रतिनायक धरोद्धत होता है और कार्यज्ञान के उलट फेर से अनुचित कार्य किया करता है। कभी कभी न चाहनेवाली दिव्य स्त्री को अपहरण इत्यादि के द्वारा चाहनेवाले नायक का श्रृंगाराभास भी कुछ-कुछ प्रदर्शित

करना चाहिए। बहुत बड़ी उत्तेजना की स्थिति ले आकर किसी बहाने से युद्ध को टाल देना चाहिए। महात्मा के वध को स्थिति को उत्पन्न करके वध करवाना नहीं चाहिए।]

इसका ईहामृग नाम इसलिए पड़ा है कि इसमें नायक मृग के समान अलभ्य नायिका की ईहा(इच्छा) करता है।

उपसंहार

एवं विचिन्त्य दशरूपक लक्ष्ममार्ग-
मालोक्य वस्तु परिभाव्य कविप्रबन्धान्।
कुर्यादयत्नवदलंकृतिभिः प्रबन्धं
वाक्यैरुदारमधुरैः स्फुटमन्द वृत्तैः॥

[इस प्रकार दसरूपकों के लक्षणों के मार्ग को विचारकर वस्तु को देखकर और कवियों के प्रबन्धों को समझकर प्रबन्ध रचना करनी चाहिए जिसमें अलङ्कार बिना ही प्रयत्न के सन्निविष्ट हो रहे हों अर्थात् अलङ्कारों के लाने का प्रयत्न न किया जावे फिर भी अलङ्कार आ ही जावें। वाक्य उदार (उच्चकोटि के) और मधुर तथा छन्द स्पष्ट और सरल होने चाहिये।]

——

चतुर्थ प्रकाश

रस काव्य और नाट्य का सर्वप्रधान तत्त्व है। बिना रस के किसी भी अर्थ की प्रवृत्ति ही नहीं होती। अतएव इस प्रकाश में रस के विषय में विचार किया जा रहा है। इसकी सामान्य परिभाषा यह है कि विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है; इसको इस प्रकार समझना चाहिए कि जिस प्रकार काव्यञ्जनों और औषधि द्रव्यों के संयोग से मधुर इत्यादि रसों की उत्पत्ति होती है। उसी प्रकार नाना भावों के संयोग से श्रृंगार इत्यादि रसों की भी निष्पत्ति होती है। यही बात निम्नलिखित कारिका में बतलाई जा रही है :—

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः॥

[विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव और व्यभिचारी भाव के द्वारा जो स्थायी भाव आस्वादन के योग्य बना दिया जाता है उसे रस कहते हैं।] व्यभिचारी भाव का ही एक रूप सात्विक भाव भी होता है। अतएव नाट्यशास्त्र की परिभाषा से इस लक्षण में कोई विरोध नहीं आता।

विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव और सात्विक भावों के स्वरूप और स्वभाव का आगे चलकर निरूपण किया जावेगा। जब ये विभाव इत्यादि या तो काव्य में उपादान हो या अभिनय में इनका प्रदर्शन किया जावे उस समय श्रोता या दर्शकों के हृदयों में विस्फुरित होनेवाला रति इत्यादि स्थायी भाव, जिसका लक्षण आगे चलकर लिखा जावेगा, स्वाद गोचर हो जाता है अर्थात् वह विपुल आनन्दमय ज्ञानस्वरूप बन जाता है तब उसे रस कहने लगते हैं।

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ज्ञान और आनन्द का अधिष्ठान होने के कारण सामाजिक में ही रस रह सकता है। कारण यह है कि ज्ञान और आनन्द चेतन धर्म हैं। अतएव ये काव्य इत्यादि अचेतन में नहीं रह सकते। किन्तु काव्य उस प्रकार के आनन्दमय ज्ञान की चेतना को उन्मीलित करने में कारण होता है। अतएव जैसे आयु की वृद्धि में हेतु होने के कारण घी को आयु कहने लगते हैं; उसी प्रकार आनन्दमय चेतना के उन्मीलन में हेतु होने के कारण काव्य को भी रसमय कहते हैं।

विभाव

विभाव की परिभाषा यह है :—

ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत् ।
आलम्बनोद्दीयनत्व प्रभेदेन स च द्विधा ॥२॥

[उन रस परिपोषक तत्वों में जो जाना हुआ होकर भाव को पुष्ट करता है उसे विभाव कहते हैं । यह आलम्बन और उद्दीपन के भेद से दो प्रकार का होता है ।]

रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार की परिभाषा यह है जहाँ पर रूपक (उपमान) रूप्य (उपमेय) को निगल जावे अर्थात् जब प्रयोक्ता उपमेय का प्रयोग कर केवल उपमान का ही प्रयोग करता है तब उसे रूपकातिशयोक्ति कहते हैं। जैसे 'मुखचन्द्र दिखलाई पड़ रहा है, इसके स्थान पर कहा जावे—'चन्द्र दिखलाई पड़ रहा है ।' यही बात विभाव के विषय में कही जा सकती है। वहाँ पर भी नट का राम इत्यादि के रूप में सविशेष परिज्ञान इसी अतिशयोक्ति रूप काव्य व्यापार के द्वारा ही हुआ करता है। उस समय उसे विभाव कहते हैं । विभाव शब्द का अर्थ है विभावन करना या प्रत्यायन करना अर्थात् ज्ञान का विषय बनाना । यह विभाव दो रूपों में ज्ञान का विषय बनता है एक तो आलम्बन के रूप में जिसका सहारा पकड़कर रति इत्यादि भाव उद्बुद्ध होते हैं और दूसरा उद्दीपन के रूप में जिसके सहारे से उद्बुद्ध रति इत्यादि भाव अधिक बढ़ाये जाते हैं। इस प्रकार विभाव दो प्रकार के होते हैं एक तो आलम्बन विभाव जैसे नायक नायिका इत्यादि और दूसरा उद्दीपन विभाव जैसे देश और काल इत्यादि। जाने हुए को विभाव कहते हैं इसमें यही प्रमाण है कि प्रायः कहा जाता है कि 'विभाव का अर्थ ही विज्ञात वस्तु है ।' जिस रस के लिए जो विभाव होते हैं उनका अवसर के अनुसार रसों में ही उपपादन किया जावेगा। यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि अतिशयोक्ति अलङ्कार में ज्ञात वस्तु पर ज्ञात वस्तु का ही आरोप किया जा सकता है; उसमें मुख और चन्द्र इत्यादि आरोप्य और अरोपित विज्ञात ही होते हैं। किन्तु विभाव के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। नट के ऊपर जिन कंस इत्यादि का आरोप किया जाता है वे दर्शकों और श्रोताओं के जाने हुए और देखे हुए होते ही नहीं और कुछ नायक तो ऐसे होते हैं जिनके विषय में दर्शकों ने कुछ सुना भी नहीं होता; केवल वे कवि कल्पित ही होते हैं। श्रव्य काव्य में आरोप्य (नट) भी नहीं होता फिर यह आरोप सम्भव किस प्रकार हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि इनकी बाह्य सत्ता नहीं होती

और न उसकी अपेक्षा ही होती है किन्तु शब्दों के आधार पर ही इनके बाह्य रूप की सत्ता का आधान कर लिया जाता है। सामान्य रूप में (साधारणीकरण की प्रक्रिया से) वे पाठकों और दर्शकों की अपनी ही वस्तु ज्ञात होने लगते हैं। अतएव यह नहीं कहा जा सकता है कि आलम्बन इत्यादि विभाव, जो कि भावक के चित्त में साक्षात् विस्फुरित होते हैं, वस्तु शून्य हैं। यही बात भर्तृहरि ने लिखी है :—

शब्दोपहितरूपांस्तान् बुद्धेर्विषयतां गतान्।
प्रत्यक्षमिवकंसादीन् साधनत्वेन मन्यते॥

'शब्द के द्वारा जिनके रूप का आधान होता है जो शब्द के द्वारा ही बुद्धि का विषय बन जाते हैं इस प्रकार के कंस इत्यादि को (भावक) प्रत्यक्ष रूप में साधन मान लेता है।'

यही बात षट्साहस्रीकार ने भी लिखी है कि—'इन (विभावों) से सामान्य गुणों के योग से रस निष्पन्न होते हैं।'

आलम्बन विभाव का उदाहरण :—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नुकान्तिप्रदः।
शृंगारैक निधिःस्वयं नु मदनोमासोनुपुष्पाकरः॥
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्त कौतूहलो।
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥

'इस नायिका की निर्माण विधि में कान्ति को प्रदान करनेवाला चन्द्रमा ही प्रजापति बन गया था या शृंगार का एकमात्र कोष स्वयं कामदेव ही ब्रह्मा बना था या कि पुष्पों की राशिवाला वसन्त मास ही ब्रह्मा बना था; इसमें सन्देह नहीं कि वेदाभ्यास के कारण जड़ समस्त विषयों से निवृत्त कौतूहलवाला पुराना मुनि (प्रसिद्ध ब्रह्मा) इतने मनोहर रूप की रचना करने में समर्थ हो ही कैसे सकता था?'

उद्दीपन विभाव का उदाहरण :—

अयमुदयति चन्द्रश्चन्द्रिका धौतविश्वः,
परिणतविमलिम्नि व्योम्नि कर्पूर गौरः।
ऋजुरजतशलाका स्पर्धिभिर्यस्य पादैः
जगदमलमृणालीपञ्जरस्थं विभाति॥

'चाँदनी से सारे संसार को धो डालनेवाला यह चन्द्रमा उदय हो रहा है; यह परिपाक को प्राप्त निर्मलतावाले आकाश में कपूर के समान गौर वर्ण का प्रतीत हो रहा है; जिसकी सीधी चाँदी की सलाइयों से स्पर्धा करनेवाली

किरणों से यह संसार निर्मल मृणाली के पिंजड़े में विराजमान सा शोभित हो रहा है।'

अनुभाव

अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः।

[भाव को सूचित करनेवाले विकार को अनुभाव कहते हैं।]

भ्रू विक्षेप कटाक्ष इत्यादि भाव स्थायी भावों को सामाजिकों के अनुभव का विषय बनाते हैं और इस प्रकार रस का परिपोष करते हैं। अतएव इन्हें अनुभाव कहते हैं। ये ही भ्रूविक्षेप कटाक्ष इत्यादि अभिनय और काव्य में भी अनुभव करनेवाले रसिकों की अनुभव क्रिया के साक्षात्कर्म होते हैं। अतएव इन्हें अनुभाव कहते हैं। आशय यह है कि लोक में जब कोई व्यक्ति प्रेम इत्यादि से प्रभावित हो जाता है तब भ्रूविक्षेप इत्यादि प्रवृत्त होने लगते हैं। इसी लिए कहा जाता है कि भ्रूविक्षेप इत्यादि रस का कार्य होते हैं। किंतु यह बात नाट्य और काव्य के विषय में नहीं कही जा सकती। क्योंकि नाट्य और काव्य में नट स्वयं तो प्रेम इत्यादि से प्रभावित नहीं होता। वह तो दूसरों के भावों का अभिनय किया करता है। अतएव उसकी भ्रूविक्षेप इत्यादि चेष्टाएँ प्रेम इत्यादि कार्य नहीं होतीं किन्तु रसिक लोग जिस प्रेम और आनन्द का अनुभव करते हैं उसमें भ्रूविक्षेप इत्यादि का अभिनय कारण होता है। यदि नट अनुभावों का अभिनय न करे तो रसिकों को रसास्वादन हो ही नहीं सकता। 'भावसंसूचनात्मक विकार को अनुभाव कहते हैं' यह कथन लौकिक दृष्टिकोण से संगत होता है, काव्य और नाट्य में तो अनुभाव कारण ही होता है कार्य नहीं। अनुभवन क्रिया को भी अनुभाव कह सकते हैं और भावों के बाद होने के कारण से भी अनुभाव शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरण जैसे धनिक का पद्य :—

उज्जृम्भाननमुल्लसत्कुचतटं लोलभ्रमद्भ्रूलतं
स्वेदाम्भः स्नपिताङ्गयष्टिविगलद्व्रीडं सरोमाञ्चया।
धन्यः कोऽपि युवा स यस्य वदने व्यापारिताः सस्पृहं
मुग्धे दुग्धमहाब्धिफेन पटलप्रख्याः कटाक्षच्छटाः॥

'तुम्हारा मुख उच्चकोटि की जमुहाई से युक्त हो रहा है; कुचतट विकसित हो रहे हैं, चञ्चल भ्रूलतायें घूम रही हैं; पसीने के जल से तुम्हारी अङ्गयष्टि भीग गई है और तुम्हारी लज्जा गलित हो गई है तथा तुम रोमाञ्चित भी हो रही हो। हे मुग्धे! वह कोई युवक धन्य है जिसके मुख पर तुमने अभिलाषा से भरकर दूध के महासागर की फेन राशि के समान निर्मल कटाक्ष की छटा को प्रेरित किया है।'

इन सब अनुभावों का रसों के अनुसार अलग-अलग उदाहरण दिया जावेगा ।

विभाव और अनुभाव का सम्मिलित उपसंहार :—

हेतुकार्यात्मनोः सिद्धिस्तयोः संव्यवहारतः ॥३॥

[ये दोनों विभाव और अनुभाव हेतु और कार्यात्मक होते हैं। अतएव इनकी सिद्धि व्यवहार से होती है।]

लौकिक रस के प्रति विभाव हेतु होता है और अनुभाव कार्य होता है। अतएव लौकिक व्यवहार से ही उनकी सिद्धि हो जाती है उनके पृथक् लक्षण बनाने की आवश्यकता नहीं होती। यही बात कही जाती है कि—'विभाव और अनुभाव लोक संसिद्ध होते हैं और लोक यात्रा का अनुसरण करनेवाले होते हैं। अतएव लोक के स्वभाव से गृहीत हो जाने के कारण पृथक् लक्षण बनाया जाता है।'

भाव का लक्षण यह है :—

सुखदुःखादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम् ।

[(अनुकार्य राम इत्यादि आश्रय से उपनिबन्धन को प्राप्त होनेवाले सुख दुःख इत्यादि रूप भावों से भावक (रसिक) व्यक्ति के चित्त को भावित या वासित करना भाव कहलाता है।]

इसी लिए कहा जाता है कि 'आश्चर्य है कि इस रस ने या गन्ध ने सारे जगत् को वासित कर दिया है।'

कतिपय प्राचीन आचार्यों ने भाव की यह परिभाषा की है—'रसों को भावित करने से भाव कहलाता है।' अथवा—'कवियों के अन्तर्गत भाव को भावित करने के कारण भाव कहलाता है।' यहाँ पर यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि मेरी 'भावक के चित्त को भावित करने के कारण भाव कहलाता है।' इस परिभाषा से विरोध पड़ता है। भाव शब्द का कई रूपों में प्रयोग किया जाता है जैसे 'काव्य या नाट्य का भाव', 'कवि का भाव', 'रसिक का भाव' इत्यादि। पुराने आचार्यों की परिभाषा में प्रवृत्तिनिमित्त भाव शब्द के प्रथम दो अर्थ हैं और मेरी परिभाषा का प्रवृत्ति-निमित्त भाव शब्द का अन्तिम प्रयोग है। इस प्रकार विषय भेद होने के कारण परिभाषाओं में विरोध नहीं पड़ता। भाव के स्थायी और सञ्चारी नामक दो भेद आगे चलकर दिखलाये जावेंगे।

प्रथग्भावा भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्विकाः ॥४॥
सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम् ।

[कुछ और भाव पृथक् ही होते हैं। जो होते तो वास्तव में अनुभाव ही हैं किन्तु सत्व से उत्पन्न होने के कारण उनको सात्विक भाव कहते हैं। सत्व

का अर्थ है भावक के चित्त को सुख-दुःख इत्यादि भावनाओं से भावित या वासित करना ।]

सत्व शब्द का अर्थ है दूसरे के अन्तःकरण में विद्यमान दुःख और हर्ष इत्यादि भावना में अन्तःकरण का अनुकूल होना। यही बात इस प्रकार कही गई है—'सत्व मन से उत्पन्न होनेवाला एक विशेष प्रकार का विकार होता है। यह विकार उन्हीं के अन्तःकरण से उत्पन्न होता है जिनका मन समाहित या एकाग्र हो। इस भावक के सत्व का यही अर्थ है कि खिन्न या प्रहर्षित होने पर आँसू या रोमाञ्च इत्यादि उत्पन्न हो जावें। उस सत्व से उत्पन्न होने के कारण उन्हें सात्विक कहते हैं; अश्रु प्रभृति उन्हीं भावों को अनुभाव भी कहते हैं। क्योंकि ये भी भाव को सूचित करनेवाले एक प्रकार के विकार ही होते हैं। अतएव ये भाव 'सात्विक' और 'अनुभाव' इन दो नामों से पुकारे जाते हैं।' ये सात्विक भाव आठ होते हैं—उनके नाम ये हैं :—

स्तम्भ प्रलय रोमांचाः स्वेदो वैवर्ण्य वेपथ् ॥५॥
अश्रु वैश्वर्यमित्यष्टौ, स्तम्भोऽस्मिन् निष्क्रियाङ्गता।
प्रलयो नष्टसंज्ञत्वं, शेषाः सुव्यक्तलक्षणाः ॥६॥

[स्तम्भ इत्यादि ८ सात्विक भाव होते हैं। स्तम्भ शरीर के क्रिया शून्य हो जाने को कहते हैं। प्रलय संज्ञा शून्यता को कहते हैं। शेष के लक्षण स्पष्ट ही हैं।] उदाहरण :—

वेवइ सेअद वदनी रोमाञ्चिअ गत्तिए ववइ।
विललुल्लु तु वलअ लहु वाहो अल्लीए रणेत्ति ॥
मुहअ सामलि होइ खणे विमुच्छइ विअग्घेण।
मुद्धा मुहअल्ली तुअ पेम्णेन साविण धिज्जइ ॥
[वेयते स्वेद वदना, रोमाञ्चं गात्रेवपति।
विलोलस्ततो वलयो लघु वाहुवल्ल्यां रणति।
मुखं श्यामलं भवति क्षणं विमूर्छति विदग्धेन।
मुग्धा मुखवल्लीतव प्रेम्णा सापि न धैर्यं करोति ॥]

[मुख पर पसीना आ रहा है, कम्पन प्रकट हो रहा है; शरीर में रोमाञ्च फैल रहा है; बाहुलता में वलय चञ्चल होकर धीरे-धीरे शब्द कर रहा है, मुख श्यामल हो गया है, वैदग्ध्य के साथ क्षण भर मूर्छित हो जाती है और तुम्हारी यह मुग्धा मुख रूपी लता प्रेम के प्रभाव से धैर्य को धारण ही नहीं कर रही है।]

व्यभिचारी भाव

व्यभिचारी भावों का सामान्य लक्षण यह है :—

विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ ॥

[विशेष रूप से चारों ओर से विचरण करनेवाले भाव व्यभिचारी भाव कहलाते हैं । ये स्थायी भाव में उसी प्रकार उछलते डूबते रहते हैं जैसे समुद्र में लहरें उछलती-डूबती रहती हैं ।]

जिस प्रकार समुद्र के होने पर ही लहरें उठ या गिर सकती हैं उसी प्रकार रति इत्यादि स्थायी भावों के होने पर ही आविर्भाव और तिरोभाव के द्वारा चारों ओर से विचरण करनेवाले निर्वेद इत्यादि भाव व्यभिचारी भाव कहलाते हैं । वे ये हैं :—

निर्वेदग्लानि शङ्काश्रम धृति जड़ता हर्ष दैन्योग्रयचिन्ताः ।
त्रासेर्ष्यामर्षगर्वाः स्मृतिमरणमदाः सुप्त निद्राविबोधाः ॥
व्रीडापस्मार मोहाः समतिरलमतावेगतर्कावहित्थाः ।
व्याध्युन्मायौ विषादोत्सुक चपलयुतास्त्रिंशदेते त्रयश्च ॥८॥

[निर्वेद इत्यादि ३३ भाव व्यभिचारी भाव कहलाते हैं ।] इन्हीं भावों की क्रमशः व्याख्या की जा रही है ।

(१) निर्वेद :—

तत्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम् ।
तत्र चिन्ताश्रुनिश्श्वास वैवर्ण्योछ्वासदीनताः ॥९॥

[तत्व ज्ञान आपत्ति ईर्ष्या इत्यादि से अपनी अवमानना करने को निर्वेद कहते हैं । इसमें चिन्ता, आँसू, उछ्वास, वैवर्ण्य, निश्श्वास, दीनता इत्यादि हुआ करते हैं ।]

(अ) तत्व ज्ञान से निर्वेद का उदाहरण :—

प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किम् ।
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ॥
सम्प्रीणिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ॥

[समस्त कामनाओं को पूर्ण करनेवाली लक्ष्मी प्राप्त भी कर ली तो क्या हो गया ? शत्रुओं के सर पर पैर रख भी दिया तो क्या हो गया ? प्रेमियों को ऐश्वर्य से सन्तुष्ट भी कर दिया तो क्या हो गया और शरीरधारियों के शरीर से स्थित भी रहे तो क्या हो गया ?]

(आ) आपत्ति से निर्वेद का उदाहरण :—

राज्ञो वियद्वन्धुवियोगदुःखं देशच्युतिदु र्गम मार्ग खेदः ।
आस्वाद्यतेऽस्याः कटुनिष्फलायाः फलंमयैतच्चिर जीवितायाः ॥

'राजा पर आपत्ति, बन्धुओं के वियोग का दुःख, देश से च्युत होना, दुर्गम मार्ग का खेद इन सब बातों का अनुभव हम अपने कटु और निष्फल चिर जीवन के फल के रूप में कर रहे हैं।'

(इ) ईर्ष्या से निर्वेद का उदाहरण :--

न्यक्कारो ह्ययमेव में यदरपस्तत्राप्यसौ तापसः ।
सोऽप्यत्रैव निहन्तिराक्षस कुलं जीवत्यहो रावणः ॥
धिक् धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकरणेन वा ।
स्वर्ग ग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः कियेभिर्भुजैः ॥

'सबसे बड़ी धिक्कार की तो बात यही है कि मेरे और शत्रु हों ? शत्रुओं में भी तपस्वी शत्रु ? वह भी यहीं (मेरे ही नगर में) राक्षस वंश का संहार कर रहा है और रावण फिर भी जीवित है !!! इन्द्रजीत (मेघनाद) को बार-बार धिक्कार है अथवा जाग करके कुम्भकर्ण ने ही क्या कर लिया या स्वर्ग को एक छोटे से गाँव के सामने नष्ट करने में व्यर्थ ही फूली हुई हमारी इन बाहों से ही क्या लाभ हुआ।'

(ई) वीर और श्रृंगार रस के व्यभिचारी भाव निर्वेद का उदाहरण :—

ये वाहवो न युधि वैरि कठोर कण्ठ—
पीठोच्छलद्रुधिर राजिविराजितांसाः ।
नापि प्रिया पृथुपयोधरपत्रभङ्ग
संक्रान्त कुङ्कुमरसः खलु निष्फलास्ते ॥

'जिन बाहुओं के ऊपरी भाग युद्ध में शत्रुओं के कठोर कण्ठ पीठ से उछलनेवाले रक्त की धारा से शोभित नहीं हुए अथवा जिनमें प्रियतमा के स्थूल स्तनों के पत्र भङ्ग से कुङ्कुम रस का संक्रमण नहीं हुआ वे बाँहें निष्फल ही हैं।'

अपने अनुकूल शत्रु या रमणी को न प्राप्त कर सकनेवाले की यह वैराग्य (निर्वेद) पूर्ण युक्ति है। इसी प्रकार निर्वेद के दूसरे रसों के अङ्ग होने का भी उदाहरण देना चाहिए।

रस का अङ्ग न होनेवाले स्वतन्त्र निर्वेद का उदाहरण :—

कस्त्वं भोः कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं,
वैराग्यादिव वक्षिसाधुविदितं कस्माद्यतः श्रूयताम् ॥

वामेनात्र वरस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते ।
नच्छायापि परोपकार करणी मार्गस्थितस्यापिमे ॥

'तुम कौन हो ?' 'मुझे तुम दैव का मारा शाखोटक' नाम का वृक्ष समझो ।' 'वैराग्य की सी बातें कर रहे हो ।' 'बहुत ठीक समझे ।' 'ऐसा क्यों ?' 'अच्छा सुनो--यहाँ पर बाईं ओर वट वृक्ष है जिसका सेवन यात्री लोग पूर्ण हृदय से करते हैं। यद्यपि मैं मार्ग में स्थित भी हूँ फिर भी मेरी छाया परोपकार के काम में नहीं आती ।'

इस प्रकार विभाव, अनुभाव, रस का अंग, स्वतन्त्र इत्यादि निर्वेद के अनेक भेद होते हैं।

(२) ग्लानि :—

रत्याद्यायास तृट्क्षुद्भिर्ग्लानिर्निष्प्राणतेह च ।
वैवर्ण्यकम्पानुत्साहक्षामाङ्गवचन क्रियाः ॥१०॥

[सुरत इत्यादि की थकावट, प्यास, भूख इत्यादि से प्राणों का मलिन पड़ जाना (मुरझा जाना है ग्लानि कहलाती)। इसमें वैवर्ण्य (रंग का फीका पड़ जाना) कम्प, अनुत्साह, शरीर वचन और क्रिया की क्षीणता इत्यादि अनुभाव होते हैं।] उदाहरण जैसे शिशुपाल वध में :—

लुलित नयन ताराः क्षामवक्त्रेन्दु बिम्बाः,
रजनय इव निद्राक्लान्तनीलोत्पलाद्यः ।
तिमिरमिवदधानाः स्रंसिनः केशपाशान्,
अवनिपतिगृहेभ्यो यान्त्यमूर्वीरवध्वः ॥

'ये वार वनितायें रात्रियों के समान राज भवनों से जाती हुई शोभित हो रही हैं। इस समय इनके नेत्रों के पुतली रूपी नक्षत्र काँपते हुए अत्यन्त सुन्दर मालूम पड़ रहे हैं; इनके मुख रूपी चन्द्रविम्ब क्षीण हो गये हैं; इनके नेत्र ही नीले कमल हैं जो कि निद्रा से आक्रान्त हो रहे हैं; ये इस समय अपने छूटे और छिटके हुए बालों को उसी प्रकार धारण कर रही हैं जिस प्रकार रात्रियाँ अन्धकार को धारण किया करती हैं।'

इसी प्रकार अन्य भेदों को भी निर्वेद के समझ लेना चाहिए।

(३) शङ्का : -

अनर्थप्रतिभाशङ्का पर क्रौर्यात्स्वदुर्नयात् ।
कम्प शोषाभिवीक्षादिरत्र वर्ण स्वरान्यता ॥११॥

[दूसरे की क्रूरता से अथवा अपनी बुरी नीति से भावी अनर्थ की बुद्धि का उत्पन्न हो जाना शंका कहलाता है। इसमें कम्पन, शोष, आँख फाड़ कर देखना, वर्ण और स्वर का बदल जाना इत्यादि बातें होती हैं।]

दूसरे की क्रूरता से शंका का उदाहरण जैसे रत्नावली में :—

ह्रिया सर्वस्यासौ हरति विदितास्मीति वदनं,
द्वयोर्दृष्ट्वालापं कलयति कथामात्मविषयाम् ।
सखीषु स्मेरासु प्रकटयति वैलक्ष्यमधिकं,
प्रिया प्रायेणास्ते हृदयनिहितातङ्क विधुरा ॥

'मैं जान ली गई हूँ यह समझकर सभी से मुँह छिपाती है; दो व्यक्तियों की बातचीत होती हुई देखकर समझती है कि मेरे ही विषय में बातचीत हो रही है; सखियों के मुसकुराने पर अधिक उद्विग्नता प्रगट करती है। इस प्रकार यह प्रियतमा प्रायः हृदय में विद्यमान आतंक से व्याकुल रहती है।'

अपने दुर्नय से शंका का उदारण जैसे वीरचरित में :—

दूराद्वीयो धरणीधराभं यस्ताटकेयं तृणवद्व्यधूनोत् ।
हन्ता सुबाहोरपि ताटकारिः सराजपुत्रो हृदिबाधते माम् ॥

'धरणीधर (पर्वत) के समान आभावाले तारका के पुत्र मारीच को जिसने तिनके के समान बहुत दूर फेंक दिया, सुबाहु का मारनेवाला ताटका का शत्रु वह राजपुत्र मेरे हृदय में पीड़ा पहुँचा रहा है।'

इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी समझ लेना चाहिए।

(४) श्रम :—

श्रमः खेदोऽध्वरत्यादेः स्वेदोऽस्मिन्मर्दनादयः ।

[श्रम उस खेद को कहते हैं जो यात्रा, रति इत्यादि से उत्पन्न हो; इसमें पसीना, मर्दन इत्यादि अनुभाव होते हैं।] यात्राजन्य श्रम का उदाहरण जैसे उत्तर रामचरित में :—

अलसलुलितमुग्धान्यध्वसञ्जातखेदात्,
अशिथिलपरिरम्भैर्दत्त संवाहनानि ।
परिमृदितमृणाली दुर्बलान्यङ्गकानि,
त्वमुरसिमम कृत्वा यत्र निद्राम वाता ॥

'मार्ग से उत्पन्न हुए खेद के कारण तुम्हारे अंग आलस्य से भरे हुए अत्यन्त मुग्ध मालूम पड़ रहे थे; अत्यन्तप्रगाढ आलिंगन के द्वारा वे अंग दबाये भी भली भाँति गये थे; उस समय तुम्हारे छोटे छोटे कोमल अंग ऐसे ही ज्ञात हो रहे थे जैसे मसली हुई कोई मृणाली हो। अपने उन अंगों को तुम मेरी छाती पर रखकर जहाँ सो गई थीं (यह उसी स्थान का चित्र है।)

रतिश्रम का उदाहरण जैसे माघ में :—

प्राप्यमन्मथ रसादतिभूमि दुर्वहस्तनभराः सुरतस्य ।
शश्रुमुः श्रमजलाललाट श्लिष्टकेशमसितायत केश्यः ॥

'ढोने में कठिन स्तन भारवाली, काले काले बहुत बड़े बालोंवाली नायिकायें कामदेव के रस से सुरत की पराकाष्ठा को प्राप्त कर विश्राम करने लगीं; उस समय पसीने की बूँदें आ जाने से उनका मस्तक भीग गया था और उसमें बाल चिपट गये थे।'

इसी प्रकार के और भी उदाहरण देना चाहिए।

(५) धृति :—

संतोषोज्ञानशक्त्यादेर्धृतिरव्यग्रभोग कृत् ॥१२॥

[ज्ञान और शक्ति इत्यादि से जहाँ सन्तोष हो उसे धृति कहते हैं। इससे व्यग्रता रहित भोग करना अनुभाव होता है।]

ज्ञान से धृति का उदाहरण जैसे भर्तृहरि शतक में :—

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वञ्चलक्ष्म्या।
समइह परितोषो निर्विशेषावशेषः॥
सतु भवतिदरिद्रो यस्यतृष्णा विशाला।
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः॥

'हम तो वल्कलों से सन्तुष्ट हैं और तुम लक्ष्मी से सन्तुष्ट हो; हम दोनों का सन्तोष एक सा है। हम लोगों के सन्तोष में कोई अन्तर नहीं है। वह व्यक्ति दरिद्र होता है जिसमें तृष्णा की अधिकता हो; मन के सन्तुष्ट हो जाने पर न तो कोई धनवान् ही है और न निर्धन ही।'

शक्ति से धृति का उदाहरण जैसे रत्नावली में 'राज्यं निर्जित शत्रु'.... महानुत्सवः।' (देखो पृ०८१) इसी प्रकार दूसरे उदाहरण भी समझने चाहिए।

(६) जड़ता :—

अप्रतिपत्तिर्जडतास्यादिष्टानिष्ट दर्शनश्रुतिभिः।
अनिमिष नयन निरीक्षण तूष्णींभावादय स्तत्र ॥१३॥

[इष्ट या अनिष्ट के दर्शन या श्रवण से जो प्रत्यक्ष ज्ञान की ग्राहिका शक्ति जाती रहती है उसे जड़ता कहते हैं। इसमें अनिमिष नेत्रों से देखते रह जाना चुप हो जाना इत्यादि अनुभाव होते हैं।]

इष्ट दर्शन से जड़ता का उदाहरण :—

एवमालि निगृहीतसाध्वसं शङ्करो रहसि सेव्यतामिति।
सासखीभिरुपदिष्टमाकुला नास्मरत्प्रमुखवर्तिनि प्रिये॥

पार्वती के सम्मुख जब प्रियतम शिवजी आये तब पार्वती ने आकुलता के कारण सखियों के इस उपदेश का स्मरण नहीं किया कि—'हे सखी! तुम इस प्रकार एकान्त में अपने सङ्कोच और भय को दबाकर शंकरजी का सेवन (संभोग) करना।'

अनिष्ट श्रवण से जड़ता का उदाहरण जैसे उदात्त राघव में 'राक्षस—

तावन्तस्ते महात्मानो निहताः केन राक्षसाः ।
येषांनायकतां यातास्त्रिशिरः खरदूषणाः ॥

'उतने महात्मा राक्षसों को किसने मार डाला जिनका नायकत्व त्रिशिरा और खरदूषण पर था।' दूसरा—'धनुष को लेकर दुष्ट राम ने ।' प्रथम—'क्या अकेले हो।' दूसरा—'देखकर कौन विश्वास करेगा ? देखो हमारी सेना की यह दशा हुई :—

सद्यश्छिन्नशिरः श्वभ्रमज्जत्कङ्ककुलाकुलाः ।
कवन्धाः केवलं जातास्तालोत्ताला महाहवे ॥

'महायुद्ध में शीघ्र ही (ताजे) कटे हुए सरों के गड्ढों में एकदम प्रविष्ट होनेवाले कङ्क नामक पक्षियों से आवेष्टित ताड़ के समान विशाल कवन्ध ही केवल दिखाई पड़ रहे हैं।' पहला—'हे मित्र ! यदि ऐसा है तो इस प्रकार का (अशक्त) मैं क्या करूँ ?' इत्यादि ।

(७) हर्ष :—

प्रसत्ति रुत्सवादिभ्यो हर्षोऽश्रुस्वेदगद्गदाः ।

[प्रिय का आगमन, पुत्रजन्म इत्यादि उत्सवों से होनेवाली प्रसन्नता को हर्ष कहते हैं। इसमें अश्रु, स्वेद, गद्गद होना ये अनुभाव होते हैं।] उदाहरण :—

आयाते दयिते मरुस्थलभुवामुत्प्रेक्ष्य दुर्लङ्घ्यताम् ।
गेहिन्या परितोषवाष्पकलिलामासज्य दृष्टिंमुखे ।
दत्वा पीलुशमी करीरकवलान् स्वेनाञ्चले नादरात् ।
उन्मृष्टं करभस्यकेसरसटा भाराग्रलग्नं रजः ॥

'प्रियतम के घर आने पर मरुस्थल की भूमि की पार करने की कठिनाई को समझकर गृहणी ने सन्तोष के आँसुओं से भरी हुई अपनी दृष्टि उसके मुख पर डालकर और पीलु (खजूर) शमी और करील के कवलों को अपने अञ्चल से आदरपूर्वक देकर हाथी के बच्चे के केसर और सटा के भार से आगे को लगी हुई धूल पोंछ दी।'

निर्वेद के समान इसके दूसरे उदाहरण भी स्वयं समझ लेने चाहिए ।

(८) दैन्य :—

दौर्मत्या द्यैरनौजस्यं दैन्यं काष्र्ण्यामृजादिमत् ॥१४॥

[दुर्मति दारिद्रय, धिक्कार इत्यादि विभावों से ओज का नष्ट हो जाना दैन्य कहलाता है। इसके अनुभाव कृष्णतर, वस्त्रों और दाँतों का मलिन होना इत्यादि हैं।] उदाहरण :—

वृद्धोऽन्धः पतिरेष मञ्चकगतः स्थूणावशेषं गृहम् ।
कालोऽभ्यर्णजलागमः कुशलिनी वत्सस्यवार्तापिनो ।
यत्नात्सञ्चित तैलविन्दुघटिका भग्नेति पर्याकुला ।
दृष्ट्वा गर्भभरालसां निजवधूं श्वश्रूश्चिरं रोदिति ॥

'यह पति तो अंधा है और वृद्ध है तथा मचान पर पड़ा हुआ है । घर में तू दे ही शेष रह गये हैं । वर्षाकाल बिल्कुल निकट है, लड़के का कुशल समाचार भी प्राप्त नहीं हुआ है । प्रयत्न-पूर्वक एक-एक बूँद करके जिस तेल के घड़े को भरकर रक्खा था वह फूट गया । इस कारण अत्यन्त व्याकुल होकर और गर्भ के भार से पीड़ित अपनी बहू को देखकर सास बड़ी देर से रो रही है ।'

शेष उदाहरण पहले के समान समझना चाहिए ।

(६) औग्र्य :—

दुष्टेऽपराधदौर्मुख्यक्रौर्यैश्चण्डत्वमुग्रता ।
तत्रस्वेद शिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥१५॥

[अपराध, दुर्मुखता या क्रूरता के कारण दुष्ट के प्रति प्रचण्ड रूप धारण करना उग्रता कहलाता है । उसमें पसीना, शिरःकम्पन, तर्जन और ताड़न इत्यादि अनुभाव होते हैं ।] जैसे वीरचरित में परशुरामजी कह रहे हैं :—

उत्कृत्योत्कृत्यगर्भानपि शकलयतः क्षत्रसन्तानरोषात् ।
उद्दामस्यैकविंशत्यवधिविशसतः सर्वतो राजवंश्यान् ।
पित्र्यं तद्रक्त पूर्णह्रदसवनमहानन्दमन्दायमान
क्रोधाग्नेः कुर्वतो ये न खलु न विदितः सर्वभूतैः स्वभावः ॥

'मैंने क्षत्रियों की सन्तान मात्र पर अपने क्रोध के परिणामस्वरूप गर्भों को काट-काटकर टुकड़े-टुकड़े कर डाले । मैं इतना उद्धत हूँ कि मैंने २१बार सभी ओर से राजवंशोद्भव वीरों की हत्या की और उन राजाओं के रक्त से लबालब भरे हुए सरोवर में स्नान करने से उत्पन्न हुए महान् आनन्द से मेरी क्रोधाग्नि मन्द हुई । इस प्रकार पितृ कार्य करनेवाले मेरा स्वभाव समस्त प्राणी नहीं जानते हैं यह बात नहीं है ।'

(६) चिन्ता :—

ध्यानं चिन्तेहितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृत् ।

[इच्छित वस्तु प्राप्ति न होने से जो ध्यान किया जाता है उसे चिन्ता कहते हैं । इससे सारा संसार शून्य सा मालूम पड़ता है; गहरी श्वासें चलती हैं और सन्ताप उत्पन्न होता है ।] जैसे :—

पक्ष्माग्रग्रथिताश्रुबिन्दुनिकरैर्मुक्ताफलस्पर्धिभिः।
कुर्वन्त्याहरहासहारिहृदये हारावली भूषणम्॥
बालेबालमृणालनालवलयालङ्कारकान्ते करे।
विन्यस्याननमायताक्षि सुकृती कोऽयं त्वयास्मर्यते॥

'हे बाले! इस समय मुक्ताफल से स्पर्धा करनेवाले, नेत्र लोमों के अग्रभाग में लगे हुए अश्रुबिन्दुओं के समुदाय से अपने हृदय पर शङ्करजी के हास को भी हरनेवाले हारवली भूषण को विस्तारित कर रही हो। हे विशाल नेत्रोंवाली! तुम अपने छोटे से मृणाल नाल के वलय का आभूषण धारण करने के कारण सुन्दर मालूम पड़नेवाले अपने हाथ पर अपने मुख को रखकर किस पुण्यात्मा का स्मरण कर रही हो।'

दूसरा उदाहरण :—

अस्तमित विषय सङ्गा मुकुलित नयनोत्पला बहुश्वसिता।
ध्यायति किमप्यलक्ष्यं बाला योगाभियुक्तेव॥

'इस समय इस बाला की अन्य सब विषयों की आसक्ति बिल्कुल समाप्त हो गई है। यह आँखें बन्द किये हुये बहुत श्वासें लेती हुई कुछ ऐसे प्रकार से ध्यान कर रही है कि इसके लक्ष्य का पता ही नहीं चलता। इस समय यह बाला बिल्कुल योगिनी सी ज्ञात हो रही है।

(११) त्रास :—

गर्जितादेर्मनः क्षोभस्त्रासोऽत्रोत्कम्पितादयः॥१६॥

[गर्जन इत्यादि से जो मनः क्षोभ होता है उसे त्रास कहते हैं। इसमें उत्कम्पन इत्यादि अनुभाव होते हैं।] जैसे माघ में :—

त्रस्यन्ती चल शफरी विघट्टितोरू—
र्वामोरूरतिशयमाप विभ्रमस्य।
क्षुभ्यन्ति प्रसभमहो विनापि हेतो—
र्लीलाभिः किमुसति कारणे तरुण्यः॥

'सुन्दर जङ्घाओंवाली एक स्त्री, (जल में घुसने पर) जङ्घाओं में एक चञ्चल मछली को रगड़ खाकर डरती हुई विलास की अधिकता को प्राप्त हो गई। आश्चर्य है कि तरुणियाँ बिना कारण के ही अपनी लालाओं से बलात् विक्षुब्ध हो जाती हैं फिर कारण होने पर तो कहना ही क्या?'

(१२) असूया :—

परोत्कर्षा क्षमासूया गर्व दौर्जन्य मन्युजा।
दोषोक्त्यवज्ञे भ्रुकुटिमन्यु क्रोधेङ्गितानि च॥१७॥

[गर्व दौर्जन्य या मन्यु से जो दूसरे के उत्कर्ष के प्रति असहनशीलता उत्पन्न होती है उसे असूया कहते हैं। इसमें दोष कथन, अनादर, भौं टेढ़ी करना, मन्यु और क्रोध के संकेत होते हैं।] गर्व से असूया का उदाहरण जैसे वीरचरित में :—

अर्थित्वे प्रकटी कृतेऽपिनफल प्राप्तिः प्रभोः प्रत्युत।
द्रुह्यन् दाशरथिः विरुद्ध चरितो युक्तस्तयाकन्यया॥
उत्कर्षं च परस्य मानयशसोविस्रंसनं चात्मनः।
स्त्रीरत्नं च जगत्पतिर्दशमुखो दृप्तः कथं मृष्यते॥

'याचक बन जाने पर भी मेरे स्वामी (रावण) से इच्छित फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसके प्रतिकूल दशरथ के पुत्र राम उस कन्या से युक्त होकर द्रोही और विरुद्ध चरित्रवाले बन गये हैं। संसार का स्वामी दस मुखोंवाला अभिमानी रावण अपने शत्रुओं के उत्कर्ष अपने मान और यश का ह्रास और उस स्त्रीरत्न (सीता) की उपेक्षा करना कैसे सहन कर सकता है।'

दौर्जन्य से असूया का उदाहरण :—

यदि परगुणा न क्षम्यन्ते यतस्व गुणार्जने।
नहि परयशो निन्दा व्याजैरलं परिमार्जितुम्॥
विरमसि न चेदिच्छाद्वेषप्रसक्तमनोरथो—
दिनकर करान् पाणिच्छत्रैर्नुदञ्छ्रमयेष्यसि॥

'यदि तुम दूसरों के गुणों को सहन नहीं कर सकते हो तो अपने उपार्जन का प्रयत्न करो। निन्दा के बहाने दूसरों के गुणों का परिमार्जन सम्भव नहीं है। यदि इच्छा और द्वेष के कारण तुम्हारा मनोरथ (परनिन्दा के लिए) बहुत बढ़ रहा है तो अपने हाथ का छाता बनाकर सूर्य की किरणों का निवारण करने में तुम्हें केवल श्रम ही उठाना पड़ेगा।'

मन्यु से उत्पन्न होनेवाली असूया का उदाहरण। जैसे अमरूशतक में :—

पुरस्तन्व्या गोत्रस्खलन चकितोऽहं नत मुखः।
प्रवृत्तो वैलक्ष्यात्किमपि लिखितुं दैवहतकः।
स्फुटोरेखान्यासः कथमपिसताद्दक् परिणतो
गता येन व्यक्तिं पुनरवयवैः सैव तरुणी॥
ततश्चाभिज्ञाय स्फुरदरुण गण्डस्थलरुचा
मनस्विन्या रोषप्रणय रभसाद्गद्गद्गिरा।
अहो चित्रं चित्रं स्फुटमिति निगद्याश्रुकलुषं
रुषा ब्रह्मास्त्रं मे शिरसिनिहितो दृप्त चरणः॥

'उस कृशाङ्गी के सामने गोत्रस्खलन हो जाने से अर्थात् उसकी सौत का नाम धोके से मुँह से निकल जाने से मैं चकित हो गया और मैंने नीचे को

सर कर लिया तथा लज्जा और उद्वेग से दुर्दैव का मारा कुछ यों ही लिखने लगा अर्थात् स्वाभाविक रूप में अपनी अँगुलियों से भूमि पर कुछ रेखायें बनाने लगा। वह रेखान्यास जैसे तैसे कुछ ऐसा बन गया कि जिससे वह तरुणी (उसकी सौत) ही अपने अपने अवयवों से व्यक्त हो गई अर्थात् मौज में रेखायें इधर उधर खींचने से धोके से उसका चित्र बन गया। इसके बाद जब उसे यह ज्ञात हुआ तब उसके गण्डस्थल (कपोल) लाल हो गये और फड़कने लगे, क्रोध और प्रणय के उद्वेग से उसकी वाणी गद्गद हो गई तथा उस मनस्विनी ने 'अरे स्पष्ट ही चित्र है चित्र है' यह कहते हुये आँसुओं से कलुषित होकर क्रोध से मेरे सर पर दर्प से भरे हुए चरण को ब्रह्मास्त्र के समान मेरे सर पर पटक दिया।'

(१३) अमर्ष :--

अधिक्षेपायमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता ।
तत्रस्वेद शिरः कम्प तर्जना ताडनादयः ॥१८॥

[अधिक्षेप और अपमान इत्यादि के कारण जो अभिनिष्टता (दृढ़ता) उत्पन्न हो जाती है अर्थात् जिसमें व्यक्ति मानापमान यश अयश का विचार छोड़कर अपनी बात पर डटने का व्रत सा ले लेता है उसे अमर्ष कहते हैं। इसमें पसीना, सर काँपना, तर्जन और ताड़न इत्यादि अनुभाव होते हैं।] उदाहरण जैसे वीरचरित में :--

प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वोऽव्यतिक्रमात्।
नत्वेव दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥

'आप जैसे पूज्यों का अतिक्रमण करने से जो मुझे पाप लगेगा उसके लिये मैं प्रायश्चित्त कर लूँगा किन्तु (आपके सामने नम्र होकर) शस्त्र ग्रहण के महाव्रत को दूषित नहीं करूँगा।'

दूसरा उदाहरण जैसें वेणीसंहार में :--

पुष्पच्छासनलङ्घितांहसि मया मग्नेन नामस्थितम्।
प्राप्ता नाम विगर्हणा स्थितिमतां मध्येऽनुजानामपि।
क्रोधोल्लासित शोणितारुण गदस्योच्छिन्दतः कौरवान्।
अद्यैकं दिवसं ममासि न गुरुर्नाहं विधेयस्तव ॥

'आपकी आज्ञा के उल्लङ्घन करने के महान् पाप में मैं भले ही डूब जाऊँ; मर्यादा पालन करनेवाले अपने अर्जुन इत्यादि छोटे भाइयों के बीच में मुझे निन्दनीय भले ही बनना पड़े किन्तु क्रोध से अपनी गदा को उद्यत करके कौरवों का संहार करनेवाला और उनके रक्त से अपनी इस गदा को लाल बनाने-

वाला मैं आज एक दिन के लिए न तो आपको अपना गुरु (ज्येष्ठ) ही मानता हूँ और मैं आपका आज्ञाकारी ही रहूँगा।'

(१४) गर्व :—

गर्वोऽभिजनलावण्य वलैश्वर्यादिभिर्मदः।
कर्माण्याधर्षणावज्ञा सविलासाङ्गवीक्षणम् ॥१९॥

[अभिजन (कुटुम्ब) लावण्य, बल और ऐश्वर्य इत्यादि के मद को गर्व कहते हैं। इसमें डाटना फटकारना, अपमान करना, विलास के साथ अपने अङ्गों का देखना इत्यादि कर्म होते हैं।] जैसे वीरचरित में :—

मुनिरयमथ वीरस्तादृशस्तत्प्रियं मे
विरमतु परिकम्पः कातरे क्षत्रियासि।
तपसि वितत कीर्तेर्दर्पं कण्डूलदोष्णः
परिचरण समर्थो राघवः क्षत्रियोऽहम् ॥

'ये मुनि भी हैं और उतने प्रसिद्ध वीर भी हैं ये दोनों बातें मेरे लिए प्रिय ही हैं। अरे कातरता धारण करनेवाली! तुम क्षत्रिय पत्नी हो, तुम्हें इस प्रकार काँपना नहीं चाहिए। मैं रघुवंश का क्षत्रिय (रामचन्द्र) तपस्या में प्रसिद्ध कीर्तिवाले और बाहों में दर्प की खुजली धारण करनेवाले परशुरामजी की परिचर्या करने में पूर्ण रूप से (दोनों प्रकार से) समर्थ हूँ।'

दूसरा उदाहरण जैसे उसी वीरचरित में :—

ब्राह्मणातिक्रम त्यागो भवतामेवभूतये।
जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥

'ब्राह्मणों के अतिक्रमण का त्याग आपके कल्याण के लिए ही होगा। नहीं तो तुम्हारा मित्र परशुराम तुमसे रुष्ट हो जावेगा।'

(१५) स्मृति :—

सदृश ज्ञान चिन्ताद्यैः संस्कारत्स्मृतिरत्र च।
ज्ञातत्वेनार्थ भासिन्यां भ्रूसमुन्नयनादयः ॥२०॥

[सदृश्य ज्ञान और चिन्ता इत्यादि से संस्कार उद्बुद्ध होते हैं और उनसे स्मृति जागृत होती है। स्मृति ज्ञात के रूप में किसी वस्तु की अवभासित करनेवाली होती है। उसमें भ्रूसमुन्नयन इत्यादि अनुभाव होते हैं।]

उदाहरण :—

मैनाकः किमयं रूणद्धि गगने मन्मार्गमव्याहतं
शक्तिस्तस्य कुतः स वज्रपतनाद्भीतो महेन्द्रादपि।
तार्क्ष्यः सोऽपि समंनिजेन विभुना जानाति मां रावणम्
आः ज्ञातं स जटायुरेष जरसा क्लिष्टो बधं वाञ्छति ॥

सीताहरण के अवसर पर रावण जटायु के आक्रमण को देखकर कल्पना कर रहा है – 'क्या यह मैनाक है जो मेरे मार्ग को बिना प्रतिबन्ध के रोक रहा है ? किन्तु उसको मेरे सामने आने की शक्ति हो ही कैसे सकती है जब कि वह वज्र के गिरने से इन्द्र से ही डरता है। तो क्या यह गरुड़ है ? किन्तु वह भी तो अपने स्वामी विष्णु के सहित मेरे बल से परिचित है। अच्छा समझा ! यह जटायु है जो बुढ़ापे से दुःखी होकर मृत्यु की कामना कर रहा है।'

दूसरा उदाहरण जैसे मालती माधव में माधव कह रहे हैं :—

'मैंने दृढ़तर संस्कार के आधान में समर्थ अतिशयता से युक्त हो मालती-दर्शन का पहले से अनुभव किया था अर्थात् मैंने मालती का इस रूप में साक्षात्कार किया था कि जिससे हृदय पर दृढ़तर संस्कार जम सके। (संयोग-वश जो दर्शन हो जाता है वह संस्कार के आधान में समर्थ नहीं होता है और यदि होता भी है तो वह संस्कार दृढ़ नहीं हो सकता। जो पहले की भूमिका के साथ बड़ी तैय्यारी से अनुभव किया जाता है उसका संस्कार बहुत ही दृढ़ हो जाता है।) उस अनुभव से मेरे हृदय पर जिस संस्कार या भावना का स्वरूप उत्पन्न हो गया था उसके निरन्तर ही अनुवर्तन करने से उस भावना का और अधिक विस्तार हो गया। (जो संस्कार बिना स्मृति को जागृत किये हुए स्वयं नष्ट हो जाता है उससे भावना का परिपोष नहीं होता। इसके प्रतिकूल जो संस्कार स्मृति को जागृत करता है और उससे भावना का निरन्तर अनुवर्तन किया जाता है उससे भावना पुष्ट हो जाती है।) उस भावना का प्रवाह दूसरे प्रकार के प्रत्ययों से तिरस्कृत नहीं किया जा सका। प्रियतमा की स्मृति रूपी प्रत्ययों की उत्पत्ति से जिसका विस्तार बहुत अधिक हो गया वह उस प्रकार की भावना वृत्ति सारूप्य से मेरे चैतन्य को तन्मय बना रही है अर्थात् मेरा चैतन्य मालतीमय हो रहा है। (वेदान्त का सिद्धान्त है कि इंद्रिय और विषय के सन्निकर्ष होने पर परिणामि स्वाभाववाला अन्तःकरण वृत्ति के आकार में परिणत हो जाता है। अन्तःकरण में अवच्छेदक भाव से रहनेवाला चैतन्य वृत्ति में भी प्रतिफलित हो जाता है। वह वृत्ति विषय देश में जाकर विषय और अधिष्ठान को आवृत करनेवाले अज्ञान को उसी प्रकार दूर कर देती है जैसे प्रदीप अंधकार को दूर कर देता है। इस प्रकार विषयगत चैतन्य का वृत्ति में प्रतिफलित प्रमाता के चैतन्य के साथ उसी प्रकार अभेद सम्बन्ध हो जाता है जिस प्रकार कुएँ से नाली के द्वारा पानी थलहे में जाकर उसी के आकार में परिणत हो जाता है। अधिष्ठान के चैतन्य पर अन्तःकरण के चैतन्य के तादात्म्य का अध्यास नहीं होता इसी लिए हम उस वस्तु के लिए

उत्तम पुरुष का प्रयोग नहीं करते। उस वस्तु पर 'यह' के अर्थ से ही तादात्म्य का अध्यास होता है। इस प्रकार हमें उस वस्तु का भान होने लगता है। यहाँ पर भी माधव के अन्तरात्मा के चैतन्य का वृत्ति में प्रतिफलन होकर प्रत्येक वस्तु में मालती के रूप में ही तदाकार परिणति होती है। अतएव माधव को सब कुछ मालतीमय ही दिखलाई पड़ता है।) अतएव माधव कह रहा है :--

लीनेव प्रतिबिम्बितेव लिखिते वोत्कीर्णरूपेव च।
प्रत्युप्तेव च वज्रलेपघटितेवान्तर्निखातेव च ॥
सनश्चेतसि कीलितेव विशिखैश्चेतोभुवः पञ्चभिः
चिन्तासन्ततितन्तु जाल निविडस्यूतेवलग्ना प्रिया॥

'मेरी प्रियतमा मेरे अन्तःकरण में लीन सी हो गई, मानों प्रतिबिम्बित हो रही है; मानों मेरी चित्त भित्ति पर उसका चित्र सा बना हुआ है; मानो वह मेरे चित्त रूपी प्रस्तर खण्ड पर खोद दी गई है; मानों मेरे चित्त में जड़ दी गई है, मानों वज्रलेप से जोड़ सी दी गई है, मानों अन्दर गाड़ दी गई है; मानों हमारे चित्त में मनोभव के पाँचों बाणों से कील सी दी गई है और मानों चिन्ता की परम्परा रूप तन्तुओं के जाल से घने रूप में बाँध दी गई है। इस प्रकार मेरी प्रियतमा मेरे मन में ही लगी हुई सी स्थित है।

(१६) मरण :--

मरणं सुप्रसिद्धत्वादनर्थत्वाच्चनोच्यते।

[यहाँ पर मरण की परिभाषा नहीं बतलाई जा रही है। इसमें एक तो कारण यह है कि मरण को सब कोई जानता ही है और दूसरा कारण यह है कि मरण एक अनर्थ होता है। इसी लिए मरण का वर्णन करना भी वार्जित है।] साहित्य दर्पण में लिखा है कि इस विच्छेद में हेतु होने के कारण मरण वर्णन नहीं करना चाहिए। इतना तक कह देना चाहिए कि मरण होने ही वाला था या मरण की आकांक्षा का वर्णन करना चाहिए।

उदाहरण :--

सम्प्राप्तेऽवधिवासरे क्षणमनुतद्वर्त्यवातायनं
वारंवारमुपेत्य निष्क्रियतया निश्चित्य किञ्चिच्चिरम्।
सम्प्रत्येव निवेद्य केलिकुररीं साम्रं सखीभ्यःशिशोः
माधव्याः सहकारकेण करुणः पाणिग्रहोनिर्मितः ॥

'अवधि का दिन आने पर क्षण भर वातायन की ओर मुँह किये उसका मार्ग देखती रही। निष्क्रियता के साथ (उसे उस समय कुछ करते ही न बन पड़ता था) बारबार मार्ग देखने के लिए वातायन के निकट जाकर और देर तक

कुछ निश्चय करके इसी समय क्रीड़ा की कुररी (नामक पक्षी) को आँसू बहाते हुए सखियों को सौंपकर, थोड़ी ही आयुवाली माधवी लता के साथ आम के विवाह की तैयारी कर दी। (अर्थात् मरने के पहले यह भी काम निपटाती चलूँ।)

इस प्रकार जहाँ पर श्रृंगार रस के आलम्बन का वर्णन हो वहाँ पर मृत्यु की उपस्थिति और उसका कार्य (तथा आकांक्षा) मात्र दिखलानी चाहिए। अन्यत्र जैसा उचित हो वैसा करे। जैसे वीरचरित में—'आप लोग ताटका को देखें :—

हृन्मर्मभेदि पतदुत्कटकङ्कपत्र संवेगतत्क्षण कृतस्फुरदङ्गभङ्ग।
नासाकुटीर कुहरद्वयतुल्यनिर्यदुद्बुद्बुदध्वनदसृक्प्रसरामृतैव॥

'हृदय के मर्म को विदीर्ण करनेवाले उत्कट कंकपत्र के लगने पर संवेग के कारण एकदम उसका अंग-भंग हो गया और वह पृथ्वी पर गिरकर इधर उधर फड़कने लगा। उसकी नासिका रूपी कुटी के दोनों गर्तों से एक साथ निकलने वाले बबूले से युक्त शब्दायमान रक्त के प्रसार के कारण वह मर गई।'

(१७) मद :—

हर्षोत्कर्षो मदः पानात् स्खलदङ्गवचोगतिः॥२१॥
निद्रा हासोऽत्र रुदितं ज्येष्ठमध्याधमादिषु।

[मदिरा पीने से जो हर्ष की अधिकता होती है उसे मद कहते हैं। उसमें अंगों, वचनों और गमन इत्यादि का स्खलन होता है। उत्तम व्यक्ति इसमें सोता है; मध्यम हँसता है और अधम रोता है।]

जैसे माघ में :—

हाव-हारि हसितं वचनानां कौशलं दृशि विकार विशेषाः।
चक्रिरे भृशमृजोरपि वध्वाः कामिनेव तरुणेन मदेन॥

'हँसने में हवा का आकर्षण, वचनों का कौशल और दृष्टि में एक विशेष प्रकार का विकार ये सब बातें तरुण मद ने एक सरल वधू के अन्दर भी इसी प्रकार उत्पन्न की जिस प्रकार कोई तरुण कार्य किया करता है।'

(१८) सुप्तम् :—

सुप्तं निद्रोद्भवं तत्र श्वासोच्छ्वास क्रिया परम्॥२२॥

[सुप्त निद्रा से उत्पन्न होता है। उसमें श्वास उच्छ्वास की बहुत अधिक क्रिया होती है।]

उदाहरण :—

लघुनि तृण कुटीरे क्षेत्रकोणे यवानां,
नव कलम पलालस्रस्तरे सोपधाने।

परिहरति सुषुप्तं हालिकद्वन्द्वमारात्,
कुचकलश महोष्मा वद्धरेखस्तुषारः ॥

'जौ के खेत के एक कोने में छोटी सी तृण की एक कुटी के अन्दर नवीन कलमों (चहोरे) के पुराल के बिछौने पर जिस पर कि तकिया भी लगी है, हल जोतनेवाले का जोड़ा अपनी निद्रा को दूर कर रहा है और निकट ही कुचकलश की बहुत अधिक गम से तुषार रेखावद्ध हो गया है।'

(१९) निद्रा :—

मनः सम्मीलनं निद्रा चिन्तालस्य क्लमादिभिः ।
तत्र जृम्भाङ्गभङ्गाक्षि मीलनोत्स्वप्रतादयः ॥२३॥

[चिन्ता आलस्य और थकावट इत्यादि के कारण होनेवाले मन के सम्मीलन को निद्रा कहते हैं। उसमें जँभाई लेना, शरीर का टूटना, आँख मीचना, स्वप्न की बड़बड़ाहट इत्यादि अनुभाव होते हैं।] जैसे :—

निद्रार्धमीलितदृशो मदमन्थराणि,
नाप्यर्थवन्ति न च पानि निरर्थकानि ।
अद्यापि मे मृगदृशो मधुराणि तस्या,
स्तान्यक्षराणि हृदये किमपिध्वनन्ति ॥

'उस समय उस मृगनयनी के नेत्र निद्रा से आधे मिच गये थे उस समय उसने कुछ ऐसे मधुर अक्षरों का उच्चारण किया जो एक तो मद के कारण अलसाये हुए से निकल रहे थे दूसरे उनके विषय में तो यही कहा जा सकता है कि वे सार्थक थे और वे निरर्थक ही प्रतीत हो रहे थे। वे उस मृगनयनी के मधुर अक्षर मेरे हृदय में न मालूम क्या ध्वनित सा कर रहे हैं।'

दूसरा उदाहरण जैसे माघ में :—

प्रहरकमपनीय स्वं निदिद्रासतोच्चैः
प्रतिपदमुपहूतः केनचिज्जागृहीति ।
मुहुरविशदवर्णां निद्रया शून्यं शून्यां
दददपि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्यः ।

'कोई मनुष्य अपना पहरा देने का काम पूरा करके बहुत अधिक सो जाने की इच्छा करता हुआ किसी के द्वारा 'जागो जागो' यह कह कर बुलाया हुआ कुछ ऐसी वाणी बोलता है जो मधुर और निर्मल वर्णोंवाली तो होती है किन्तु बिलकुल ही शून्य होती है। ऐसी वाणी बोलते हुए भी वह जग नहीं रहा है।'

(२०) विवोध :—

विवोधः परिणामादेस्तत्र जृम्भाक्षिमर्दने ।

[निद्रा के परिणाम इत्यादि से विबोध होता है। उसमें जँभाई, आँख मलना इत्यादि अनुभाव होते हैं।]

जैसे शिशुपालवध में :—

चिररतिपरिखेद प्राप्त निद्रा सुखानां
चरममपि शयित्वा पूर्वमेवप्रबुद्धाः।
अपरिचलितगात्राः कुर्वतेन प्रियाणाम।
अशिथिल भुजचक्रा श्लेषभेदं तरुण्यः॥

'तरुणियाँ यद्यपि बाद में सोई थीं किन्तु पहले ही जग गईं। उनके प्रियतम रात में बड़ी देर तक रति क्रीडा करने के कारण थक गये थे अतएव इस समय सो रहे हैं। वे तरुणियाँ अपने उन प्रियतमों के वक्षस्थल में लगी हुई लेटी हैं। उनका शरीर बिल्कुल हिल-डुल नहीं रहा है जिससे उनके प्रियतमों के भुजचक्र का दृढ़ आलिङ्गन कहीं विच्छिन्न न हो जावे।'

(२१) व्रीडा :—

दुराचारादिभिर्व्रीडा धाष्टर्याभावस्तमुन्नयेत्।
साचीकृताङ्गावरण वैवर्ण्याधोमुखादिभिः ॥८४॥

[दुराचार इत्यादि से जो धृष्टता का अभाव होता है उसे व्रीडा कहते हैं। दृष्टि का टेढ़ा कर लेना, शरीर को छिपाना, रंग फीका पड़ जाना, मुँह नीचा कर लेना इत्यादि अनुभावों से उसे जानना चाहिये।] जैसे अमरुशतक में :—

पटा लग्नेपत्यौ नमयतिमुखं जात विनया।
हठाश्लेषं वांछत्यपहरति गात्राणि निभृतम्॥
न शक्नोत्याख्यातुं स्मितमुख सखी दत्तनयना।
ह्रिया ताम्यत्यन्तः प्रथम परिहासे नववधूः॥

'जब प्रियतम वस्त्र पकड़ता है तब विनय के साथ अपने मुख को झुका लेती है; जब वह हठपूर्वक आलिङ्गन करना चाहता है तब धीरे से अपने अङ्गों को अलग कर लेती है; मुस्कुरानेवाली सखियों की ओर अपनी निगाह लगाये हुये कुछ कह ही नहीं सकती; इस प्रकार प्रथम परिहास के अवसर पर वन वधू लज्जा से अपने हृदय में उद्विग्न होती है।'

(२२) अपस्मार :—

आवेशो ग्रह दुःखाद्यैरपस्मारो यथाविधि।
भूपातकम्प प्रस्वेद लालाफेनोद्गमादयः ॥८५॥

[भाग्य के अनुसार ग्रह दुःख इत्यादि से जो आवेश होता है उसे अपस्मार

कहते हैं। इसमें पृथ्वी पर गिरना, काँपना, पसीना आना, लार और फेन इत्यादि का आना ये अनुभाव होते हैं।] जैसे शिशुपालवध में :—

आश्लिष्ट भूमि रसितारमुच्चैर्लोलद्भुजाकार वृहत्तरङ्गम्।
फेनायमानं पतिमापगानामसावपस्मारिणमाशशङ्के ॥

'उस समय समुद्र भूमि पर पड़ा था, जोर से चिल्ला रहा था; उसकी बड़ी-बड़ी तरङ्गे चञ्चल ध्वजा के समान बार-बार उठ-उठकर गिरती थीं, उसमें से फेन निकल रहा था। अतएव समुद्र को कृष्ण भगवान् ने समझा मानों वह अपस्मार का रोगी हो।'

(२३) मोह :—

मोहो विचित्तताभीति दुःखावेशानु चिन्तनैः।
तत्राज्ञान भ्रमाघात घूर्णना दर्शनादयः ॥२६॥

[दुःख, आवेश और अनुचिन्तन इत्यादि से जो ज्ञान का अभाव अर्थात् बेहोशी होती है उसे मोह कहते हैं। इसमें अज्ञान, भ्रम, आघात, चक्कर करना, न दिखाई देना इत्यादि अनुभाव होते हैं।] जैसे कुमारसम्भव में :—

तीव्राभिषङ्ग प्रभवेण वृत्तिं मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम्।
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्तं कृतोपकारेवरतिर्बभूव ॥

'इंद्रियों की वृत्ति को रोकनेवाले तीव्र अभिघात से उत्पन्न मोह के कारण अपने पति के मरण रूप विपत्ति का दो घड़ी तक रति को ज्ञान नहीं रहा। इस प्रकार मोह ने मानों रति का उपकार किया हो।'

दूसरा उदाहरण जैसे उत्तर-रामचरित में :—

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा।
प्रमोहो निद्रा वा किमु विष विसर्पः किमुमदः ॥
तव स्पर्शे स्पर्शे ममहि परिमूढेन्द्रियगणो।
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—'हे सीते! तुम्हारे स्पर्श के विषय में यही निश्चय नहीं किया जा सकता है कि यह सुख है कि दुःख है; यह प्रमोह है या निद्रा है क्या यह विष का प्रसार या कोई नशा है। तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श में मेरी इन्द्रियों के समूह को परिपूर्ण रूप से मूढ़ बनानेवाला एक अपूर्व विकार मेरे हृदय में जड़ता भी उत्पन्न करता है और सन्ताप भी उत्पन्न करता है।'

(२४) मति :—

भ्रान्तिच्छेदोपदेशाभ्यां शास्त्रादेस्तत्वधीर्मतिः ॥

[भ्रम-निवारण और उपदेश के द्वारा शास्त्र इत्यादि का तत्व ज्ञान हो जाना मति कहलाता है ।] जैसे किरातार्जुनीय में :—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्य कारिणं गुण लुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥

'सहसा कार्य नहीं करना चाहिये; अज्ञान समस्त आपत्तियों का स्थान है; गुणों का लोभ करनेवाली सम्पत्तियाँ छानबीनकर काम करनेवाले को स्वयं वरण कर लेती हैं ।'

दूसरा उदाहरण :—

न पण्डिताः साहसिका भवन्ति श्रुत्वापि ते संतुलयन्ति तत्वम् ।
तत्त्वं समादाय समाचरन्ति स्वार्थं प्रकुर्वन्ति परस्य चार्थम् ॥

'पण्डित लोग साहसिक (बिना सोचे समझे काम करनेवाले) नहीं होते । वे किसी प्रयोजन को सुनकर उसके तत्व को तौलते हैं और तत्व को ग्रहण कर कार्य करते हैं । इस प्रकार वे अपना भी प्रयोजन सिद्ध करते हैं और दूसरे काम भी बनाते हैं ।'

(२५) आलस्य :—

आलस्यं श्रमगर्भादिजवीह्य जृम्भासितादिमत् ॥२७॥

[श्रम या गर्भ से जो जड़ता उत्पन्न होती है उसे आलस्य कहते हैं । इसमें जँभाई लेना, बैठना इत्यादि बातें होती हैं ।] उदाहरण जैसे धनिक का पद्य :—

चलति कथञ्चित्पृष्टा यच्छतिवचनं कथञ्चिदालीनाम् ।
आसितुमेव हि मनुते गुरुगर्भ भरालसा सतनुः ॥

'भारी गर्भ के भार से आलस्य में पड़ी हुई वह सुन्दर शरीरवाली नायिका कहने पर बड़ी कठिनता से चलती है; बड़ी कठिनता से सखियों से बातचीत करती है तथा बैठे रहने को ही बहुत समझती है ।'

(२६) आवेग :—

आवेगः सम्भ्रमोऽस्मिन्नभिसर जनिते शस्त्रनागाभियोगो
वातात्पांसूपदिग्धस्त्वरितपदगतिर्वर्षजे पिण्डिताङ्गः ॥
उत्पातात्स्रस्तवागेष्व हित हित कृते शोक हर्षानुभावा
वह्ने धूमाकुलास्यः करिजमनु भयस्तम्भकम्पा पसाराः ॥

[आवेग सम्भ्रम को कहते हैं । यदि यह संभ्रम राजाओं के यहाँ की भाग-दौड़ और उपद्रव के कारण हो तो शस्त्रों, हथियारों इत्यादि का अभियोग होता है; यदि वायु से उत्पन्न हुआ हो तो धूलि से सन जाना और शीघ्रतापूर्वक दौड़ना इत्यादि होता है; यदि वर्ष से संभ्रम हो तो शरीर संकुचित हो जाता है; यदि उत्पात से हो तो शरीर ढीला पड़ जाता है; यदि शत्रु और मित्रों के

कारण हो तो शोक और हर्ष का अनुभाव होता है; यदि आग का उपद्रव हो तो मुख धुयें से भर जाता है और यदि हाथी के कारण हो तो भय, स्तब्ध हो जाना, काँपना और भागना ये बातें होती हैं।] (अ) राज विद्रव से संभ्रम का उदाहरण जैसे धनिक का पद्य :—

आगच्छागच्छ सज्जं कुरु वरतुरगं सन्निधेहि द्रुतं मे।
खड्गः क्वासौ कृपाणीमुपनय धनुषा किं किमङ्गप्रविष्टम्॥
संरम्भोन्निद्रितानां क्षिति भृति गहनेऽन्योन्य मेवं प्रतीच्छन्।
वादः स्वप्नाभिदृष्टे त्वयि चकितदृशां विद्विषामाविरासीत्॥

'आओ, आओ, अच्छे घोड़े को तैय्यार कर लो, शीघ्र ही मेरे निकट आ जाओ, अरे तलवार कहाँ है; कृपाणी (छुरी इत्यादि छोटे अस्त्रों) को ले आओ, अरे धनुष का क्या होगा, अरे क्या आ ही गया।' हे राजन्! जब आपके शत्रु संरम्भ के साथ वन में सो जाते हैं और आप उनके स्वप्न में प्रविष्ट हो जाते हैं उस समय उनकी आँखें चकित हो जाती हैं और एक दूसरे को सम्बोधित करते हुए ये बातें उनके मुँह से निकलने लगती हैं।'

तनुत्राणं तनुत्राणं शस्त्रं शस्त्रं रथो रथः।
इति शुश्रुविदे विश्व गुद्भटाः सुभटोक्तयः॥

'कवच, कवच, अरे शस्त्र, शस्त्र, अरे रथ अरे रथ, ये सुभटों की उच्च कोटि की उक्तियाँ चारों ओर सुनाई पड़ने लगीं।'

तीसरा उदाहरण :—

प्रारब्धां तरुपुत्र केषु सहसा सन्त्यज्य सेकक्रिया।
मेतास्तापस कन्यकाः किमिदमित्यालोकयन्त्याकुलाः॥
आरोहन्त्युटज द्रुमांश्च वटवो वाचंयमा अप्यमी।
सद्योमुक्त समाधयो निजवृसीष्वे वोच्चपादंस्थिताः॥

'ये तपस्वियों की कन्यायें पुत्र के समान पालन किये हुये छोटे छोटे वृक्षों के सींचने की क्रिया को प्रारम्भ कर चुकी थीं उसको सहसा छोड़कर व्याकुल होकर 'यह क्या है?' यह देख रही हैं। ये ब्रह्मचारीगण कुटी के वृक्षों पर चढ़ रहे हैं और ये मौन तपस्वी लोग शीघ्र ही अपनी समाधियों को छोड़कर अपने आसनों पर ही एक पैर ऊँचा किये हुये खड़े हैं।'

(आ) वायु से उत्पन्न आवेग का उदाहरण—'वायु से उड़ाया हुआ यह वस्तु आकुल हो रहा है अर्थात् फड़फड़ा रहा है।' इत्यादि। (इ) वर्षा से उत्पन्न आवेग का उदाहरण :—

देवे वर्षत्यशनपवनव्यापृता वह्निहेतोः —
गेहाद्गेहं फलकनिचितैः सेतुभिः पङ्कभीताः॥

नीध्रप्रान्तानविरल जलान् पाणिभिस्ताडयित्वा
शूर्पच्छत्रस्थगितशिरसो योषितः सञ्चरन्ति ॥

'मेघ बरसने के समय में खाने पकाने के काम में लगी हुई स्त्रियाँ आग लाने के लिये कीचड़ के भय से ऐसे मार्ग से एक घर से दूसरे घर को जा रही हैं जिसमें तख्ते के छोटे छोटे टुकड़ों पड़े हुये हैं मानों उनका पुल बाँध दिया गया हो। ये स्त्रियाँ ओयेलाती (छानी के छोरों) को, जिनमें भली भाँति पूर्णरूप से जल भरा हुआ है, अपने हाथों से हटा कर, सूर्य के छाते से अपने सर को ढक कर इधर उधर घूम रही हैं।'

(ई) उत्पात से उत्पन्न आवेगा का उदाहरण :—

पौलस्त्यपीनभुजसम्पदुदस्यमान ।
कैलास सम्भ्रमविलोलदृशः प्रियायाः ।
श्रेयासि वोदिशतु निह्नुत कोप चिह्न-
मालिङ्गनोत्पुलकमासितमिन्दु मौलेः ॥

'रावण की दृढ़ भुजाओं की शक्ति से उठाये हुये कैलास के कारण प्रियतमा पार्वती की दृष्टि सम्भु के कारण चञ्चल हो गई और वे कोप के चिह्न को छिपाकर शङ्करजी से चिपट गईं (आलिङ्गन करने लगीं)। इस प्रकार आलिंगन के कारण रोमांच से भरे हुये शङ्करजी का बैठना आप सब लोगों का कल्याण करे।'

(उ) शत्रुकृत संरम्भ अनिष्ट के सुनने या देखने से होता है। जैसे उदात्त-राघव में--'चित्रमाय राक्षस—(श्रमपूर्वक) हे भगवन् कुलपति रामचन्द्र! रक्षा करो! (व्याकुलता प्रगट करता है।) इसके बाद फिर चित्रमाय कह-रहा है :--

मृगरूपं परित्यज्य विधाय विकटं वपुः।
नीयते रक्षसानेन लक्ष्मणो युधि संशयम् ॥

'यह राक्षस मृगरूप को छोड़कर भयानक रूप धारण कर लक्ष्मण को लिये जा रहा है यह बड़ी शङ्का की बात है।' इस पर रामचन्द्र जी कह रहे हैं :--

वत्सस्याभयवारिधेः प्रतिभयं मन्ये कथं राक्षसात्।
त्रस्तश्चैष मुनिर्विरौति मनसश्चास्त्यव मे सम्भ्रमः ॥
मा हासीर्जनकात्मजा मिति मुहुः स्नेहाद्गुरुर्याचते।
न स्थातुं न च गन्तुमाकुलमतेर्मूढस्य मे निश्चयः ॥

'मेरा वत्स लक्ष्मण निर्भयता का महासागर है उन्हें राक्षस से प्रतिभय हो सकता है यह मैं कैसे मान लूँ; यह मुनि भी त्रस्त होकर चिल्ला रहा है और

मेरे मन सम्भ्रम भी अधिक है। दूसरी ओर प्रेमपूर्वक गुरु ने बार-बार आदेश दिया है कि सीता को मत छोड़ना। अतएव इस समय मेरी बुद्धि व्याकुल हो रही है; मैं मूढ़ हो रहा हूँ; अब न तो मैं यही निश्चय कर सकता हूँ कि यहीं बैठा रहूँ और न यही निश्चय कर सकता हूँ कि चला जाऊँ।' यहाँ तक अनिष्ट प्राप्ति से उत्पन्न सम्भ्रम का वर्णन किया गया है।

(ऊ) इष्ट प्राप्ति से उत्पन्न सम्भ्रम का उदाहरण जैसे उदात्तराघव में:--
'(परदे को हटाकर एक सम्भ्रान्त बानर का प्रवेश।) बानर--महाराज! यह पवन पुत्र के आगमन का हर्ष मनाया जा रहा है।' यहाँ से लेकर--'देव के हृदय के आनन्द को उत्पन्न करने वाले मधुवन को उजाड़ डाला।' यहाँ तक इष्ट प्राप्ति से उत्पन्न हर्ष का वर्णन किया गया है।

दूसरा उदाहरण जैसे वीरचरित में :--

एह्येहि वत्स रघुनन्दन पूर्णचन्द्र
चुम्बामि मूर्धनि चिरस्य परिष्वजे त्वाम्।
आरोप्य वा हृदि दिवानिशमुद्वहामि
वन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयं ते॥

'आओ आओ पूर्णचन्द्र के समान मुखवाले बेटा रामचन्द्र आओ, बहुत दिनों बाद तुम्हारे सर का चुम्बन कर लूँ; तुम्हें भेंट लूँ; तुम्है हृदय में धारण कर रात दिन ढोता रहूँ अथवा कमल के समान तुम्हारे दोनों चरणों की वन्दना करूँ।'

(ए) आग से उत्पन्न सम्भ्रम का वर्णन जैसे अमरुशतक में :--

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तः चरण निपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुर युवतिभिः साश्रु नेत्रोत्पलाभिः॥
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवोवः शराग्निः॥

'शंकर जी के बाण की अग्नि आप लोगों के पापों को जला डाले जो नेत्र कमलों में आँसू बहाने वाली त्रिपुरासुर की युवतियों के द्वारा अपराध में आर्द्र कामी के समान हाथ में लगने पर झिटक दी गई वस्त्र का छोर पकड़ने पर बलात् हटा दी गई, केश पकड़ने पर दूर फेंक दी गई, चरणों पर गिरने पर सम्भ्रम के कारण देखी भी नहीं जा सकी और आलिङ्गन करने पर (शरीर के अन्य भागों में लगने पर) तिरस्कृत कर दी गई।'

दूसरा उदाहरण जैसे रत्नावली में :--

विरम विरम वह्ने मुञ्च धूमाकुलत्वं
प्रसरयसि किमुच्चै रर्चिषां चक्रवालम्।

विरहहुतभुजाहंयो न दग्ध: प्रियाथा:
प्रलयदहनभासा तस्य किं त्वं करोषि ॥

'हे आग, रुको, इस धुयें की आकुलता को छोड़ दो (धुयें की आकुलता को मत बढ़ाओ) व्यर्थ में इन लपटों के समूहों को क्यों बढ़ा रहे हो ? प्रियतमा के वियोग को अग्नि से जो मैं नहीं जला उसका तुम प्रलयाग्नि की लपट से क्या कर लोगे ?'

(ऐ) हाथी से उत्पन्न आवेग का उदाहरण :—

स च्छिन्न वन्ध द्रुत युग्यशून्यं भग्नाक्षपर्यस्तरथं क्षणेन ।
रामा परित्राण विहस्तयोधं सेनानिवेशं तुमुलं चकार ॥

'उस बिगड़े हुए हाथी ने सेना के निवेश स्थल को उपद्रव से युक्त बना दिया ।'

(२७) वितर्क :--

तर्को विचार: संदेहाद्भ्रूशिरोऽङ्गुलिनर्तक:

[जो सन्देह से (सन्देह पूर्ण) विचार होता है उसे तर्क कहते हैं । इस भौं, सर और अँगुलियों का नर्तन होता है ।] उदाहरण जैसे लक्ष्मण कह रहे हैं :—

किं लोभेन विलङ्घित: स भरतो येनैतदेवं कृतम् ।
सद्य: स्त्री लघुतां गता किमथवा मातैव मे मध्यमा ॥
मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरु—
र्माता तातकलत्रमित्यनुचितं मन्ये विधात्रा कृतम् ॥

'क्या लोभ के द्वारा भरत का उल्लङ्घन किया गया अर्थात् भरत ने लोभाभिभूत होकर अपने स्वभाव को छोड़ दिया और लोभ में पड़ गये जो उन्होंने यह (राम का निर्वासन रूप) कार्य किया अथवा मेरी मँझली माँ ही इतना शीघ्र स्त्री सुलभ लघुता के वश में हो गई ? मेरे लिए इन दोनों बातों का विचार मिथ्या है । भरत तो आर्य (श्रीरामचन्द्रजी के अनुज हैं और मेरे ज्येष्ठ हैं । माताजी भी पिताजी की पत्नी हैं ।) (अतएव दोनों से इस अनुचित कार्य की सम्भावना नहीं ।) मैं समझता हूँ कि यह अनुचित कार्य विधाता का किया हुआ ही है ।'

दूसरा उदाहरण :—

क: समुचिताभिषेकादार्यं प्रच्यावयेद्गुणज्येष्ठम् ।
मन्ये ममैव पुण्यै: सेवावसर: कृतो विधिना ॥

'गुणों में ज्येष्ठ आर्य (श्रीरामचन्द्रजी) को इस उचित राज्याभिषेक से प्रच्युत कौन कर सकता था । मालूम पड़ता है कि विधाता ने मेरे पुण्यों से ही यह सेवा का अवसर उपस्थित किया है ।'

(२८) अवहित्था—

लज्जाद्यैर्विक्रिया गुप्ताववहित्थाङ्गविक्रिया ।

[लज्जा इत्यादि से विकारों का छिपाना अवहित्था कहलाता है । इसमें अङ्ग विकार अनुभाव होते हैं ।] जैसे कुमारसम्भव में :—

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमल पत्राणि गणयामास पार्वती ॥

'देवर्षि नारद के इस प्रकार कहने पर पिता के पास बैठी हुई नीचे को सर किये हुए पार्वती लीला कमल के पत्तों को गिन रही थीं ।'

(२९) व्याधि :—

व्याधयः सन्निपाताद्यास्तेषामन्यत्र विस्तरः ।

[व्याधियाँ सन्निपात इत्यादि होती हैं । उनका दूसरे शास्त्रों में वर्णन है ।] दिग्दर्शनमात्र उदाहरण जैसे :—

अच्छिन्नं नयनाम्बु बन्धुषुकृतं चिन्ता गुरुभ्योऽर्पिता ।
दत्तंदैन्यमशेषतः परिजने तापः सखीष्वाहितः ॥
अद्यश्वः परनिर्वृतिं व्रजति सा श्वासैः परंखिद्यते ।
विश्रब्धो भव विप्रयोग जनितं दुःखं विभक्तं तया ॥

'निरन्तर बहनेवाली आँसुओं की धारा उसने अपने बन्धुओं को समर्पित कर दी; चिन्ता गुरुओं को दे दी, अपने परिजन वर्ग उसने अपनी सारी दीनता प्रदान कर दी और सन्ताप सखियों को दे दिया । अब तुम निश्चिन्त हो जाओ; उसने वियोग से उत्पन्न अपना सारा दुःख दूसरों को बाँट दिया है । वह आज या कल में ही बिलकुल शान्त हुई जाती है; उसे खेद केवल श्वासों का ही रह गया है ।'

(३०) उन्माद :—

अप्रेक्षा कारितोन्मादः सन्निपात ग्रहादिभिः ।
अस्मिन्नवस्थाः रुदितगीतहासासितादयः ॥३०॥

[सन्निपात ग्रह इत्यादि से बे सोचे-समझे कार्य करना उन्माद कहलाता है । इसमें रोना गाना हँसना बैठना इत्यादि अवस्थाएँ होती हैं ।] उदाहरण जैसे—'अरे क्षुद्र राक्षस । ठहर-ठहर कहाँ मेरी प्रियतमा को लिये जा रहा है ?' इस उपक्रम के साथ लिखा है—'अरे ! अच्छा ।'

नव जलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्त निशाचरः ।
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न तस्य शरासनम् ॥
अयमपि पटुर्धारासारो न वाणपरम्परा ।
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी ॥

'यह नवीन बादल उमड़ रहा है, यह उद्धत राक्षस नहीं है। यह इन्द्रधनुष दिखाई पड़ रहा है, यह उस राक्षस का धनुष नहीं है। यह भी तेज धाराओं की वर्षा है यह बाणों की परम्परा नहीं है। यह कसौटी पर सोने की रेखा के समान स्निग्ध बिजली चमक रही है मेरी प्रिया उर्वशी नहीं है।'

(३१) विषाद :--

प्रारब्ध कार्यासिद्ध्यादेर्विषादः सत्वसंक्षयः।
निःश्वासोच्छ्वास हृत्ताप सहायान्वेषणादिकृत् ॥३१॥

'प्रारम्भ किये हुए कार्य की असिद्धि इत्यादि से तेज का नष्ट हो जाना विषाद कहलाता है। इसमें गहरी श्वास, ऊँची श्वास, हृदय का सन्ताप, सहायक का अन्वेषण इत्यादि अनुभाव होते हैं।]

जैसे वीरचरित में--'हाय आर्ये तडके! यह क्या हुआ? अरे यह तो जल में अलाबु (कद्दू के फल) डूब रहे हैं और पत्थर तैर रहे हैं।

'नन्वेष राक्षस पतेः स्खलितः प्रतापः।
प्राप्तोऽद्भुतः परिभवोहि मनुष्यपोतात् ॥
दृष्टः स्थितेन च मया स्वजन प्रमाथो-
दैन्यं जराच निरुणद्धि कथं करोमि ॥'

'निस्सन्देह यह राक्षस राज के प्रताप का स्खलन है। यह एक साधारण मनुष्य के बालक से अद्भुत पराभव प्राप्त हुआ है। मैंने यहाँ बैठे ही बैठे स्वजनों का संहार देखा है। अब मैं क्या करूँ मुझे दीनता और बुढ़ापा दोनों (पराक्रम दिखाने से) रोक रहे हैं।'

(३२) औत्सुक्य :--

कालाक्षमत्वमौत्सुक्यं रम्येच्छारति सम्भ्रमैः।
तत्रोच्छ्वासत्वनः श्वासहृत्तापस्वेदविभ्रमाः ॥३२॥

[रमणीय इच्छा, रीति और सम्भ्रम से समय को सहन न करना औत्सुक्य कहलाता है। उसमें ऊँची श्वासें, जल्दबाजी श्वास, हृदय में सन्ताप, पसीना और विभ्रम ये अनुभाव होते हैं।]

उदाहरण जैसे कुमारसम्भव में :--

'आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी।
हरोपया ने त्वरिता बभूव स्त्रीणां प्रियालोकफलोहि वेषः ॥'

'स्थिर और विशाल नेत्रोंवाली पार्वती शीशे में अपने को शोभित हुआ देखकर शङ्करजी के पास जाने के लिए शीघ्रता करने लगी। निस्सन्देह वेष रचना का सबसे बड़ा फल यही है कि प्रियतम उसे देख ले।'

दूसरा उदाहरण जैसे कुमारसम्भव में ही :--

पशुपतिरपि तान्यहानिकृच्छ्रादनिनयदद्रि सुतासमागमोत्कः ।
कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपितं यदमीस्पृशन्ति भावाः ॥

'पशुपति शङ्करजी ने भी गिरिराज पुत्री श्री पार्वती के दर्शनों की उत्कण्ठा में उन दिनों को बड़ी कठिनता से बिताया। ये काम विकार किस दूसरे परवश व्यक्ति के हृदय में विकार न उत्पन्न करेंगे जब कि विभु उन शङ्करजी को भी ये भाव प्रभावित कर देते हैं।'

(३३) चापल :—

मात्सर्य द्वेष रागादेश्चापलं त्वनवस्थितिः।
तत्रभर्त्सनपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः ॥३३॥

[मात्सर्य द्वेष राग इत्यादि से चित्त की अस्थिरता 'चापल' कहलाती है। इससे डाटना, कठोरता दिखलाना, स्वच्छन्द आचरण करना इत्यादि अनुभाव होते हैं।]

जैसे विकट जितन्वा का पद्य :—

अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु।
बालामजातरजसं कलिकामकाले व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः ॥

'हे भौंरे ! तब तक तुम उपमर्द को सहन कर सकने में समर्थ दूसरी पुष्प-लताओं में अपने चञ्चल मन को आनन्दित करो (जब तक इस लता का पूर्ण विकास न हो जावे।) अभी यह कली मुग्ध है, इसमें पराग भी नहीं पड़ा है, मल्लिका की इस कली को व्यर्थ ही तुम बिना अवसर के कदर्थित बना रहे हो।'

उपर्युक्त ३३ व्यभिचारीभाव चित्तवृत्तियों के ही विशेष रूप हैं। चित्त-वृत्तियाँ अनन्त प्रकार की हो सकती हैं। उनकी संख्या सीमित नहीं की जा सकती। किन्तु अन्य चित्तवृत्तियों के विशेष रूप इन्हीं ३३ चित्तवृत्तियों के विभाव या अनुभाव के स्वरूप में प्रविष्ट हो जाते हैं। अतएव उनका पृथक उल्लेख नहीं करना चाहिए। यहाँ तक व्यभिचारी भावों की व्याख्या की जा चुकी।

स्थायी-भाव

स्थायी भाव का सामान्य लक्षण यह है :—

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्माभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ॥३४॥

[विरुद्ध या अविरुद्ध भावों से जो विच्छिन्न न हो और दूसरे भावों को अपने ही रूप में परिणत कर ले उसे स्थायी-भाव कहते हैं।]

आशय यह है कि जहाँ पर रति इत्यादि भावों का उपनिबन्धन इस रूप में हो कि सजातीय और विजातीय दोनों प्रकार के भावों से उसका विच्छेद न हो सके उसे स्थायी-भाव कहते हैं। सजातीय भाव से विच्छिन्न न होने का उदाहरण जैसे बृहत्कथा में नर बाहनदत्त के मदनमञ्चुका के प्रति अनुराग का वर्णन किया गया है। यद्यपि अनेक अवान्तर नायिकाओं के प्रेम का भी वर्णन है किन्तु उन अवान्तर अनुरागों के द्वारा मदनमञ्जुषा के प्रति अनुराग का विच्छेद नहीं होता। इसी प्रकार विजातीय भावों से स्थायी भाव के तिरस्कृत न होने का उदाहरण जैसे मालती माधव में श्मशानाङ्क में वीभत्स रस के द्वारा मालती के प्रति अनुराग का तिरस्कार नहीं होता। वहाँ पर माधव कह रहे हैं—'मेरे अन्तःकरण में पूर्व अनुभव के आधार पर जिस संस्कार का प्रादुर्भाव हुआ है उसके निरन्तर जागरूक रखने से जिसका विस्तार हो गया है और दूसरे प्रकार के प्रत्ययों से जिसका प्रवाह नहीं रोका जा सकता इस प्रकार के प्रियतमा के स्मरण रूप प्रत्यय की उत्पत्ति का विस्तार वृत्ति सारूप्य से मेरे चैतन्य को मालतीमय बना रहा है।' (दे० पृ०) इत्यादि वाक्यों के द्वारा मालती के प्रति अनुराग के तिरस्कृत न होने की बात कही गई है। इस प्रकार विरोधी या अविरोधी भावों के स्थायी भाव में समावेश में दोष नहीं होता।

इसको इस प्रकार समझिए—विरोध दो प्रकार का होता है; एक तो साथ न बैठ सकना और दूसरे बाध्यबाधक भाव होना। इन दोनों ही रूपों में स्थायी भाव का दूसरे भावों से विरोध नहीं होता। कारण यह है कि भाव प्रपाणक न्याय से संघात रूप में अस्वाद प्रगट करनेवाले होते हैं। (जिस प्रकार यदि काली मिर्च कपूर इलायची इत्यादि द्रव्यों से पीने का कोई रस बनाया जावे तो उस बने हुए द्रव्य में एक ही रस रह जाता है। सभी वस्तुओं की उसमें पृथक्-पृथक् प्रतीति नहीं होती।) इसी प्रकार विभिन्न भावों से निष्पन्न हुए रस में भी विभिन्न भावों की अनुभूति नहीं होती किन्तु उनका सङ्घात रूप में ही आस्वादन होता है। यदि स्थायी भाव का दूसरे भावों से विरोध हो तो उनके विषय में भी यह नहीं कहा जा सकता कि वे एक साथ में स्थित नहीं हो सकते। जिस प्रकार एक ही सूत में माला बनाने के लिए विभिन्न प्रकार के फूल गूँथे जाते हैं उसी प्रकार रति इत्यादि से उपरक्त चित्त में अविरोधी व्यभिचारी भावों के उपनिबन्धन में किसी प्रकार का विरोध न होना समस्त रसिकजनों का अनुभव सिद्ध सत्य है। जिस प्रकार अविरोधी व्यभिचारी भावों का समावेश रसिकजनों का स्वानुभव सिद्ध व्यापार है उसी प्रकार काव्य व्यापार के संरम्भ से अनुकार्य राम इत्यादि में भी जब उनका समावेश होता है तब उससे अपने चित्त का भी तादात्म्य हो जाता है और इस प्रकार पाठकों में भी वैसी ही आनन्दमयी

चेतना के उन्मीलन में वह अनुकार्यगत रस हेतु हो जाता है। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि भाव एक साथ में स्थित नहीं हो सकते।

अब वाध्य वाधक भाव को ले लीजिए। वाध्य वाधक भाव का अर्थ है दूसरे भावों से दूसरे भावों का तिरस्कार। स्थायी भाव का अविरोधी व्यभिचारियों से तिरस्कार हो ही नहीं सकता। क्योंकि अविरोधी व्यभिचारी भाव स्थायी भाव के अंग होते हैं। इसी लिए वे स्थायी भाव के विरोधी नहीं कहे जा सकते। कारण यह है कि प्रधान विरोधी कभी अङ्ग नहीं होते और जो अङ्ग होते हैं वे प्रधान रूप से विरोधी नहीं होते। इसी प्रकार उनके अवान्तर रूप में विरोधी होने का भी खण्डन हो जाता है। अथवा पूर्वोक्त सुक्सूत्र न्याय से (एक ही सूत में विभिन्न प्रकार के फूलों के गूँथे जाने के नियम से) अवान्तर विरोध का समाधान किया जा सकता है। उदाहरण के लिए मालती माधव में यद्यपि शृंगार रस के बाद वीभत्स रस का उपनिबन्धन किया गया है किन्तु फिर भी कोई नीरसता नहीं आने पाई है। अतएव इस स्थिति में रसों का विरोध वहीं पर होता है जहाँ पर एक ही आलम्बन के विषय में विभिन्न विरोधी रसों का उपादान किया जावे। यही (एक आलम्बन के विषय में दो विरोधियों का समावेश ही) विरोध में कारण होता है। यदि आलम्बन भिन्न-भिन्न हों तो विरोध नहीं होता। जैसे यदि रावण के ही प्रति (उसी को आलम्बन मानकर) राम के भय और उत्साह दोनों का वर्णन किया जावे तो ये भाव विरोधी होंगे। किन्तु यदि राम का भय किसी दूसरे के प्रति हो और उत्साह किसी दूसरे के प्रति तो उनमें विरोध नहीं होगा। यदि एक आलम्बन को मानकर भी एक ही व्यक्ति के विरुद्ध रसों का वर्णन किया जावे किन्तु उनके बीच में कोई दूसरा रस आ जावे तो भी उनमें विरोध नहीं होता। (यहाँ पर धनिक ने प्राकृत भाषा का उदाहरण देकर लिखा है कि 'प्रस्तुत पद्य में वीभत्स और शृंगार रस का एक में समावेश विरुद्ध नहीं है, क्योंकि उनके बीच में अंगभूत दूसरे रसों का व्यवधान हो गया है। पद्य इस प्रकार है :—

अरण हुणाहु महेलिअ हुजुहु परिमलुसुसुअन्धु।
मुहु कन्तह अगत्थह अंगणफिट्टइ गन्धु॥

किन्तु इस श्लोक की न तो संस्कृत छाया स्पष्ट है और न अर्थ का ही पता चलता है। सारांश यही है कि दो विरोधी रसों के समावेश में यदि तीसरे का व्यवधान हो तो विरोध नहीं रहता।

(प्रश्न) यह बात तो मानी जा सकती है कि जहाँ पर एक रस का प्रधान रूप से वर्णन करना हो और दूसरे रस उसके अंग के रूप में आवें वहाँ पर अंगाङ्गि भाव मानकर अविरोध हो सकता है। किन्तु जहाँ पर दो रसों की

समान प्रधानता हो वहाँ पर अनेक भावों का समावेश किस प्रकार समीचीन कहा जा सकता है? समान प्रधानता के साथ दो रसों के समावेश का उदाहरण :—

'एक्कतो रुअइ पिआ अण्ण तो समर तूर णिग्घोसो।
पेमाणे रण रसेणअ भडस्स डोलाइअं हिअ अम्।'
[एकतो रोदिति प्रियाऽन्यतः सपर तूर्यनिर्घोषः।
प्रेम्णा रणरसेन च भरस्य दोलायितं हृदयम्।]

'एक ओर तो प्रियतमा रो रही है और दूसरी ओर युद्ध का तूर्य-घोष हो रहा है। अतएव एक ओर प्रेम और दूसरी ओर युद्ध के रस से वीर का मन अस्थिर हो रहा है।'

यहाँ पर रति और उत्साह का एक में समावेश है।

दूसरा उदाहरण :—

मात्सर्य मुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्याद मिदं वदन्तु।
सेव्याः नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मर स्मेर विलासिनीनाम्।

'हे आर्यगण! ईर्ष्या द्वेष का परित्याग कर और भली भाँति सोच समझ-कर मर्यादा का विचार रखते हुए यह बतलाओ कि क्या पर्वतों के नितम्ब (मध्य भाग) सेवन करने योग्य हैं या मदन पीड़ा के कारण मुस्कुराती हुई विलासिनियों के नितम्ब सेवन करने योग्य हैं।'

यहाँ पर रति और निर्वेद का परस्पर समावेश किया गया है।

तीसरा उदाहरण :—

इयं सा लोलाक्षी त्रिभुवन विलासैक वसतिः।
सचायं दुष्टात्मा स्वसुरप कृतं येनमम तत्॥
इतस्तीव्रः कामो गुरुरयमितः क्रोध दहनः।
कृतो वेषश्चायं कथमिदमिति भ्राम्यतिमनः॥

रावण कह रहा है कि—'एक ओर तो यह चञ्चल नेत्रोंवाली सीता है जो अपने सौन्दर्य के कारण तीनों लोकों के विलास का एकमात्र केन्द्र मालूम पड़ रही है और दूसरी ओर यह दुष्टात्मा राम है जिसने मेरी बहन का अपकार किया है। इधर तो भयानक काम पीड़ा है और इस ओर भीषण क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो रही है। मैंने वेष भी यह (संन्यासी का) बना लिया है। मेरा मन चक्कर खा रहा है कि यह सब क्या और किस प्रकार हो रहा है!

यहाँ पर रति और क्रोध का एक में समावेश है।

चौथा उदाहरण—

अन्त्रैः कल्पित मङ्गल प्रतिसराः स्त्रीहस्तरक्तोत्पल-

व्यक्तोत्तंसभृतः पिनद्ध शिरसः हृत्पुण्डरीक स्रजः।

एताः शोणित पङ्क कुङ्कुमजुषः सम्भूय कान्तैः पिब-

न्त्यस्थिस्नेह सुरां कपाल चषकैः प्रीताः पिशाचाङ्गनाः॥

'इन पिशाचों की स्त्रियों ने इस समय आँतों से माङ्गलिक हार बना लिया है ये स्त्रियों के हाथ रूपी लाल कमलों का आभूषण धारण किये हुए हैं; इनके सरों पर हृदयरूपी कमलों की माला बँधी हुई हैं और इन्होंने खून के पङ्क का कुङ्कुम लगा लिया है; इस प्रकार ये मिलकर अपने प्रियतमों के साथ कपालरूपी पान पात्रों में हड्डियों की चिकनई की मदिरा आनन्द से पी रही हैं।'

यहाँ पर पिशाचाङ्गनाओं को ही आश्रय मानकर (एक आश्रय में ही) रति और घृणा का समावेश हुआ है।

पाँचवाँ उदाहरण :—

एकंध्यान निमीलनान्मुकुलितं चक्षुर्द्वितीयं पुनः

पार्वत्याः वदनाम्बुजस्तनतरे श्रृङ्गार मारालसम्।

अन्यद्दूर निकृष्ट चाप मदन क्रोधान लोद्दीपितं

शम्भोर्भिन्नरसं समाधि समये नेत्रत्रयं पातु वः॥

'समाधि के समय में शङ्करजी का एक नेत्र तो ध्यान के कारण बन्द कर लिया गया है अतएव वह कली के समान स्थित है। दूसरा नेत्र पार्वतीजी के मुख कमल और स्तनतर पर श्रृङ्गार के भार से अलसाया हुआ पड़ रहा है और तीसरा नेत्र धनुष को अधिक खींचनेवाले कामदेव पर किये हुए क्रोध की अग्नि से प्रज्वलित हो रहा है। इस प्रकार भिन्न रसोंवाले शङ्करजी के तीनों नेत्र आप लोगों की रक्षा करें।'

यहाँ पर शान्ति, रति और क्रोध का समावेश हुआ है।

छठा उदाहरण :—

एकेनाक्ष्णा प्रविततरुषा वीक्षते व्योम संस्थं

भानोर्बिम्बं सजल लुलिते नापरेणात्मकान्तम्।

अह्नश्छेदे दयित विरहाशङ्किनी चक्रवाकी

द्वौ सङ्कीर्णौ रचयति रसौ नर्तकीव प्रगल्भा॥

'दिन के समाप्त होने पर प्रियतम के वियोग की आशङ्का करनेवाली चक्रवाक वधू अधिक कोध से भरी हुई एक आँख से आकाश में स्थित सूर्य बिम्ब को देख रही है और आँसुओं से भरी हुई काँपनेवाली दूसरी सुन्दर आँख से

अपने प्रियतम को देख रही है। इस प्रकार वह एक निपुण नर्तकी के समान दो सङ्कीर्ण रसों की रचना कर रही है।'

यहाँ पर रति, शोक और क्रोध का समावेश है। इस प्रकार इन उदाहरणों में विरोधी रसों का समान प्राधान्य के रूप में उपनिबन्धन किया गया है। फिर यहाँ पर विरोध क्यों नहीं माना जाता?

(उत्तर) उपर्युक्त उदाहरणों में भी एक ही स्थायी भाव है। प्रथम उदाहरण 'एक ओर तो ......अस्थिर हो रहा है' में उत्साह स्थायी भाव है और वितर्क उसका व्यभिचारी भाव है। वितर्क में कारण सर्वदा सन्देह हुआ करता है। उसी सन्देह की स्थिति उत्पन्न करने के लिये प्रियतमा की करुणा और युद्ध के तूर्य घोष का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार इन दोनों का उपादान वीर रस को ही पुष्ट करता है। वही बात भट शब्द का प्रयोग करके प्रगट की गई है। यदि दोनों की समान प्रधानता होती और उपकार्योपकारक भाव भी न होता तो इनकी एकवाक्यता कभी बन ही नहीं सकती थी। दूसरी बात यह है कि यहाँ पर सङ्गम का तो अवसर उपस्थित है यदि यहाँ पर सुभट कोई दूसरा कार्य करने लगें तो उससे उनकी संग्राम के प्रति उदासीनता ही व्यक्त होगी जिससे वर्णन बड़ा ही अनुचित प्रतीत होने लगेगा। अतएव यहाँ पर प्रियतमा का करुण रस प्रियतम की एकमात्र संग्राम में ही अनुरक्ति को प्रगट कर रहा है जिससे वीर रस का ही परिपोष होता है।

अब दूसरा उदाहरण लीजिए—'हे आर्यगण!......करने योग्य हैं' में चिरप्रवृत्त रति वासना का उपादान परित्याज्य होने के रूप में ही किया गया है। अतएव इससे शम की ही पुष्टि होती है। यही बात 'आर्यगण' इस संबोधन और 'मर्यादा का ध्यान रखते हुए' इस वाक्य खण्ड से व्यक्त की गई है।

तीसरे उदाहरण 'एक ओर तो......बना लिया है' में रावण एक तो प्रतिनायक है दूसरे वह निशाचर है। अतएव उसमें माया की प्रधानता होना स्वाभाविक है। इस प्रकार यहाँ पर रौद्र रस प्रधान है। रौद्र के व्यभिचारी भाव विषाद का आलम्बन विभाव सीता है; उन्हीं के विषय में वितर्क उपस्थित किया गया है। वितर्क का रूप यही है कि 'रति और क्रोध के विरुद्ध होने के कारण मुझे क्या करना चाहिए।' इस प्रकार रावण के क्रोध प्रधान निशाचर होने के कारण रौद्ररस में ही पर्यवसान होता है तथा उसका परिपोष सीता विषयक वितर्क के द्वारा होता है। इसी प्रकार चौथे उदाहरण 'इन पिशाचों की......पी रही हैं' में शृङ्गार और वीभत्स से हास्यरस की पुष्टि होती है और इन दोनों रसों का पर्यवसान हास्यरस में ही होता है। पाँचवें उदाहरण 'समाधि के समय में ......रक्षा करें' में यद्यपि शङ्करजी भी शान्तरस में स्थित हैं किन्तु

उनका शान्तरस दूसरे योगियों के शान्तरस की अपेक्षा विलक्षण प्रकार का है। शङ्करजी का शान्तरस दूसरे प्रकार के भावों से किसी प्रकार भी आक्षिप्त नहीं होता। इसी बात का प्रतिपादन करने के लिए यहाँ पर विरोधी रसों का उपादान किया गया है जिससे शङ्करजी के निर्वेद की ही पुष्टि होती है। यही बात 'समाधि के समय में' इस वाक्यांश के द्वारा व्यक्त की गई है। छठे उदाहरण 'दिन के समाप्त होने पर......कर रही है' में समस्त वाक्य भावी विप्रलम्भ शृंगारपरक ही है। इस प्रकार समकक्ष अनेक रसों के समावेश की कहीं बात ही नहीं उठती।

श्लेष के द्वारा जहाँ दो अर्थ होते हों और उन दोनों प्रतीयमान अर्थों का परस्पर उपमानोपमेय भाव हो वहाँ उपमान पक्ष तो अंग (गौण) होता है और उपमेय पक्ष अङ्गी (प्रधान) होता है। जहाँ पर उपमानोपमेय भाव न होकर स्वतन्त्र रूप से दो वाक्यार्थों का बोध होता है वहाँ पर अनेक अर्थों में तात्पर्य होते हुए भी वाक्यार्थ भेद से स्वतन्त्र रूप में दो अर्थ होते हैं और दोनों में पृथक्-पृथक् प्रधानता होती है। जैसे :—

श्लाघ्याशेषतनुं सुदर्शनकरः सर्वाङ्ग लीलाजित-
त्रैलोक्यां चरणारविन्द ललितेनाक्रान्तलोको हरिः।
बिभ्राणां मुखमिन्दु सुन्दररुचं चन्द्रात्म चक्षुर्दधत्
स्थाने यां स्वतनोरपश्यदधिकां सारुक्मिणीवोऽवतात्॥

'रुक्मिणीजी समस्त सुन्दर शरीरवाली हैं किन्तु कृष्ण भगवान् सुदर्शन कर (१—सुन्दर हाथवाले, २—सुदर्शन धारण करनेवाले) ही हैं। रुक्मिणी ने सभी अङ्गों की लीला से तीनों लोकों को जीत लिया है; किन्तु कृष्ण भगवान् ने चरणारविन्द के ललित (१—सौन्दर्य, २—गति) के द्वारा लोक का अतिक्रमण किया है। रुक्मिणीजी चन्द्र के समान प्रकाशमान सुन्दर मुख को धारण करनेवाली हैं किन्तु कृष्ण भगवान् चन्द्रात्मक चक्षु को ही धारण करते हैं। इस प्रकार जिन रुक्मिणीजी को भगवान् कृष्ण ने ही ठीक ही अपने शरीर से अधिक समझा वे रुक्मिणी आप सब लोगों की रक्षा करें।'

यहाँ पर श्लेष से दो अर्थों का बोध होता है। इस प्रकार कहीं पर भी रति इत्यादि के उपनिबन्ध में विरोध नहीं होता। अथवा जहाँ पर रति इत्यादि पदों का प्रयोग न किया गया हो वहाँ पर भी विभाव इत्यादि के सहकार से उन्हीं रति इत्यादि में तात्पर्य होता है और जहाँ पर रति इत्यादि पद श्रवणगोचर हो रहे हों वहाँ पर भी विभाव इत्यादि के सहकार से ही रति इत्यादि में तात्पर्य होता है।

स्थायी भावों के निम्नलिखित भेद होते हैं :—

रत्युत्साह जुगुप्साः क्रोधोहासः स्मयो भयं शोकः ।
शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ॥३५॥

[रति इत्यादि आठ स्थायी भाव होते हैं। कुछ लोग शम को भी स्थायी भाव मानते हैं। किन्तु नाट्य में इसकी पुष्टि नहीं होती।]

शान्तरस के विषय में विद्वानों में अनेक प्रकार का मतभेद पाया जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि--'शान्तरस (नाट्य में) होता ही नहीं; क्योंकि नाट्य के आचार्य ने न तो उसके विभाव इत्यादि का प्रतिपादन किया है और न उसका लक्षण ही बनाया है।' दूसरे लोग कहते हैं कि--'शान्तरस की सत्ता हो ही नहीं सकती; क्योंकि जो राग और द्वेष अनादि काल से प्रवाह रूप में चले आ रहे हैं उनका उच्छेदन सर्वथा असम्भव है।' कुछ और लोग कहते हैं कि--'शान्तरस में दो ही बातें प्रधान होती हैं एक तो संसार में काम क्रोध इत्यादि दोषों पर विजय प्राप्त करने का उत्साह और संसार को मलिन समझकर उसके प्रति घृणा। उत्साह का अन्तर्भाव वीररस में हो जाता है और घृणा का वीभत्स रस में। इस प्रकार शम को भी पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती।' इस विषय में मेरा कहना यह है कि मुझे इस झगड़े में पड़ने की आवश्यकता नहीं कि शम नामक स्थायी भाव होता है या नहीं। चाहे जो कोई सिद्धान्त माना जावे हम तो अभिनयात्मक नाटक इत्यादि में शम के स्थायी भाव का निषेध करते हैं। कारण यह है कि शम में सभी व्यापारों का विलय हो जाता है। अतएव उसका अभिनय हो ही नहीं सकता।

कुछ लोगों ने नागानन्द इत्यादि नाटकों में शम को स्थायी भाव माना है। किन्तु नागानन्द में प्रबन्ध की समाप्ति पर्यन्त मलयवती के अनुराग और अन्त में विद्याधरचक्रवर्तित्व की प्राप्ति का वर्णन किया गया है। यदि नागानन्द में शम को स्थायी भाव माना जावे तो उक्त मलवती के अनुराग और विद्याधर चक्रवर्तित्व की प्राप्ति से उसका विरोध आ पड़ेगा। ऐसा कभी नहीं होता कि एक ही अनुकार्य को विभाव मानकर उनके सहारे विषय के अनुराग और विराग दोनों प्राप्त हो सकें। अतएव मानना पड़ेगा कि नागानन्द में शम स्थायी भाव नहीं है किन्तु दयावीर का उत्साह ही स्थायी भाव है और उसी का अङ्ग शृङ्गाररस भी हो गया है। न तो उस (दयावीर के स्थायी भाव उत्साह) का अङ्गभूत शृङ्गाररस से ही विरोध है और न चक्रवर्तित्व प्राप्ति रूप फल से ही उसका विरोध हो सकता है। धीरोदात्त नायक के लक्षण लिखने के अवसर पर यह तो बतलाया ही जा चुका है कि 'सर्वत्र अभिलषित कार्य ही करना चाहिए' यह समझकर यदि कोई विजिगीषु परोपकार में लगा हुआ हो तो संयोगवश उसे फल भी मिल जाता है। अतएव नाट्य में आठ ही रस होते हैं।

यहाँ पर एक प्रश्न यह होता है :—

रसनाद्रसत्वयेतेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः।
निर्वेदा दिष्वपि तत्प्रकाममस्तीति तेऽपि रसाः ॥

'आचार्यों ने कहा है कि शृंगार इत्यादि को 'आस्वादन के कारण रस कहते हैं। यह बात निर्वेद इत्यादि में भी पाई जाती है। अतएव वे भी रस होते हैं।'

इस प्रकार जब अन्य भी रस हो सकते हैं तब आठ ही रस होते हैं यह कैसे कहा जा सकता है? इसका उत्तर यह है :—

निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम्।
वैस्यायैव तत्पोमवस्तेनाष्टौ स्थायिनोमताः ॥३६॥

[निर्वेद इत्यादि में ताद्रूप्य (स्थायी भाव का रूप) नहीं होता। अतएव वे अस्थायी भाव होते हैं। उनका आस्वादन हो ही किस प्रकार सकता है? उसका परिपोष केवल विरसता उत्पन्न करनेवाला होगा। अतएव स्थायी भाव आठ ही होते हैं।]

ताद्रूप्य का अर्थ है विरुद्ध या अविरुद्ध भावों से विच्छेद का न हो सकना। जिनमें यह गुण विद्यमान होता है वे ही स्थायी होते हैं। निर्वेद इत्यादि में यह बात नहीं होती। अतएव वे स्थायी भाव नहीं कहे जा सकते। उनको अस्थायी भाव कहते हैं। यदि चिन्ता इत्यादि अपने-अपने व्यभिचारी भावों के साथ रक्खा भी जावे और उनका परिपोष भी किया जावे तो भी उनसे केवल विरसता ही उत्पन्न होगी। कुछ लोगों का कथन है कि निर्वेद इत्यादि अस्थायी भाव इसलिए होते हैं कि उनका अवसान निष्फल होता है। किन्तु यदि यह बात मान ली जावे तो हास इत्यादि भी स्थायी भाव नहीं रहेंगे। क्योंकि उनका भी अवसान निष्फल ही होता है। यदि कहो कि हास इत्यादि का फल साक्षात् न होकर परम्परागत रूप में होता है तो परम्परागत रूप में तो निर्वेद इत्यादि का भी फल होता ही है। अतएव निष्फलता अस्थायित्व में प्रयोजक नहीं हो सकती किन्तु विरुद्ध या अविरुद्ध भावों से विच्छिन्न न होना ही स्थायित्व में प्रयोजक होता है। यह बात निर्वेद इत्यादि के विषय में नहीं कही जा सकती। इसीलिए उनको रस भी नहीं माना जा सकता। अतएव अस्थायी भाव होने के कारण ही निर्वेद इत्यादि रस नहीं हो सकते।

रस और स्थायी-भाव का काव्य से सम्बन्ध

यहाँ पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इन रसों और स्थायी भावों का काव्य से क्या सम्बन्ध है? इनका काव्य वाचक भाव सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि ये स्वशब्द से आवेदित नहीं होते। आशय यह है कि शृङ्गार इत्यादि

रसोंवाले काव्यों में शृङ्गार इत्यादि या रति इत्यादि शब्द सुनाई नहीं पड़ते जिससे यह कहा जा सके कि उनका परिपोष वाच्य होता है। जहाँ कहीं पर ये शब्द सुनाई भी पड़ते हैं वहाँ पर भी विभाव इत्यादि के द्वारा ही उनका आस्वादन होता है केवल शब्द के उपादान से ही उनका आस्वादन नहीं होने लगता। अतएव रस इत्यादि में स्वशब्द वाच्यता नहीं होती। (आशय यह है कि यदि कोई व्यक्ति केवल यह कह दे कि रावण को देखते ही राम को क्रोध आ गया तो क्रोध का किसी को तब तक आनन्द न आवेगा जब तक क्रोध की परिस्थितिओं और अनुभावों का वर्णन न किया जावे। अतएव रस स्वशब्द वाच्य नहीं होता।)

इसी प्रकार यहाँ पर लक्ष्यलक्षक भाव भी नहीं हो सकता। लक्ष्यलक्षक भाव वहीं पर होता है जहाँ सामान्य का प्रयोग किया जावे और विशेष की अवगति होवे। किन्तु यहाँ पर सामान्य रूप से अभिधायक रस इत्यादि का सर्वत्र प्रयोग नहीं होता अतएव इनका लक्ष्यलक्षक भाव भी नहीं हो सकता। इसी प्रकार यहाँ पर लक्षित लक्षणा भी नहीं हो सकती। लक्षित लक्षणा वहीं पर होती है जहाँ पर तीन शर्तें उपस्थित हों - (१) स्वार्थ बाध, (२) स्वार्थ सम्बन्ध और (३) रूढ़ि या प्रयोजन में कोई एक बात। जैसे यदि कोई कहे 'गङ्गा में घर' गङ्गा का वाच्यार्थ है धारा या प्रवाह। धारा में घर का बन सकना असंभव है। अतएव शब्द की गति स्खलित हो जाती है अर्थात् वाच्यार्थ में बाध उत्पन्न हो जाता है। तब गङ्गा शब्द वाच्यार्थ के नित्य सम्बन्धी तट को लक्षित कर देता है। यही स्वार्थ सम्बन्ध है। तट के स्थान पर गङ्गा शब्द के प्रयोग करने से शीतत्व और पावनत्व की प्रतीति होती है। यही प्रयोजन है। रस प्रकरण में भी यदि नायक (राम) इत्यादि शब्दों के अर्थ का बाध हो जावे तो लक्षणा हो सकती है। किन्तु यहाँ पर बाध इत्यादि होता नहीं। अतएव लक्षणा से रस इत्यादि दूसरे अर्थों का बोध हो ही किस प्रकार सकता है? कौन ऐसा विचारशील व्यक्ति होगा जो बिना ही किसी कारण या प्रयोजन के मुख्य के होते हुए भी उसके स्थान पर गौण का प्रयोग करे? अतएव 'बालक सिंह है' के समान गुणों के आधार पर होनेवाली गौणी लक्षणा भी यहाँ पर नहीं हो सकती।

दूसरी बात यह है कि यदि रस की अनुभूति केवल वाच्य वृत्ति से ही हो तो जो लोग रसिक नहीं हैं केवल वाच्य वाचक भाव में ही व्युत्पन्न हैं उनको भी रसास्वादन होने लगे। रस को हम काल्पनिक भी नहीं कह सकते। यदि रस काल्पनिक हों तो कल्पना करनेवालों को तो आस्वादन हो। एक नीति से सभी सहृदयों को एक सा रसास्वादन कभी न हो। (अतएव रसास्वादन के

अभिधा और लक्षणा के क्षेत्र से बाह्य होने के कारण) कतिपय विद्वान् व्यञ्जना नाम की एक नई ही वृत्ति मानते हैं जो अभिधा, लक्षणा और गौणी इन तीनों शब्द की कल्पित वृत्तियों से भिन्न होती है और जिसका क्षेत्र रस, वस्तु और अलङ्कार तीनों ही होते हैं।

इस बात को इस प्रकार समझिये–रस इत्यादि की प्रतिपत्ति विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव के द्वारा हुआ करती है। वह किसी भी प्रकार से वाच्य नहीं हो सकती। जैसे कुमार सम्भव में लिखा है :--

विवृण्वती शैल सुतापि भावमङ्गैः स्फुटद्बालकदम्बकल्पैः।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन॥

'शैलपुत्री पार्वतीजी भी फूले हुये बाल कदम्ब के समान अपने अङ्गों से अपने भाव को व्यक्त करती हुई अपने मुख को झुकाकर और नेत्रों को घुमाकर स्थित हो गईं। उस समय उनके मुख की सुन्दरता और अधिक बढ़ गई थी।'

यहाँ पर पार्वती के रूप में विभाव का वर्णन किया गया है जिसमें अनुरागजन्य अवस्था विशेष रूप अनुभाव का समावेश है। इन विभाव और अनुभाव के द्वारा श्रृंगार रस की प्रतीति उत्पन्न होती है जिसके लिए किसी शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। इसे श्रृंगार-व्यञ्जना कहते हैं। यही बात दूसरे रसों के विषय में भी समझनी चाहिए। केवल रस की ही व्यञ्जना नहीं होती किन्तु वस्तु की भी व्यञ्जना होती है। जैसे :--

भम धम्मिअ वीसद्धो सो सुणहो अज्ज मारिओ तेण।
गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण॥
[भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स श्वाद्य मारितस्तेन।
गोदावरी नदी कच्छ कुञ्ज वासिना दृप्त सिंहेन॥]

कोई नायिका अपने प्रियतम से गोदावरी के तट पर मिला करती है। वहाँ पर स्नान इत्यादि के लिए जानेवाले किसी धार्मिक की उपस्थिति से प्रेमलीला में विघ्न पड़ता है। वह धार्मिक प्रायः एक कुत्ते से डरा करता है। एक दिन उसे सुनाकर नायिका कह रही है—'हे धार्मिक अब तुम स्वच्छन्द होकर आनन्द से घूमो। आज उस कुत्ते को गोदावरी नदी के किनारे कुञ्ज में रहनेवाले एक उद्धतसिंह ने मार डाला।'

यहाँ पर वाच्यार्थ विधिपरक है कि 'तुम स्वच्छन्द घूमो' किन्तु व्यङ्ग्यार्थ निषेध परक है कि—'अब तुम वहाँ कभी मत जाना। अभी तक तो वहाँ कुत्ता ही था अब सिंह आ गया है।' यहाँ पर वस्तु व्यञ्जना है। यही बात अलङ्कार के विषय में भी कही जा सकती है।

उदाहरण :—

लावण्यकान्ति परिपूरित दिङ् मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः ॥

'हे चञ्चल और विशाल नेत्रोंवाली ! इस समय तुम्हारे मुख के मुस्कुराहट से युक्त होने पर सौन्दर्य और प्रकाश से दिशाओं का मुख परिपूर्ण हो रहा है। फिर भी जो कि समुद्र जरा भी क्षुब्ध नहीं हो रहा है इससे ज्ञात होता है कि स्पष्ट रूप में ही यह समुद्र जलराशि (जल की राशि या जड़ों की राशि) है। (जो तुम्हारी इस सुन्दर मुस्कुराहट को देख करके भी उससे प्रभावित नहीं होता वह अवश्य ही जड़ है। इसीलिए यह जलराशि कहा जाता है।)

इस उदाहरण में 'तन्वी का वदन चन्द्र-तुल्य है' इस उपमा की प्रतिपत्ति व्यञ्जकत्व के आधीन है।

यहाँ पर रस वस्तु और अलङ्कार की प्रतीति अर्थापत्तिजन्य नहीं कही जा सकती। अर्थापत्ति वहीं पर होती है जहाँ एक अर्थ अनुपन्न हो रहा हो। जैसे 'स्थूल देवदत्त दिन में नहीं खाता।' बिना भोजन के स्थूलता उत्पन्न ही नहीं होती इसी लिए अर्थापत्ति से रात्रि-भोजन का बोध हो जाता है। यदि यहाँ पर भी बिना रस इत्यादि की प्रतीति के वाक्य अनुपपन्न हो तब तो अर्थापत्ति हो सकती है। किन्तु अर्थ यहाँ पर अनुपपन्न नहीं होता। इसीलिए यहाँ पर अर्थापत्ति का विषय नहीं है। यहाँ पर रस इत्यादि वाक्य का अर्थ भी नहीं हो सकता क्योंकि यह तृतीय कक्षा का विषय है। इसको इस प्रकार समझिये—किसी वाक्य का अर्थ करने में तीन कक्षाएँ होती हैं। पहली कक्षा में तो पदों के अर्थ का बोध होता है जैसे उपर्युक्त वाक्य—'हे धार्मिक......मार डाला' में पहली कक्षा में पदार्थ का ज्ञान होता है। इसको अभिधा कहते हैं। इस कक्षा का अतिक्रमण कर दूसरी कक्षा में क्रिया और कारक के संसर्ग से वाक्यार्थ बोध होता है। जैसे उपर्युक्त उदाहरण में 'हे धार्मिक तुम स्वच्छन्द घूमा करो' इस विधि का बोध होता है। रस का भी अतिक्रमण कर तृतीय कक्षा में निषेध अर्थ का बोध होता है कि—'अब तुम वहाँ कभी मत जाना।' यही व्यङ्ग्य अर्थ है। इसके लिए व्यञ्जना नामक एक पृथक् शक्ति की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार द्वितीय कक्षा में निषेध का बोध न हो सकने के कारण व्यङ्ग्यार्थ वाक्यार्थ नहीं हो सकता। यहाँ पर व्यञ्जना-वृत्ति का अवभास स्पष्ट रूप में हो रहा है।

(प्रश्न) यह आप नहीं कह सकते कि वाक्यार्थ का विषय तृतीय कक्षा में

निकलनेवाला अर्थ नहीं होता। ऐसे वाक्यों में जिनका तात्पर्य ऐसे अर्थों में होता है जिनका प्रगट करनेवाला कोई भी शब्द वाक्य में उपस्थित न हो। उन वाक्यों के अर्थ की तृतीय कक्षा विषयता होती ही है। उदाहरण के लिए यदि पिता अपने पुत्र से कहे 'विष खा लो' तो इस वाक्य का तात्पर्य यह होगा कि—'विष खा लेना किन्तु शत्रु के यहाँ न खाना।' यह अर्थ तृतीय कक्षा में निकलता है क्योंकि वाक्य में कोई भी शब्द निषेधपरक नहीं है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि क्यार्थ भी तृतीय कक्षा-विषयक होता अवश्यर्थ है। इस निषेध परक अर्थ के लिए आप ध्वनि शब्द का प्रयोग नहीं कर सकते क्योंकि आपके मत में ध्वनि सर्वदा तात्पर्य से भिन्न होती है। (उत्तर) जब स्वार्थ की परिसमाप्ति द्वितीय कक्षा में न हो तब तृतीय कक्षा होती ही नहीं। तृतीय कक्षा तो वहीं पर होती है जहाँ पर द्वितीय कक्षा में वाक्यार्थ की परिसमाप्ति के बाद एक नया ही अर्थ निकल आता है। उपर्युक्त उदाहरण 'विष-खा लो' में द्वितीय कक्षा में ही निषेध की प्रतीति हो जाती है। कारण यह है कि कहने-वाला तो पिता है और नियोज्य पुत्र है। वह (पिता) अपने पुत्र को विष खाने की आज्ञा कैसे दे सकता है? इस प्रकार क्रिया और कर्मकारक का सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता। अतएव यहाँ पर द्वितीय कोटि में ही निषेधपरक अर्थ हो जाता है। तृतीय कोटि के लिए व्यञ्जना मानना अनिवार्य है।

रसवती रचना में द्वितीय कक्षा में नायक नायिका रूप विभाव इत्यादि की ही प्रतीति होती है। उसमें रस बोध नहीं होता। रस बोध तो केवल तृतीय कक्षा का विषय है। यही बात निम्नलिखित कारिकाओं से प्रगट होती है :—

अप्रतिष्ठमविश्रान्तं स्वार्थे यत्परतामिदम्।
वाक्यं विगाहते तत्र न्याय्या तत्परताऽस्यसा॥

'यदि वाक्य अपने अर्थ में प्रतिष्ठित न हो रहा हो और वाक्यार्थ पर्यवसान भी स्वार्थ में न हो तब वह अपने अर्थ की पूर्ति के लिए जिस अर्थपरक हो जाता है, उस वाक्य को उसी अर्थ परक मानना उचित है। अर्थात् उस वाक्य का वही अर्थ मानना चाहिए।'

जैसे 'विष खालो' वाक्य में अर्थ स्वमात्र पर्यवसित नहीं होता है अतएव उसका पर्यवसान 'शत्रु के घर में भोजन न करना भले ही विष खा लेना' इस अर्थ में मान लिया जाता है।

यत्र तु स्वार्थे विश्रान्तं प्रतिष्ठां तावदागतम्।
तत्प्रसर्पति तत्र स्यात्सर्वत्रध्वनिना स्थितिः॥

किन्तु जहाँ पर अर्थ का पर्यवसान स्वार्थ वाक्यार्थ में ही हो जावे और अर्थ स्वमात्र प्रतिष्ठित भी हो जावे। इसके बाद किसी दूसरे अर्थ को व्यक्त करने के

लिए आगे बढ़े वहाँ पर दूसरे अर्थ की प्रतिष्ठा ध्वनि के द्वारा ही होती है। यही सिद्धान्त है।

इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि रस सर्वदा व्यङ्ग्य ही होते हैं। वस्तु और अलङ्कार कभी वाच्य भी होते हैं और कभी व्यङ्ग्य भी। व्यङ्ग्य अर्थ के होने पर भी जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की ही प्रधान रूप में प्रतीति हो रही हो वहीं पर ध्वनि होती है। जहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ गौण हो वहाँ पर गुणीभूत व्यङ्ग्य ही कहा जाता है। यही बात निम्नलिखित कारिकाओं में कही गई है :—

यत्रार्थःशब्दा वा यमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थौ।
व्यक्तः काव्य विशेषः सध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।

'जहाँ पर शब्द या अर्थ अपने वाक्यार्थ को गौण बना कर किसी दूसरे अर्थ को व्यक्त करें उस विशेष प्रकार के काव्य को ध्वनि कहते हैं।'

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्न लङ्कारो रसादिरिति मे मतिः॥

'दूसरे स्थान पर जहाँ वाक्यार्थ प्रधान हो और रस इत्यादि गौण हो जावें उस काव्य में रस इत्यादि अलङ्कार कहे जाते हैं पर मेरा मत है।' जैसे :—

उपोढरागेण विलोल तारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरां शुकंतया पुरोऽपि रागाद्गलितं न लक्षितम्॥

'परिवृद्ध राग से परिपूर्ण चन्द्र ने विलोल ताराओंवाले रजनी के मुख को इस प्रकार पकड़ लिया कि उससे ऊपर डाला हुआ निमिराशुंक पुरतः गलित हुआ भी लक्षित न किया जा सका।'

यहाँ पर राग इत्यादि शब्दों से नायक नायिका के व्यवहार की प्रतीति होती है। अतएव यहाँ पर समासोक्ति अलङ्कार है। इसी प्रकार दूसरे अलङ्कारों के विषय में भी समझना चाहिए। वह ध्वनि दो प्रकार की होती है। (१) विवक्षित वाच्य और (२) अविवक्षित वाच्य। विवक्षित वाच्य के दो भेद हैं। (१) असंलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य और (२) संलक्ष्य क्रय व्यङ्ग्य। अविवक्षित वाच्य के भी दो भेद हैं। (१) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य और (२) अर्थान्तर सङ्क्रमित वाच्य। जब रस इत्यादि की प्रतीति प्रधान रूप में हो तो असंलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य ध्वनि होती है और जब रस इत्यादि की प्रतीति गौण रूप में होती है तो वहाँ पर रसवत् अलङ्कार होता है। यही व्यञ्जना वृत्ति का सारांश है।

इस विषय में मेरा उत्तर यह है :—

वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायी भावस्तथेतरैः॥३७॥

[जिस प्रकार वाच्य क्रिया अथवा प्रकरण इत्यादि के कारण बुद्धिस्थ

क्रिया कारकों से युक्त होकर वाक्य का अर्थ कहलाती है उसी प्रकार स्थायी भाव भी विभाव इत्यादि के आश्रय से कहीं वाच्य और कहीं बुद्धिस्थ होकर वाक्यार्थ कहलाता है।]

आशय यह है कि लौकिक वाक्यों में कहीं तो हम क्रिया को सुनते हैं जैसे--'गाय लाओ' इत्यादि वाक्यों में 'लाओ' क्रिया सुनाई पड़ रही है। कहीं-कहीं क्रिया सुनाई नहीं पड़ती जैसे 'दरवाजा, दरवाजा' कहने से 'बन्द करो' का अर्थ स्वयं समझ लिया जाता है 'बन्द करो'।

क्रिया का उपादान नहीं किया गया है। इस प्रकार यह सिद्धान्त ठहरता है कि चाहे क्रिया उपादान वाच्य-वृत्ति में हुआ हो अथवा उसका उपादान शब्द के न हुआ हो प्रकरण इत्यादि का आश्रय लेकर बुद्धि में ही उसका सन्निवेश कर लिया गया हो, प्रत्येक अवस्था में कारकों के द्वारा उपचय को प्राप्त कराई हुई क्रिया ही वाक्य का अर्थ होती है। इसी प्रकार काव्यों में भी कहीं तो स्थायी भाव का साक्षात् उपादान होता है जैसे--'नवोढा प्रियतमा मेरे हृदय में प्रेम उत्पन्न कर रही है' यहाँ पर प्रेम का साक्षात् उपादान किया गया है और कहीं-कहीं उसका साक्षात् उपादान नहीं होता केवल निश्चित रूप से विभाव इत्यादि का उपादान ही होता है। किन्तु विभाव इत्यादि बिना स्थायी-भाव के हो ही नहीं सकते। इस प्रकार प्रकरण इत्यादि का आश्रय लेकर साक्षात् किसी भावक (रसिक) के चित्त में विपरिवर्तनशील (सञ्चरणशील) होकर भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा प्रगट किये हुए अपने-अपने विभाव अनुभाव और सञ्चारी भावों के द्वारा संस्कार परम्परा से वह स्थायीभाव अत्यन्त प्रौढ़ हो जाता है। इस प्रकार वह स्थायीभाव वाक्यार्थ ही होता है।

यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि शब्दों के अर्थ को मिलाकर ही वाक्यार्थ बनता है। जो रति इत्यादि स्थायीभाव शब्द का अर्थ नहीं हैं वे वाक्य का अर्थ कैसे हो सकते हैं ? इसका उत्तर यह है कि तात्पर्य शक्ति का पर्यवसान सर्वदा कार्य में होता है। इसको इस प्रकार समझिए—चाहे कोई वाक्य पौरुषेय हो चाहे अपौरुषेय हो, सभी वाक्य कार्यपरक ही होते हैं। यदि वाक्यों को कार्यपरक न माना जावे तो उन वाक्यों का प्रयोग ही व्यर्थ हो जावेगा और वे वाक्य पागलों की बकवास मात्र माने जावेंगे। अब प्रश्न यह होता है कि काव्य के शब्दों में प्रयोक्ता (कवि) और प्रयोज्य (रसिक) की प्रवृत्ति क्यों होती है ? जब काव्य के शब्द होते हैं तब अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है और जब काव्य के शब्द नहीं होते अलौकिक सुखास्वाद की प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक से यह सिद्ध हो जाता है कि अलौकिक आनन्द की प्राप्ति ही काव्य वाक्यों का कार्य होती है। कारण यह है कि

काव्य शब्दों की प्रवृत्ति का विषय रस (स्थायीभाव) और विभाव इत्यादि ही होते हैं। विभाव इत्यादि प्रतिपादक होते हैं और रस इत्यादि प्रतिपाद्य होते हैं। इनसे भिन्न काव्य वाक्यों के उपादान का कोई और कारण ही उपलब्ध नहीं होता। अतएव यह सिद्ध हो जाता है कि काव्य वाक्यों से उत्पन्न होनेवाले अलौकिक आनन्द की उत्पत्ति में निमित्त वह स्थायीभाव ही होता है जिसका संसर्ग विभाव इत्यादि के साथ हो। जब यह सिद्ध हो गया कि अलौकिक आनन्द की प्राप्ति ही काव्य वाक्यों का एकमात्र प्रयोजन है तब यह स्वभावतः सिद्ध हो जाता है कि काव्य की अभिधाशक्ति भिन्न-भिन्न रसों से आकृष्ट होकर उन रसों के लिए अपेक्षित विभाव इत्यादि का प्रतिपादन करती है और अन्त में उनका पर्यवसान रस में हुआ करता है। विभाव इत्यादि तो पदार्थ (शब्दार्थ) स्थानीय होते हैं और रस वाक्यार्थ होता है। इस प्रकार लौकिक वाक्य तो क्रियापरक होते हैं किन्तु काव्य वाक्य जिस रस और भाव की प्रतीति कराते हैं तत्परक ही होते हैं। यही इन दोनों लौकिक और काव्यगत वाक्यों में अन्तर होता है।

इस विषय में कोई यह कह सकता है कि जिस प्रकार गाना इत्यादि सुख-जनक तो होता है किन्तु उसमें वाच्य वाचक का उपयोग नहीं होता उसी प्रकार काव्य की रसजनकता स्वीकार करते हुए भी उसमें वाच्य वाचक के उपयोग को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। इस विषय में मुझे यही कहना है कि काव्यानन्द की अनुभूति उन्हीं व्यक्तियों को होती है जो विभाव इत्यादि विशेष सामग्री को भी जानते हों और उस रस के योग्य भावना भी उनके अन्तःकरण में विद्यमान हो। बिना वाच्य वाचकभाव का ज्ञान हुए विभाव इत्यादि सामग्री का परिज्ञान हो ही नहीं सकता। यही रसानुभूति में वाच्य वाचक भाव के ज्ञान का उपयोग है। इस प्रकार इस प्रश्न का भी उत्तर हो ही जाता है कि रसिकों को ही रसानुभूति क्यों होती है सबको क्यों नहीं होती। (इस दोष का भी निराकरण हो गया कि रसानुभूति के लिए वाच्य-वृत्ति स्वीकार करने पर अरसिकों को भी रसानुभूति होने लगेगी।) जब वाक्यार्थ का निरूपण इस प्रकार कर दिया जाता है तब समस्त वाक्यार्थ की अवगति अभिधा शक्ति के द्वारा ही हो जाती है। उसके लिए व्यञ्जना नामक पृथक् वृत्ति का मानना एक व्यर्थ का प्रयास है। यही सब बातें मैंने अपने काव्य निर्णय में इस प्रकार लिखी हैं :—

तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्यनध्वनिः।
किमुक्तंस्यादश्रुताथ तात्पर्येऽन्योक्ति रूपिणि ॥१॥

'व्यङ्यार्थ तात्पर्य से भिन्न नहीं होता, अतएव उसे हम ध्वनि नहीं कह

सकते। (यहाँ पर ध्वनि वादी यह कह सकता है कि) आप अन्योक्ति के विषय में क्या कहेंगे जिसके अर्थ का तात्पर्य सुना ही नहीं जाता। (यदि किसी वृक्ष पर अन्योक्ति की गई हो तो उसका तात्पर्य हो ही किस प्रकार सकता है? तात्पर्य वक्ता की इच्छा को कहते हैं। वृक्ष इत्यादि की इच्छा हो ही नहीं सकती)।'

विषं भक्षय पूर्वो यश्चैवं पर शुता दिषु।
प्रसह्यते प्रधानत्वाद्ध्वनित्वं केनवार्यते ॥२॥

'यदि एक व्यक्ति (पिता) दूसरे व्यक्ति पुत्र इत्यादि से कहे कि 'विष खालो' तो उससे निकलनेवाला दूसरा अर्थ 'शत्रु के घर में न खाना' प्रधान होने के कारण ध्वनि कहा जावेगा। इसका निराकरण आप कैसे करेंगे।'

ध्वनिश्चेत्स्वार्थ विश्रान्तं वाक्य मर्थान्तराश्रयम्।
तत्परत्वं त्वविश्रान्तौ तत्र विश्रान्त्यसम्भवात् ॥३॥

'(अतएव यह मानना चाहिए) कि यदि वाक्यार्थ स्वमात्र विश्रान्त हो जावे तब जो बाद में अर्थ निकलता है वह ध्वनि होती है। यदि वाक्यार्थ की परिसमाप्ति होने के पहले ही दूसरा अर्थ निकले तो वह तत्परक होकर तात्पर्य होता है। (यह है ध्वनिवादियों का कथन। इस पर मेरा उत्तर यह है) ऐसा नहीं होता। क्योंकि जब तक पूर्ण अभिप्राय नहीं निकल आता तब तक वाक्यार्थ की विश्रान्ति असम्भव है।'

एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किंकृतम्।
यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्य न तुलाधृतम् ॥४॥

'तात्पर्य की विश्रान्ति किसी नियत स्थान तक ही होती है (बाद का अर्थ व्यङ्गय होता है) इसमें नियम कौन बनायेगा। तात्पर्य तराजू पर तौला हुआ तो होता नहीं कि इतना ही हो सकता है। उसका प्रसार वहाँ तक होता है जहाँ तक पूर्ण कार्यपरता न सिद्ध हो जावे।'

भ्रमधार्मिक विश्रब्धमितिभ्रमिकृतास्पदे।
निर्व्यावृत्ति कथं वाक्यं निषेधमुप सर्पति ॥५॥

ध्वनिवादी कहता है—'हे धार्मिक! स्वच्छन्द होकर घूमो' (दे० पृ०…) इस वाक्य में भ्रमण ही अपना पूरा स्थान बनाये हुए है। इसमें व्यावर्तन (निषेध) परक कोई शब्द है ही नहीं। फिर यह निषेध तक कैसे जावेगा।

प्रतिपाद्यस्यविश्रान्ति रपेक्षापूरणाद्यदि।
वक्तुर्विवक्षिताप्राप्तेरविश्रान्ति र्नवा कथम् ॥६॥

ध्वनिविरोधी उत्तर दे रहा है—'(हे धार्मिक स्वच्छन्द होकर घूमो' इस वाक्य में) जिससे कहा गया है उसकी अपेक्षा तो विधिपरक अर्थ से पूर्ण हो गई किन्तु वक्ता के तात्पर्य की पूर्ति तो नहीं हुई। यदि प्रतिपाद्य की अपेक्षा-पूर्ति

से वाक्यार्थ की विश्रान्ति मानी जाती है तो वक्ता की विवक्षा के पूर्ण न होने से अविश्रान्ति क्यों नहीं मानी जाती ?' (आशय यह है कि श्रोता की अपेक्षा पूर्ति विधिपरक अर्थ में हो जाती, इसलिए निषेधपरक अर्थ को आप व्यङ्ग्य अर्थ कहते हैं। इसके प्रतिकूल वक्ता की इच्छा की पूर्ति निषेधपरक अर्थ में ही होती है अतएव निषेध वाक्यार्थ क्यों नहीं माना जाता ?)

पौरषेयस्य वाक्यस्य विवक्षा परतन्त्रता।
वक्त्रभिप्रेततात्पर्यमतः काव्यस्य युज्यते ॥७॥

'पुरुष के कहे हुए काव्य इत्यादि के वाक्य वक्ता की कथनेच्छा के आधीन होते हैं। अतएव काव्य का तात्पर्य वही होगा जो वक्ता को अभीष्ट हो।' (आशय यह है कि वक्ता जितना भी आशय व्यक्त करना चाहता है वह सब अभिधावृत्ति में ही आ जाता है।)

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि रस इत्यादि का काव्य से व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव सम्बन्ध नहीं है किन्तु भाव्य भावक सम्बन्ध है। काव्य भावक होता है और रस भाव्य होते हैं। रसिक व्यक्तियों में वे रस स्वतः होते ही हैं किन्तु विभाव इत्यादि से युक्त काव्य के द्वारा वे भावित किये जाते हैं अर्थात् उनकी भावना उत्पन्न की जाती है।

यहाँ पर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि जब भाव्य भावक सम्बन्ध कहीं अन्यत्र किसी दूसरे शब्द में नहीं होता तो काव्य में भी वैसा ही होना चाहिए। इसका एक तो उत्तर यह है कि मीमांसकों ने क्रिया के लिए भावना शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार उन लोगों ने शब्द और अर्थ का भाव्य भावक सम्बन्ध स्वीकार ही कर लिया है। उदाहरण के लिए याग इत्यादि क्रिया भावक होती है और स्वर्ग भाव्य होता है। दूसरी बात यह है कि अन्यत्र भले ही भाव्य भावक सम्बन्ध न हो किन्तु काव्य में तो यह सम्बन्ध होता ही है। क्योंकि काव्य में 'जहाँ रस की भावना होती है वहाँ रस का भावक शब्द होता है' और इस अन्वय से और 'जहाँ रस भावक शब्द नहीं होता वहाँ रस की भावना भी नहीं होती' इस व्यतिरेक से भाव्य भावक सम्बन्ध का अवगमन हो जाता है। यही बात निम्नलिखित कारिका में कही गई है :—

भावाभिनय सम्बन्धान् भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः॥

चूँकि भाव के अभिनय से या भाव और अभिनय से सम्बन्ध रखनेवाले इन रसों को भावित कहते हैं इसलिए नाट्य के प्रयोक्ता लोगों को इनको भाव 'समझना चाहिए।'

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि जिन पदों की जिन अर्थों में शक्ति का ग्रहण

होता है उन पदों के द्वारा उन्हीं अर्थों की प्रतिपत्ति होती है ।स्थायी भाव इत्यादि की प्रतिपत्ति ऐसे शब्दों से किस प्रकार हो सकती है जिनसे उनके सम्बन्ध का ग्रहण ही नहीं हुआ है ? इसका उत्तर यह है कि लोक में विशेष प्रकार की चेष्टाओं युक्त स्त्री-पुरुषों में रीति इत्यादि भावना की निश्चित उपस्थिति पाई जाती है। जब काव्य में भी उन्हीं रति इत्यादि भावों से अवश्य सम्बन्ध रखनेवाली चेष्टा इत्यादि के प्रतिपादक शब्द सुने जाते हैं तब अभिधेय का अवश्य सम्बन्ध होने के कारण लक्षणा वृत्ति से रति इत्यादि की प्रतीति होती है। काव्य का अर्थ किस प्रकार रस को भावित करता है यह आगे चलकर बतलाया जावेगा।

रस

रसः स एव स्वाद्यत्वाद्रसिकस्यैव वर्तनात्।
नानुकार्यस्यवृत्तत्वात् काव्यस्यातत्परत्वतः ॥३८॥

[उसी स्थायीभाव को रस कहते हैं क्योंकि एक तो उसका रस या स्वाद लिया जाता है दूसरे वह रसिक के ही अन्तःकरण में रहता है; अनुकार्य के अन्दर नहीं रहता क्योंकि वह हो चुका होता है और तत्परक होता भी नहीं ।]

आशय यह है कि जब स्थायीभाव का व्यर्थ के द्वारा उपप्लावित (उद्भावित) किया जाता है और रसिक के अन्तःकरण में ही रहता है तब उसे रस कहते हैं। उसका स्वाद लिया जाता है अर्थात् वह स्थायी भाव निर्भरानन्दसवित् रूप हो जाता है। 'रस रसिक में ही रहता है अनुकार्य में नहीं' यह कहने का कारण यह है कि रसिक तो वर्तमान होता है, अतएव उसमें रस की उपस्थिति संभव हो सकती है। अनुकार्य राम इत्यादि वर्तमान नहीं होते बीत चुके होते हैं। अतएव अनुकार्यगत रस नहीं माना जा सकता।

यहाँ पर यह पूछा जा सकता है कि भर्तृहरि के अनुसार शब्दों से ही इनके रूपों का उपाधान होता है; अतएव वर्तमान न होते हुए भी राम इत्यादि का वर्तमान रूप में होना अभीष्ट ही है। इसका उत्तर यह है कि उनके अवभासन का अनुभव हम लोगों को नहीं होता। अतएव शब्द के द्वारा उनके रूप का आधान होने पर भी आस्वादन के विषय में उनका होना न होना एक सा है। किन्तु विभाव के रूप में राम इत्यादि का वर्तमान रूप में अवभासन अभीष्ट ही है। रस को अनुकार्यगत न मानने में दूसरा तर्क यह है कि कवि लोग राम इत्यादि के अन्दर रस को उत्पन्न करने के लिए काव्य रचना नहीं करते किन्तु सहृदयों को आनन्द देने के लिए ही काव्य-रचना करते हैं। वह रस समस्त व्यक्तियों के लिए स्वसंबंध ही होता है। अनुकार्यगत रस न मानने के दूसरे कारण ये हैं :—

दृष्टुः प्रतीति व्रीडेर्ष्यारागद्वेष प्रसङ्गतः ।
लौकिकस्य स्वरमणी संयुक्तस्येव दर्शनात् ॥३६॥

[जिस प्रकार किसी लौकिक व्यक्ति को उसकी रमणी के साथ देखनेवाले व्यक्ति के लिए प्रतीति, व्रीडा, ईर्ष्या, राग और द्वेष इत्यादि उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार काव्य में भी होने लगेंगे ।]

आशय यह है कि यदि रस अनुकार्य गत माना जावेगा तो वह रस तो राम इत्यादि का होगा । सामाजिक का उससे कोई भी सम्बन्ध स्थापित न हो सकेगा । इस प्रकार सामाजिक को उस रस में किसी प्रकार का भी आनन्द न आवेगा जिस प्रकार एक तटस्थ दर्शक को किसी सपत्नीक व्यक्ति के देखने पर किसी प्रकार का आनन्द नहीं आता । जब हम किसी तटस्थ व्यक्ति को उसकी रमणी के साथ देखते हैं तब हमें या तो प्रतीति मात्र होकर रह जाती है कि यह अपनी पत्नी के साथ है या यदि दर्शक सज्जन हो तो लज्जा का अनुभव होता है अथवा यदि वह दुष्ट हुआ तो ईर्ष्या हो सकती है कि इसे यह सुन्दरी खूब मिल गई; उस नायिका से प्रेम भी हो सकता है और उसके अपहरण की कामना भी हो सकती है । इसी प्रकार राम के प्रेम को तटस्थ दर्शक की भाँति दर्शन करनेवाले व्यक्ति के लिए भी या तो प्रतीति मात्र होकर रह जावेगी या लज्जा उत्पन्न होगी अथवा ईर्ष्या, अनुराग या अपहरण की इच्छा इत्यादि में कोई भाव उत्पन्न होगा । किन्तु ऐसा नहीं होता । अतएव रस अनुकार्यगत नहीं माने जा सकते । यह भी एक कारण है कि रस व्यङ्ग्या नहीं होते । व्यङ्ग्य वही वस्तु होती है जिसकी सत्ता अन्य प्रकार से सिद्ध हो । जैसे दीपक उसी घड़े को व्यक्त कर सकता है जो पहले से मौजूद हो । ऐसा नहीं होता कि अभिव्यञ्जक मानी जानेवाली वस्तुएँ अभिव्यक्त होनेवाली वस्तुओं को स्वयं बनाकर प्रकाशित करें । रस की सत्ता पहले से राम इत्यादि में नहीं मानी जाती अतएव विभाव इत्यादि के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती । अतएव यह कहना पड़ेगा कि प्रेक्षकों में विभाव इत्यादि के द्वारा रस की भावना उत्पन्न की जाती है ।

यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि सामाजिकों में जो रस रहता है उसका विभाव कौन होता है ? यदि सीता इत्यादि उसका विभाव मानी जावें तो सीता जैसी देवियों (जगन्माताओं) के प्रति एक साधारण व्यक्ति की रति भावना हो ही कैसे सकती है ? वे देवियाँ हमारे प्रेम का आलम्बन कैसे हो सकती हैं ? इसका उत्तर यह है :—

धीरोदात्ताद्यवस्थानां रामादिः प्रतिपादकः ।
विभावयति रत्यादीन् स्वदन्ते रसिकस्यते ॥४०॥

[धीरोदात्त इत्यादि अवस्थाओं का अभिनय करनेवाले राम इत्यादि की रति इत्यादि को विभावित करते हैं जिससे रसिक लोगों को उनमें आनन्द आता है।]

आशय यह है कि कवि लोग योगियों के समान ध्यानमुद्रा से ध्यान करके केवल राम इत्यादि से ही संबंध रखनेवाली उनकी दशा को प्रबंधवद्ध नहीं करते किन्तु वे ऐसी धीरोदात्त इत्यादि अवस्थों का उपनिबन्धन करते हैं जो सर्वलोक साधारण होती हैं; कवि लोग अपनी कल्पना के बल पर ही उन सर्वसाधारण अवस्थाओं की निकटता प्राप्त कर लेते हैं और वे अवस्थाएँ किसी एक अभिनेय राजा इत्यादि को आश्रय देनेवाली होती हैं। अर्थात् निबन्धन की सुविधा के लिए राजा इत्यादि का आश्रय ले लिया जाता है।

ता एव च परित्यक्त विशेषा रस हेतवः।

[वे ही अवस्थाएँ अपनी विशेषताओं को छोड़कर रस का हेतु बनती हैं।]

आशय यह है कि जिस समय हम अभिनय देखते हैं उस समय यद्यपि मालूम तो यह पड़ता है कि सीता को देख रहे हैं किन्तु रचना कौशल से सीता अपने सीतात्व (जनक पुत्रीत्व) अंश को छोड़ देती हैं और एक सर्वसाधारण प्रेमिका का रूप धारण कर लेती हैं। उस समय वे स्त्रीमात्र की वाचक हो जाती हैं। अतएव यह दोष नहीं रहता कि सीता जैसी जगत्पूज्य देवियाँ हमारे प्रेम का आश्रय कैसे बन सकती हैं। अब प्रश्न यह होता है कि फिर सीता इत्यादि के उपादान की ही क्या आवश्यकता है।

इसका उत्तर यह है :—

क्रीडतां मृण्मयैर्यद्वद्बालानां द्विरदादिभिः ॥४१॥

स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छ्रोतृणामर्जुनादिभिः।

[जिस प्रकार मिट्टी इत्यादि के बने हुए हाथी इत्यादि से खेलनेवाले बालकों को अपने उत्साह से आनन्द आया करता है उसी प्रकार अर्जुन इत्यादि से सुननेवालों को आनन्द आता है।]

यहाँ पर आशय यह है कि जिस प्रकार लौकिक शृंगार इत्यादि स्त्री इत्यादि विभावों की अपेक्षा होती है वैसी काव्य या नाट्य में नहीं होती; अपितु नाट्य रस लौकिक रसों से विलक्षण होते हैं। जैसा कि कहा गया है कि 'आठ नाट्य रस होते हैं।' (अर्जुन इत्यादि के साथ श्रोताओं को अपने ही उत्साह का आनन्द आया करता है इसीलिए रस परिपाक के लिए अर्जुन इत्यादि का उपादान होता है। काव्य में लौकिक रस की अपेक्षा विलक्षणता होती है इसीलिए नायिका इत्यादि की अपनी ही प्रेमिका के रूप में उपस्थिति होती है।)

काव्यार्थभावनास्वादो नर्तकस्य न वार्यते ॥४२॥

[नर्तक की काव्यार्थ भावना के आस्वाद का निषेध नहीं किया जाता।]

आशय यह है कि नर्तक के हृदय में लौकिक रस से रसवत्ता उत्पन्न होती है और वह लौकिक रस के आलम्बन नायिका इत्यादि को उपभोग्य रूप में अपनी प्रेमिका इत्यादि ही समझ सकता है। किन्तु यदि उसमें काव्य के अर्थ को भावित करने की शक्ति (सहृदयता और रसिकता) हो तो वह भी हम लोगों के समान अभिनय का रसास्वादन कर सकता है। इसके प्रतिकूल यदि वह सहृदय नहीं है तो उसके अभिनय का फल केवल दर्शकों का अनुरञ्जन करना होगा, उसे उस अभिनय का कोई भी आनन्द प्राप्त न हो सकेगा।

काव्य से आनन्दानुभूति की प्रक्रिया

अब यह बतलाया जा रहा है कि काव्य से किस प्रकार आनन्द की उत्पत्ति होती है और उसका स्वरूप क्या होता है :—

स्वादः काव्यार्थ सम्भेदादात्मानन्द समुद्भवः।
विकाशविस्तर क्षोभविक्षेपैः सचतुर्विधः ॥४३॥

[काव्यार्थ के बल पर होनेवाले सम्भेद से जो सहृदय व्यक्ति के चित्त में आत्मानन्द की अनुभूति होती है उसे आस्वाद या काव्यानन्द कहते हैं। इसके चार भेद होते हैं—विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप।]

विभाव इत्यादि से संसृष्ट स्थायी भाव ही काव्य का अर्थ होता है उसके बल पर सहृदय सामाजिक का चित्त मुख्य राम इत्यादि के चित्त से मिल जाता है और यह विभाग ही नष्ट हो जाता है कि अमुक वस्तु मेरी है या उसकी है। उस समय उस अन्तरात्मा के एकीकरण से जो प्रबलतर आनन्द की उत्पत्ति होती है उसी को काव्य का आनन्द कहते हैं। यद्यपि वह काव्य का आनन्द सभी रसों में समान होता है किन्तु फिर भी प्रत्येक रस अपने लिए नियत कारण सामग्री से ही उत्पन्न होता है। अर्थात् विभाव इत्यादि कारण सामग्री सब रसों की पृथक् पृथक् होती है। इसी कारण सामग्री के विभेद के आधार पर चित्तभूमि के भी चार भेद होते हैं विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप। इन्हीं चित्तवृत्तियों के आधार पर रसों के भेद किये जाते हैं जिसका क्रम इस प्रकार है :—

श्रृंगार वीर वीभत्स रौद्रेषु मनसः क्रमात्।
हास्याद्भुत भयोत्कर्ष करुणानां त एव हि ॥४४॥
अतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम्।

[वे (विकास, विस्तार क्षोभ और विक्षेप रूप चित्तवृत्तियाँ) ही क्रमशः श्रृङ्गार, वीर, वीभत्स और रौद्र रसों में मन की दशायें होती हैं और वे ही हास्य

अद्भुत भय की अधिकता और करुण रसों की प्रकृति होती हैं। इसीलिए यह कहा जाता है कि हास्य इत्यादि शृंगार इत्यादि से उत्पन्न होते हैं और इसीलिए अवधारण की उपपत्ति भी हो जाती है।]

आशय यह है कि शृंगार में चित्त का विकास होता है; वीर में विस्तार होता है; वीभत्स में क्षोभ होता है और रौद्र में विक्षेप होता है। यद्यपि हास्य, अद्भुत, भयानक और वीभत्स रसों के परिपोष की सामग्री अलग-अलग नियत होती है और शृंगार, इत्यादि की सामग्री से उसमें भेद होता है किन्तु हास्य इत्यादि रसों में भी चित्तवृत्ति के विकास इत्यादि रूप ही होते हैं। चित्तवृत्तियाँ चार ही प्रकार ही होती हैं इसीलिए यह बात कही गई है :—

'शृंगाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्ति र्बीभत्साच्च' भयानकः॥

'शृंगार से हास्य रस उत्पन्न होता है; रौद्र से करुण रस उत्पन्न होता है, वीर से अद्भुत की उत्पत्ति होती है और वीभत्स से भयानक की उत्पत्ति होती है।'

यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि यह जो हेतुहेतुमद्भाव दिखलाया गया है यह संभेद (सहृदय और अनुकार्य की चित्तवृत्ति की एकता) को मान कर ही किया गया है; कार्य कारण भाव को मान कर नहीं; क्योंकि कार्य कारण भाव सामग्री तो सबकी पृथक् पृथक् होती है। यहाँ पर आशय केवल इतना ही है कि हास्य इत्यादि में शृङ्गार इत्यादि की जैसी ही चित्तवृत्तियाँ होती हैं। यही बात :—

'शृङ्गारनुकृतिर्या तु स हास्य इति कथ्यते।'

'जो शृंगार का अनुकरण होता है उसे हास्य कहते हैं।'

इत्यादि पद्यों में भी दिखलाई गई है। यहाँ पर विकास इत्यादि चित्तवृत्तियों की एकता से ही तात्पर्य है। चित्तवृत्तियाँ चार होती हैं और एक-एक चित्तवृत्ति के आधीन दो-दो रस होते हैं; इसीलिए यह संख्या का निर्धारण भी सङ्गत हो जाता है कि 'नाट्य में आठ रस होते हैं।'

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि शृङ्गार, वीर और हास्य ये आनन्दात्मक रस हैं। इनमें काव्यार्थ संभेद की उक्त प्रकिया के बल पर आनन्द की उत्पत्ति हो सकती है; किन्तु करुण इत्यादि रस तो दुःखात्मक होते हैं; इन रसों में आनन्द का प्रादुर्भाव कैसे हो सकता है? उदाहरण के लिए करुणात्मक काव्य के श्रवण से दुःख का आविर्भाव और अश्रुपात इत्यादि रसिकों में भी देखा जाता है। यदि करुण इत्यादि को भी आनन्दात्मक ही मान लें तो दुःख प्रादुर्भाव और अश्रुपात इत्यादि की सङ्गति कैसे हो सकती है? इसका उत्तर यह है

कि यह तो बात सही है कि करुण इत्यादि में दुःख की उत्पत्ति और अश्रुपात इत्यादि देखे जाते हैं किन्तु यह करुण इत्यादि का आनन्द एक विलक्षण प्रकार का ही आनन्द होता है, जिसमें सुख और दुःख दोनों मिले रहते हैं। जैसे प्रहार इत्यादि से पीड़ा होती है किन्तु सम्भोग के अवसर पर कुपित हाव में यद्यपि प्रहार, स्तन मर्दन, दंत क्षत इत्यादि से स्त्रियों को पीड़ा तो होती है और रोना अरुचि दिखाना इत्यादि भी होता ही है, किन्तु उस रोने, अरुचि दिखाने और पीड़ित होने में भी स्त्रियों को एक प्रकार का आनन्द आता है। उसी प्रकार करुण इत्यादि रसों में भी सुख और दुःख से मिला हुआ एक विलक्षण प्रकार का आनन्द होता है। दूसरी बात यह है कि लौकिक करुण की अपेक्षा काव्य के करुण रस में एक प्रकार की विलक्षणता होती है। इसीलिए लौकिक करुण को तो लोग बचाना चाहते हैं और काव्य के करुण में बार बार प्रवृत्ति होते हैं। यदि लौकिक करुण के समान काव्य के करुण में भी दुःखात्मकता हो तो बिना जाने भले ही कोई उस करुण रसमय साहित्य को पढ़ ले या अभिनय देख ले किन्तु जान-बूझकर उसे कोई क्यों पढ़ेगा ? परिणाम यह होगा कि धीरे-धीरे करुण रस प्रधान रामायण इत्यादि महाप्रबन्ध उच्छिन्न ही हो जावेंगे। अब रही अश्रुपात इत्यादि की बात। इसका तो कारण यह है कि इतिवृत्ति के सुनने से लोगों में उसी प्रकार दुःख उत्पन्न हो जाता है जिस प्रकार लोक में किसी एक व्यक्ति के दुःख को देखकर दूसरे व्यक्तियों में भी दुःख उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार यदि अभिनय देखनेवालों के हृदय में भी उस अभिनेय वस्तु के आधार पर दुःख उत्पन्न हो जाता है और आँसू गिरने लगते हैं तो उससे काव्य की रसानुभूति में किसी प्रकार का विरोध नहीं आता। अतएव कहा जा सकता है कि दूसरे रसों के समान करुण रस भी आनन्दात्मक ही होता है।

यद्यपि शान्तरस अभिनय के योग्य नहीं होता; अतएव नाट्यरसों में उसकी गणना नहीं की जाती फिर भी काव्य का विषय तो सूक्ष्म से सूक्ष्म अतीत से अतीत वस्तु भी हो सकती है और सभी वस्तुयें शब्द के द्वारा प्रतिपादित की ही जा सकती हैं; अतएव किसी को भी काव्य में उसके समावेश के विषय में आपत्ति नहीं हो सकती। इसीलिए यहाँ पर उसका प्रतिपादन किया जा रहा है :—

शमप्रकर्षो निर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मता ॥४५॥

[शम की अधिकता अनिर्वचनीय होती है और मुदिता इत्यादि उसकी आत्म होती है]

शान्त रस का लक्षण यह किया गया है :—

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न रागद्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः ॥

'जिसमें न दुःख हो, न सुख हो, न चिन्ता हो, न रागद्वेष हो न कोई इच्छा हो और समस्त भावों में शान्ति की ही प्रधानता हो मुनि लोग उसे शान्त रस कहते हैं।'

यदि यह लक्षण स्वीकार कर लिया जावे तो यह मानी हुई बात है कि ऐसा शान्त रस तभी उत्पन्न हो सकता है जब मनुष्य आत्मस्वरूप की प्राप्ति कर ले और मोक्षावस्था में पहुँच जावे। उसके स्वरूप ठीक रूप में निरूपण हो ही नहीं सकता। श्रुति ने भी उसकी अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन यह कहकर किया है कि—'स एष नेति नेति' अर्थात् उस शान्त रस का प्रतिपादन यह नहीं है यह, नहीं है' कहकर ही हो सकता है। इसका मन्तव्य यह है कि शान्त रस का रूप अमुक है यह नहीं कहा जा सकता किन्तु अमुक भी नहीं है अमुक भी नहीं है यह कहकर ही उसका परिज्ञान कराया जा सकता है। इस प्रकार शान्त रस आस्वादन करना लौकिक विषयों के रसिक जनों की शक्ति के बाहर है। यदि यह माना जावे जैसा कि योग के सूत्र में कहा गया है कि मैत्री करुणा मुदिता और उपेक्षा इन चार प्रकार की चित्तवृत्तियों भावना से चित्त का प्रसादन होता है। सुखी व्यक्तियों के प्रति मैत्री, दुःखी लोगों के प्रति करुणा पुण्यात्माओं के प्रति मुदिता और पापियों के प्रति उपेक्षा का भाव रखने से ही चित्तवृत्ति का परिष्कार और शान्त रस का आविर्भाव होता है; ऐसी दशा में भी इन चारों प्रकार की चित्तवृत्तियों का सन्निवेश उन्हीं विकास विस्तार क्षोभ और विक्षेप में हो जाता है। अतएव उन्हीं से काम चल सकता है। शान्त रस के लिए पृथक् चित्तवृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है।

उपसंहार

अब यह बतलाते हुए कि विभावादि विषयक अवान्तर काव्य व्यापार किस प्रकार का हुआ करता है इस रस निरूपण का उपसंहार किया जा रहा है।

पदार्थैरिन्दुनिर्वेद रोमाञ्चादिस्वरूपकैः।
काव्याद्विभावसञ्चार्यनुभाव प्रख्यतां गतैः ॥४६॥
भावितः स्वदते स्थायी रसः स परिकीर्तितः।

[जब चन्द्रमा इत्यादि निर्वेद इत्यादि और रोमाञ्च इत्यादि पदार्थ काव्य में आकर विभाव, सञ्चारीभाव और अनुभाव के रूप में प्रख्यात हो जाते हैं तब उन पदार्थों के द्वारा स्थायीभाव पुष्ट और भावना का विषय बन जाता है। उस समय उस स्थायीभाव को रस कहा जाता है।]

जब चन्द्र इत्यादि में अतिशयोक्ति रूप काव्य व्यापार के द्वारा विशेषता

उत्पन्न कर दी जाती है तब चन्द्र इत्यादि उद्दीपन विभावों से प्रमदा इत्यादि आलम्बन विभावों से, निर्वेद इत्यादि व्यभिचारी भावों से और रोमाञ्च, अश्रु, भ्रूविक्षेप, कटाक्ष इत्यादि अनुभावों से स्थायीभाव भावना का विषय बना दिया जाता है। आलम्बन उद्दीपन इत्यादि विभाव तो पदार्थ होते हैं और स्थायीभाव वाक्यार्थ होता है। उस समय वह स्थायीभाव आस्वाद का रूप धारण-कर रस कहलाने लगता है। बस यही रस का संक्षिप्त स्वरूप है जिसका पिछले प्रकरणों में निरूपण किया गया है।

अब अगले प्रकरण में शृङ्गार इत्यादि के पृथक्-पृथक् विशेष लक्षण बतलाये जावेंगे। आचार्य ने रति इत्यादि स्थायीभावों और शृङ्गार इत्यादि रसों के अलग-अलग लक्षण विभाव इत्यादि के प्रतिपादन के द्वारा बतला दिये हैं। अब यहाँ पर स्थायीभाव और रसों का भेद करके लक्षण नहीं बतलाये जावेंगे। क्योंकि :—

लक्षणैक्यं विभावैक्याद् भेदाद्रसभावयोः ॥४७॥

[रस और स्थायीभावों के विभाव इत्यादि एक ही होते हैं। अतएव रस और अलङ्कार में अभेद होता है। इसीलिए इनके लक्षणों की भी एकता होती है।]

शृङ्गार

रम्य देश कला काल वेष भोगादि सेवनैः।
प्रमोदात्मा रतिः सैव यूनोरन्योन्यरक्तयोः॥
प्रहृष्यमाणः शृंगारो मधुरांगविचेष्टितैः ॥४८॥

[एक दूसरे पर अनुरक्त युवकों की जो रमणीय देश, कला, काल, वेष और भोग इत्यादि के सेवन के द्वारा जो रति होती है वही जब अपने विभाव इत्यादि अङ्गों के द्वारा अत्यन्त पुष्ट हो जाती है तब उसे शृङ्गार कहते हैं।]

इस प्रकार जब काव्य की, रचना की जाती है तब वह काव्य शृङ्गार के आस्वादन में समर्थ होता है। यह कवि को उपदेश देने के लिए कहा गया है।

(१) देश विभाव का उदाहरण। जैसे उत्तर रामचरित में :—

स्मरसि सुतनुतस्मिन् पर्वते लक्ष्मणेन
प्रतिविहित सपर्या सुस्थयोस्तान्यहानि।
स्मरसि सरस तीरां तत्र गोदावरीं वा
स्मरसि च तदुपान्तेष्वावयोर्वर्तनानि ॥

'हे सुन्दर शरीरवाली सीते! क्या तुम्हें याद है कि उस पर्वत पर लक्ष्मण

हम लोगों की सेवा किया करते थे और हम लोगों के वे दिन कितने सुस्थता और सुन्दरता से व्यतीत होते थे ? क्या तुम्हें सरस तटवाली गोदावरी की भी याद है और क्या उसके निकट भागों में हम लोगों के स्वच्छन्द विहारों की भी याद है ?'

(२) कला विभाव का उदाहरण :—

हस्तैरन्तर्निहित वचनैः सूचितः सम्यगर्थः,
पादन्यासैर्लयमुपगतस्तन्मयत्वं रसेषु ॥
शाखायोनिर्मृदुरभिनयः षड्विकल्पोऽनुवृत्तै—
भावे भावे नुदति विषयान् रागबन्धः स एव ॥

'ऐसे हाथ से भली भाँति अर्थ सूचित कर दिया गया। जिसमें वचन भी सन्निहित थे। (अर्थात् हाथ की विशेष प्रकार की आकृतियों से आशय व्यक्त कर दिया गया।) नृत्य के अन्तर्गत चरणन्यास के द्वारा लय को प्राप्त हो गया और रसों में तन्मयता भी प्राप्त कर ली। (क्रिया के मध्य में विश्रान्ति को लय कहते हैं। यह तीन प्रकार की होती है, द्रुत-मध्य और विलम्बित।) उक्त प्रकार का शाखाओं से उत्पन्न होनेवाला वही राग प्रकाशक कोमल अभिनय अङ्गों की अनुवृत्ति से छः विकल्पों से युक्त होकर प्रत्येक भाव में विषयों को प्रेरित कर रहा है।' (यहाँ पर नृत्य का वर्णन किया गया है। एक तो हाथों के सङ्केत से पूर्ण रूप से आशय और भाव व्यक्त हो रहे हैं; चरणन्यास से लय की प्राप्ति हो रही है और रसों में तन्मयता भी उत्पन्न हो रही है; यह नृत्य शाखाओं से उत्पन्न हो रहा है, सङ्गीतरत्नाकर में लिखा है कि हाथ के विचित्र प्रकार के प्रयोग को शाखा कहते हैं; उन्हीं शाखाओं का आश्रय लेकर नृत्य का आविर्भाव हो रहा है; यह कोमल नृत्य है जिसमें भाव का अनुसरण करनेवाले अङ्गों से छः प्रकार का अभिनय हो रहा है। अभिनय के नाट्य-शास्त्र में चार भेद किये गये हैं आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक। अङ्गज अभिनय तीन प्रकार का होता है शारीर, मुखज और चेष्टाकृत। इस प्रकार तीन अङ्गज और वाचिक आहार्य तथा सात्विक ये तीन प्रकार मिलकर अभिनय छः प्रकार का होता है। ये सभी प्रकार उक्त अभिनय में व्यक्त हो रहे हैं। इस प्रकार यह अभिनय प्रत्येक भाव में विषयों को प्रेरित कर रहा है।)

दूसरा उदाहरण :—

व्यक्तिर्व्यञ्जन धातुना दशविधेनाप्यत्र लब्धामुना।
विस्पष्टो द्रुतमध्यलम्बित परिच्छिन्नस्त्रिधाऽयं लयः ॥
गोपुच्छप्रमुखाः क्रमेण गतयस्तिस्रोऽपि सपादिता-
स्तत्त्वौघानुगताश्च वाद्य विधयः सम्यक् त्रयो दर्शिताः ॥

'इन दस प्रकार की व्यञ्जन धातुओं के द्वारा इस गायन ने व्यक्तता प्राप्त कर ली है; (नाट्य-शास्त्र में पुष्प इत्यादि १० व्यञ्जन धातुओं का वर्णन किया गया है।) यह लय द्रुत, मध्य और विलम्बित इन प्रकारों में विभक्त होकर पूर्ण रूप से स्फुट हो रहा है, गोपुच्छ इत्यादि तीनों पत्तियाँ क्रमशः 'सम्पादित की गई हैं, (सङ्गीत रत्नाकर में तीन प्रकार की पतियों का उल्लेख है—समा, श्रोतो गता और गोपुच्छा) तत्व ओघ और अनुगत येतीनों प्रकार वाद्य विधियाँ ठीक रूप में दिखलाई गई हैं। (तत्वरत्नाकर में तत्व इत्यादि तीन प्रकार की वाद्य विधियों का उल्लेख किया गया है।)

(३) काल विभाव का उदाहरण :—

असूत सद्यः कुसुमान्यशोकः स्कन्धात्प्रभृत्येव सपल्लवानि ।
पादेन चापैक्षत सुन्दरीणां सम्पर्कमाशिञ्जितनूपुरेण ॥

'वसन्त के सहसा प्रादुर्भूत हो जाने पर अशोक ने शीघ्र ही अपने स्कन्ध-भाग से ही लेकर पल्लवों के सहित पुष्पों को उत्पन्न करना प्रारम्भ कर दिया। उस समय उस अशोक ने पुष्पोद्गम के लिए सुन्दरियों के नूपुरों की झङ्कार से युक्त पादस्पर्श की अपेक्षा नहीं की।'

रस उपक्रम के साथ लिखा है :—

मधुद्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः ।
शृङ्गेण संस्पर्श निमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्ण सारः ॥

'भौंरा अपनी प्रियतमा का अनुवर्तन करते हुए पुष्प के एक पात्र में मधु (पुष्प-रस) का पान कर रहा था और कृष्णसार नामक हरिण अपने सींग से हिरणी को खुजला रहा था जब कि वह स्पर्श सुख से अपनी आँखें बन्द किये खड़ी थी।'

(४) वेष के विभाव का उदाहरण :—

अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागमाकृष्ट हेम द्युति कर्णिकारम् ।
मुक्ता कलापीकृतसिन्दुवारं वसन्तपुष्पा भरणं वहन्ती ॥

'जब पार्वतीजी पूजा के लिए शङ्करजी के निकट जा रही थीं उस समय वे वसन्त काल के पुष्पों के आभूषण धारण किये हुए थीं; उस समय उनके शरीर में अशोक पुष्प अपने सौन्दर्य से पद्मराग की सुन्दरता को भी दबा रहा था; कार्णिकार के फूल ने सोने की शोभा का भी अपहरण कर लिया है और सिन्दुवार मुक्ता कलाप के स्थान पर धारण किया गया था।'

(५) उपभोग विभाव का उदाहरण : —

चक्षुर्लुप्तमषीकणंकवलितस्ताम्बूल रागोऽधरे ।
विश्रान्ता कवरी कपोल फलके लुप्तेव गात्रद्युतिः ॥

जाने सम्प्रतिमानिनि प्रणयिना कैरप्युपायक्रमैः
भग्नोमान महातरुस्तरूणिते चेतः स्थलीवर्धितः ॥

'नेत्रों के काजल के कण कहीं-कहीं पुछ गये हैं; अधर की पानों की लाली भी दूर कर दी गई है। केशपाश कपोल फलक पर छिटक रहे हैं; शरीर शोभा भी लुप्त सी हो गई है; हे मान करनेवाली; इन बातों से मुझे ऐसा ज्ञात हो रहा है कि चित्तरूप स्थल पर जिस मान रूपी वृक्ष को तुमने बढ़ाया था हे तरुणि! उसी मानरूपी वृक्ष को तुम्हारे प्रेमी ने अपने विभिन्न प्रकार के उपायों के क्रम से इस समय तोड़ डाला है।'

(६) प्रमोदात्मा रति का उदाहरण :—

जगति जयिनस्ते ते भावा नवेन्दु कलादयः
प्रकृतिमधुराः सन्त्येवान्ये मनो मदयन्ति ये।
मम तु यदियं याता लोके विलोचन चन्द्रिका
नयन विषयं जन्मन्येकः स एव महोत्सवः ॥

'संसार में नवीन चन्द्रकला इत्यादि जितने भी विजय शीलभाव हैं और दूसरे भी भाव जो स्वभाव से मधुर हैं और मन को मस्त करते हैं वे तो हैं ही। (वे दूसरों के मन को मस्त करते होंगे) किन्तु जो यह (मालती रूप) सारे संसार के नेत्रों की चाँदनी मेरे नेत्रों का विषय बनी है मेरे लिए बस यही जीवन में एक उत्सव है।'

(७) युवति विभाव का उदाहरण :—

दीर्घाक्षं शरदिन्दु कान्ति वदनं बाहू नतावंशयोः
संक्षिप्तं निविडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव।
मध्य, पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरा लाङ्गुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसः स्पष्टं तथास्या वपुः।

'उस नायिका की आँखें बड़ी-बड़ी हैं, मुख शरत्काल के चन्द्रमा के समान सुन्दर है, बाहें कंधों में झुकी हुई हैं; छाती एक ओर को सिमटी हुई सी है जिसमें स्तन घने सटे हुए और ऊँचे हैं, पार्श्व भागों पर मानो वार्निश कर दी गई है; मध्यभाग इतना पतला है कि एक हाथ से नापा जा सकता है, पैरों की अँगुलियाँ नीचे को झुकी हुई हैं; नचानेवाले के मन की जैसी इच्छा हो सकती है वैसी इसका शरीर बनाया गया है।'

(७) युगल विभाव का उदाहरण :—

भूयो भूयः सविधनगरी रथ्यया पर्यटन्तं
दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभी तुङ्गवातायनस्था।

साक्षात्कामं नवमिव रतिर्मालती माधवं यत्
गाढोत्कण्ठालुलितलुलितैरङ्गकैस्ताम्यतीति ॥

'बार-बार नगर की निकटवर्तिनी गली से होकर घूमनेवाले साक्षात्काम-देव के समान माधव को देख-देखकर भवन की ऊपरी मञ्जिल के ऊँचे वातायन पर बैठी हुई रति के समान प्रगाढ़ उत्कण्ठ से भरी हुई मालती कामपीड़ा से अत्यन्त कलुषित अङ्गों से मलीन पड़ती चली जा रही है ।'

(८) अन्योन्यानुराग का उदाहरण :—

यान्त्यामुहुर्वलितकन्धरमाननं त—
दावृत्त वृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या ।
दिग्धोऽमृतेन च विषेणच पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः ॥

'मालती ने चलने के समय पर अपनी गर्दन घुमाकर माधव की ओर उत्कण्ठापूर्वक देखा । उस समय जो प्रभाव माधव पर पड़ा उसी का वर्णन माधव मकरन्द से कर रहा है—'चलते हुये बार-बार (उत्कण्ठापूर्वक मुझे देखने के लिए) घूमी हुई गर्दनवाले झुके हुए वृन्त से युक्त शतपत्र के समान मुख को धारण करनेवाली। उस सुन्दर पक्ष्मों से युक्त नेत्रोंवाली मालती ने अमृत और विष से बुझा हुआ कटाक्ष (रूपी वाण) गहराई से मेरे हृदय में गाड़ दिया ।'

(९) मधुराङ्ग विचेष्टित का उदाहरण :—

स्तिमितविकसितानामुल्लसद्भ्रूलतानां
मसृणमुकुलितानां प्रान्तविस्तारभाजाम् ।
प्रतिनयननियाते किञ्चिदाकुञ्चितानां
विविधमहमभूवं पात्रमालोकितानाम् ॥

'मैं उस समय उस मालती की शृङ्गार सम्बन्धिनी दृष्टियों का विभिन्न प्रकार से पात्र बन गया । उस समय उसकी दृष्टि स्थिर (रुकी हुई) थी, विकसित हो रही थी, उन नेत्रों से भ्रूलतायें उल्लसित हो रही थीं; वह दृष्टि अनुराग परिपूर्ण हो रही थी और मुकुलित हो रही थी और पुनः दर्शन के लिए उसके अयाङ्गों का विस्तार हो रहा था और जब मैं उसके कटाक्षों का उत्तर देने के लिए अपनी दृष्टि उस पर डालता था तब वह उसकी दृष्टि लज्जा से सिकुड़ जाती थी ।'

ये सत्वजाः स्थायिन एव चाष्टौ
त्रिंशत्त्रयो ये व्यभिचारिणश्च ।
एकोन पञ्चाशदमी हि भावाः
युक्त्या निवद्धाः परिपोषयन्ति ॥

आलस्यमौग्यं मरणंजुगुप्सा
तस्याश्रयाद्वै त विरुद्धमेतत् ॥४९॥

[आठ सात्विक भाव, आठ स्थायी भाव और तैंतीस सञ्चारी भाव मिलकर कुल ४६ भाव होते हैं। यदि इनका युक्तियुक्त उपनिबन्धन किया जावे तो ये स्थायी भाव का परिपोष करते हैं। उसमें आलस्य उग्रता मरण और जुगुप्सा ये यदि एक आलम्बन विभाव के आश्रय से उपनिबद्ध किये जावें तो विरुद्ध होते हैं।]

यदि प्रकार भेद से अर्थात् आलम्बन के विभेद से या रसान्तर के व्यवधान से उनका उपनिबन्धन किया जावे तो विरोध नहीं होता यह पहले बतलाया जा चुका है।

शृंगार रस के भेद ये होते हैं :—

अयोगो विप्रयोगश्च संभोश्चेति स त्रिधा।

[वह शृंगार तीन प्रकार का होता है अयोग, विप्रयोग और संभोग।]

अयोग का अर्थ है न मिलना और विप्रयोग का अर्थ है मिलकर अलग हो जाना। विप्रलम्भ के ही ये दोनों रूप होते हैं। विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग अयोग और विप्रयोग दोनों के लिए किया जाता है। बहुत से आचार्य विप्रयोग के स्थान पर विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग करते हैं। यदि यहाँ पर भी विप्रयोग के स्थान पर विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग किया जाता तो उसका उभयपरक सामान्य अर्थ तो लिया नहीं जाता क्योंकि उसके एक भाग अयोग का पृथक् प्रयोग किया गया है। इससे यह मानना पड़ता है कि यहाँ पर विप्रलम्भ का प्रयोग सामान्य अर्थ में नहीं किन्तु विशेष अर्थ में किया गया है। जब सामान्य वाचक शब्दों का विशेष अर्थों में प्रयोग किया जाता है तब लक्षणा माननी पड़ती है। अतएव यहाँ पर लक्षणा माननी पड़ती है उसमें यह सम्भव था कि विप्रलम्भ शब्द अपने मुख्यार्थ का वाचक मान लिया जाता। विप्रलम्भ का शाब्दिक अर्थ है वञ्चना। अतएव लक्षणा से यहाँ पर यह अर्थ हो सकता था कि जहाँ पर नायक संकेत स्थान पर जाने का वचन देकर भी न जावे और अवधि का अतिक्रमण कर दे अथवा दूसरी नायिका का अनुसरण करे और इस प्रकार प्रधान नायिका को वंचित करे वहाँ पर विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग होता है। इसी संदेह और अनर्थ के निराकरण के लिए यहाँ पर विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग न कर विप्रयोग शब्द का प्रयोग किया गया है।

(१) अयोग :—

तत्रायोगोऽनुरागोऽपि नवयोरेकचित्तयोः॥५०॥
पारतन्त्र्येण दैवाद्वाविप्रकर्षादसङ्गमः।

[शृङ्गार के भेदों में अयोग उसे कहते हैं जिसमें नवीन एक चित्तवाले

नायक और नायिकाओं में अनुराग तो हो किन्तु परतन्त्रतावश दूरी होने से अथवा दैववश समागम (प्रथम मिलन) न हो सके।]

योग का अर्थ है एक दूसरे को स्वीकार करना; उसके अभाव को अयोग कहते हैं। परतन्त्रता से दूरी पिता इत्यादि के आधीन होने के कारण अथवा पत्नी के सङ्कोच हुआ करती है। जैसे मालती और माधव का सम्मिलन पिता इत्यादि के आधीन होने के कारण नहीं हो सका और सागरिका तथा वत्सराज का समागम पत्नी के संकोच के कारण नहीं हो सका। इसी प्रकार दैववश समागम हो सकने का उदाहरण शङ्कर और पार्वती हैं।

दशावस्थः स तत्रादावभिलाषोऽथ चिन्तनम् ॥ ५१॥
स्मृतिर्गुणकथोद्वेग प्रलापोन्माद संज्वराः॥
जडतामरणं चेति दुरवस्थं यथोत्तरम् ॥५२॥

[अयोग की अभिलाष इत्यादि दस दशाएँ होती हैं; इनमें उत्तरोत्तर दुरवस्था बढ़ती जाती है। अर्थात् अभिलाषा चिन्तन में चिन्तन से स्मृति में उससे गुण कथन में अधिक दुरवस्था होती है।]

अभिलाषः स्पृहातत्रकान्ते सर्वाङ्गसुन्दरे।
दृष्टे श्रुते वा तत्रापि विस्मयानन्दसाध्वसाः ॥५३॥

[उनमें अभिलाष स्पृहा को कहते हैं। वह तब उत्पन्न होती है जब सर्वाङ्ग सुन्दर प्रियतम को देख या सुन लिया जावे। उसके भी तीन भेद होते हैं विस्मय, आनन्द और साध्वस (भय)।]

साक्षात्प्रतिकृतिस्वप्न छायामायासु दर्शनम्।
श्रुति व्याजात् सखीगीत मागधादि गुणस्तुतेः॥५४॥

[दर्शन या तो साक्षात् हो सकता है या चित्र स्वप्न छाया या माया से दर्शन होता है। श्रवण या तो सखी से या गानों में अथवा मागध इत्यादि के द्वारा गुणकीर्तन से होता है। इसी दर्शन और श्रवण से अनुराग की उत्पत्ति होती है।]

अभिलाष का उदाहरण जैसे शाकुन्तल में :—

असंशयं क्षत्र परिग्रहक्षमा यदार्यस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि सन्देह पदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः करण प्रवृत्तयः॥

दुष्यन्त कह रहे हैं कि—'निस्सन्देह यह शकुन्तला क्षत्रिय की पत्नी होने के योग्य है जो कि मेरा श्रेष्ठ मन इसको प्राप्त करने की अभिलाषा रखता है। सन्देह स्थानीय वस्तुओं में सज्जनों के अन्तःकरण प्रवृत्तियाँ ही प्रमाण होती हैं।'

अभिलाष के भेद विस्मय का उदाहरण :—

स्तनावालोक्य तन्वङ्गयाः शिरः कम्पयते युवा ।
तयोरन्तरनिर्मग्नां दृष्टिमुत्पाटयन्निव ॥

'युवक उस कृशाङ्गी के स्तनों को देखकर (विस्मय से) अपने सर हिला रहा है। मानो वह उन दोनों स्तनों के बीच में गड़ी हुई अपनी दृष्टि को (हिला-हिलाकर) उखाड़ना चाहता है।'

अभिलाष के भेद आनन्द का उदाहरण जैसे विद्धशाल भञ्जिका में :—

सुधावद्धग्रासैरुपवनचकोरैः कवलिताम् ।
किरन् ज्योत्स्नायच्छां लवलिफलपाक प्रणयिनीम् ।
उप प्राकाराग्रां प्रहिणु नयने तर्कयमना-
गनाकाशे कोऽयं गलित हरिणः शीतकिरणः ॥

'प्राकार के अग्रभाग के ऊपर की ओर निगाह डालो और विचार करो कि यह बिना ही आकाश के मृग के लाञ्छन (कलङ्क) से रहित नये प्रकार का यह कौन सा चन्द्रमा निकला है ? उपवन के चकोर इसकी सुधा के ग्रासों को बाँध-बाँधकर इसको पी रहे हैं; यह कितनी सुन्दर चाँदिनी को फैला रहा है और लवली लता के फलों को पकाने में इसे आनन्द ही आनन्द आता है।'

अभिलाष के भेद साध्वस का उदाहरण :—

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टिः
निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती ।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराज तनया न ययौ न तस्थौ ॥

'शङ्करजी को देखकर पार्वतीजी की सरस अङ्ग यष्टि काँपने लगीं। जाने के लिए उठाये हुए पैर को वे वैसे का वैसा ही रोककर रह गईं। (उस समय) मार्ग में पर्वत की रुकावट से क्षुब्ध हुई नदी के समान पर्वतराज पुत्री न तो गईं ही और न रुकीं ही।'

दूसरा उदाहरण :—

व्याहृता प्रतिवचो न संदधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥

'पार्वती ने बात करने पर उत्तर नहीं दिया; जब उसका वस्त्र पकड़ा गया तब वह जाने को उद्यत हो गईं। चारपाई पर करवट बदलकर लेटी; किन्तु फिर भी वह पिनाकधारी शङ्करजी के अनुराग का ही कारण बनी।'

यहाँ पर गुण कीर्तन की व्याख्या नहीं की गई है; क्योंकि गुण कीर्तन तो प्रसिद्ध ही है।

दृशावस्थत्वमाचार्यैः प्रायोवृत्त्या निरूपितम् ॥५५॥
महाकवि प्रबन्धेषु दृश्यते तदनन्तता ॥

['अयोग की दस अवस्थाएँ होती हैं' यह बात आचार्यों ने प्रायोवाद के आधार पर लिखी है। अर्थात् अधिकतर कहा जाता है इसीलिए लिख दी है। महाकवियों के प्रबन्धों में अयोग की अनन्त अवस्थाएँ देखी जाती हैं।]

यहाँ पर दिग्दर्शन-मात्र कराया जा रहा है :—

दृष्टे श्रुतेऽभिलाषाच्च किं नौत्सुक्यं प्रजायते ॥५६॥
अप्राप्तौ किं न निर्वेदो ग्लानिः किं नाति चिन्तनात् ।

[देखने और सुनने पर अभिलाषा से क्या उत्सुकता नहीं उत्पन्न होती? प्राप्त न होने पर क्या विराग नामक अवस्था नहीं होती? अधिक चिन्तन से क्या ग्लानि नामक एक और दशा नहीं हो सकती?]

प्रच्छन्न कामिका इत्यादि भेदों को काम सूत्र के आधार पर जान लेना चाहिए।

(२) विप्रयोग :—

विप्रयोगस्तु विश्लेषो रूढ़ विस्रम्भयोर्द्विधाः ॥५७॥
मान प्रवास भेदेन मानोऽपि प्रणयेर्ष्ययोः ।

[जब दोनों का विश्वास बढ़ जावे तब जो विश्लेष (वियोग) होता है उसे विप्रयोग कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है मान विप्रयोग और प्रवास विप्रयोग। मान भी दो प्रकार का होता है प्रणयमान और ईर्ष्यामान।]

(अ) प्रणयमान :—

तत्र प्रणयमानः स्यात्कोपावसितयोर्द्वयोः ।

[मान के भेदों में प्रणयमान उसे कहते हैं जिसमें कोप के कारण दोनों का प्रथक्त्व हो जावे।]

प्रणय का अर्थ है प्रेमपूर्वक वश में कर लेना। उसके भङ्ग से जो मान होता है उसे प्रणयमान कहते हैं। वह नायक और नायिका दोनों में हो सकता है। नायक के मान का उदाहरण जैसे उत्तररामचरित में :—

अस्मिन्नेवलता गृहे त्वमभवस्तन्मार्ग दत्तेक्षणः ।
सा हंसैः कृत कौतुका चिरमभूद्गोदावरी सैकते ॥
आयान्त्या परिदुर्मनायित मिव त्वां वीक्ष्य वद्धस्तया ।
कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः ॥

वासन्ती राम से कह रही है—'इसी लता-गृह में तुम उसके मार्ग को देखने के लिए निगाह लगाये हुए थे जब कि हंसों का कौतुक देखने में गोदावरी के किनारे उस सीता को बड़ी देर लग गई थी। जब वह आई और उसने

तुम्हें कुपित सा देखा तब उसने कातरतापूर्वक प्रणाम के लिए कमल की कली के समान भोली भाली अंजली बाँधी।'

नायिका के प्रणयमान का उदाहरण जैसे श्रीवाक्पति राज देव का :—

प्रणय कुपितां दृष्ट्वा देवीं ससम्भ्रमविस्मितः
त्रिभुवनगुरुर्भीत्या सद्यः प्रणाम परोऽभवत्।
नमित शिरसो गङ्गालोके तया चरणाहता
ववतु भवतस्त्र्यक्षस्यैतद्विलक्षमवस्थितम्॥

तीनों लोकों के स्वामी शङ्करजी प्रणय से कुपित हुई देवी को देखकर सम्भ्रम और विस्मय के साथ डरते हुए एकदम प्रणाम करने लगे। जब प्रणाम के लिए शंकर जी ने सर झुकाया तब गङ्गा को देखकर उसने पाद प्रहार किया। इस प्रकार का त्रिलोचन शंकरजी का निराश होकर स्थित होना आप लोगों की रक्षा करे।'

दोनों के प्रणयमान का उदाहरण :—

पणअकुविआणदोण्हवि अलिअपसुत्ताणमाणइत्ताणम्।
णिच्चलणिरुद्धणीसासदिण्ण अण्णाणं को मल्लो॥
[प्रणय कुपितयोर्द्वयोरप्यलीकप्रसुप्तयोर्मानवतोः।
निश्चलनिरुद्धनिश्वासदत्तकर्णयोः को मल्लः॥]

दोनों ही प्रणय से कुपित होकर मानधारण कर सोने का बहाना किये हुए हैं; दोनों ही अपनी गहरी स्वासों को निश्चलतापूर्वक रोककर एक दूसरे की ओर कान दिये हुए हैं। अब देखना है कि इनमें कौन वीर है?'

(आ) ईर्ष्यामान :—

स्त्रीणामीर्ष्याकृतो मानः कोपोऽन्यासङ्गिनि प्रिये।
श्रुते वानुमिते दृष्टे श्रुतिस्तत्र सखीमुखात्॥५६॥
उत्स्वप्रायित भोगाङ्क गोत्रस्खलनकल्पितः।
त्रिधानुमानिको दृष्टः साक्षा दिन्द्रिय गोचरः॥

[अपने प्रियतम को किसी अन्य नायिका के साथ देखकर जो कोप होता है उसे ईर्ष्यामान कहते हैं। यह स्त्रियों में ही होता है इसकी उत्पत्ति तीन प्रकार से हो सकती है सुनने से, अनुमान लगाने से और देखने से। इनमें सुना सखी के मुख से जाता है (क्योंकि उसी पर विश्वास होता है)। अनुमान तीन प्रकार का होता है उत्स्वप्रायित (जोर से स्वप्न देखने से) भोगाङ्क (संभोग के चिह्नों को देखने से) और गोत्रस्खलन (धोके से दूसरी नायिका का नाम ले लेने से)। दर्शन साक्षात् इन्द्रियों से होता है।]

(क) सखीमुख से श्रवण का उदाहरण जैसे धनिक का पद्य :—

सुभ्रु त्वं नवनीत कल्प हृदया केनापि दुर्मन्त्रिणा।
मिथ्यैवप्रियकारिणा मधुमुखेनास्मासुचन्डी कृता ॥
किन्त्वेतद्विमृश क्षणं प्रणयिनामेणाक्षि कस्ते हितः।
किं धात्रीतनया वयं किमु सखी किंवां किमस्मत्सुहृत् ॥

कोई सखी मानिनी नायिका से कह रही है—'हे सुन्दर नेत्रोंवाली! तुम तो मक्खन के समान कोमल हृदयवाली हो। किसी दुष्ट मन्त्री ने, जो मीठी-मीठी बातें बनाकर झूठ ही प्रेम दिखलाता है, हम लोगों की ओर तुमको प्रचण्ड बना दिया है। किन्तु क्षण भर के लिए तुम्हीं विचार कर देखो कि हे मृगनयनी! प्रेमियों में तुम्हारा हितैषी कौन है? क्या धाय की लड़की तुम्हारा अधिक हित चाहती है कि हम लोग तुम्हारा अधिक हित चाहती हैं या कोई सखी अथवा हम लोगों की वह सहचरी तुम्हारा अधिक हित चाहती है।'

(ख) उत्स्वप्नायित का उदाहरण जैसे रुद्र का पद्य :—

निर्मग्नेन मयाम्भसि स्मरभरादाली समालिङ्गिता।
केनालीकमिदं तवाद्यकथितं राधे मुधानाम्य सि ॥
इत्युत्स्वप्नपरम्परासु शयने श्रुत्वा वचः शार्ङ्गिणः।
सव्याजं शिथिली कृतः कमलया कण्ठ ग्रहः पातुवः ॥

'भगवान् कृष्ण स्वप्न में बड़बड़ा रहे थे—'हे राधे! तुमसे यह झूठ बात किसने कह दी कि जल के अन्दर निर्मग्न होकर काम पीड़ा से युक्त होकर मैंने सखी का आलिङ्गन कर लिया! क्यों तुम व्यर्थ में ही इससे रुष्ठ हो रही हो।' इस प्रकार स्वप्न की परम्परा में चारपाई पर लेटे हुए कृष्ण भगवान् के इन वचनों को सुनकर भगवती रुक्मिणी ने किसी बहाने से अपने जिस कण्ठ ग्रह को शिथिल कर दिया वह कण्ठ ग्रह आप लोगों की रक्षा करे।'

(ग) भोगाङ्क से अनुमान लगाने का उदाहरण :—

नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन।
स्थगयमि पुनरोष्ठं पाणिना दन्त दष्टम् ॥
प्रतिदिशमपरस्त्री सङ्ग शंसी विसर्यन्।
नव परिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम् ॥

'ताजे नाखूनों के चिह्नवाले अपने शरीर को वस्त्र से ढक रहे हो और दाँत से काटे हुए ओंठ को हाथ से छिपा रहे हो; किन्तु पर स्त्री के साथ को बतलानेवाला चारों दिशाओं में फैलनेवाला यह परिमल गन्ध किस उपाय से छिपाया जा सकता है?'

(घ) गोत्रस्खलन जन्य-ईर्ष्या-मान का उदाहरण :—

केली गोत्तक्खलेणे विकुप्पए केअवं अआाणन्ती।
दुष्ठ उअसुपरिहासं जाआा सच्चं विअ परुण्णा ॥
[केली गोत्रस्खलने विकुप्यति कैतवमजानन्ती ।
दुष्ट पश्य परिहासं जाया सत्यमिव प्ररुदिता।]

'परिहास में गोत्रस्खलन (अर्थात् पर स्त्री का नाम ले लेने) से छल कपट को न जाननेवाली प्रियतमा कुपित हो गई है। तुम बड़े दुष्ट हो, अपनी हँसी के फल को देखो कि तुम्हारी प्रियतमा सचमुच रोने लगी।'

(ङ) प्रत्यक्ष दृष्ट का उदाहरण :—

प्रणयकुपितां दृष्ट्वा देवीं ससम्भ्रमविस्मितः।
त्रिभुवन गुरुर्भीत्या प्रणाम परोऽभवत् ॥
नमित शिरसो गङ्गालोके तया चरणाहता।
ववतु भवतस्त्र्यक्षस्यैतद्विलक्षमवस्थितम् ॥

(अर्थ देखो पृष्ठ २२८ पर)

इस प्रकार प्रणयमान और ईर्ष्यामान का वर्णन किया गया है। अब मनाने का वर्णन किया जा रहा है :—

यथोत्तरं गुरुः षड्भिरुपायैस्तमुपाचरेत्।
सम्रा भेदेन दानेन नत्युपेक्षारसान्तरैः ॥६१॥

[उपर्युक्त मान उत्तरोत्तर अधिक होते जाते हैं। (जैसे प्रणयमान की अपेक्षा सखी के मुखे प्रियतम का परस्त्री समागम सुनकर होनेवाला मान अधिक होता है उससे स्वप्न की बड़बड़ाहट को सुनकर अधिक मान होता है उसकी अपेक्षा सम्भोग के चिह्नों को देखने से अधिक मान होता है। इत्यादि)'साम इत्यादि छः उपायों से इसको दूर करने की चेष्टा करनी चाहिए।]

तत्र प्रियवचः साम भेदस्तत्सख्युपार्जनम्।
दानं व्याजेन भूषादेः पादयोः पतनं नतिः ॥६२॥
सामादौ तु परिक्षीणे स्यादुपेक्षावधीरणम्।
रभसत्रास हर्षादेः कोपभ्रंशो रसान्तरम् ॥६३॥
कोप चेष्टाश्च नारीणां प्रागेव प्रतिपादिताः ॥

[प्रिय वचन बोलने को साम कहते हैं, सखी का सहारा लेने को भेद कहते हैं, किसी बहाने से गहने इत्यादि देने को दान कहते हैं, पैरों पर गिरने को नति कहते हैं। यदि साम इत्यादि उपायों से काम न चले तो तिरस्कार कर देना चाहिए इसे उपेक्षा कहते हैं। जल्दबाजी भय या हर्ष से कोप के तोड़ देने को रसान्तर कहते हैं। स्त्रियों की कोप चेष्टाओं का पहले ही वर्णन किया जा चुका है।]

(१) प्रिय वचन बोलने को साम कहते हैं। इसका उदाहरण :—

स्मितज्योत्स्नाभिस्ते धवलयति विश्वं मुखशशी
दृशस्ते पीयूषद्रवमिव विमुञ्चन्ति वरितः ॥
वपुस्ते लावण्यं किरति मधुरं दिक्षु तदिदं,
कुतस्ते पारुष्यं सुतनु हृदयेनाद्य गुणितम् ॥

'हे सुन्दर शरीरवाली ! तुम्हारा मुखचन्द्र मुस्कुराहट की चाँदनी से विश्व को श्वेत बना रहा है, तुम्हारी निगाहें चारों ओर से अमृत का प्रवाह सा बहा रही हैं, तुम्हारा शरीर दिशाओं में माधुर्य बिखेर रहा है, फिर तुम्हारे हृदय ने इतनी अधिक कठोरता कहाँ से प्राप्त कर ली है ?'

दूसरा उदाहरण :—

इन्दीवरेण नयनं मुखमम्बुजेन
कुन्देन दन्तमधरं नव पल्लवेन ।
अङ्गानि चम्पकदलैः स विधाय वेधाः
कान्ते कथं रचितवानुपलेन चेतः ॥

'ब्रह्माजी ने तुम्हारे नेत्र नीले कमल से बनाये हैं, मुख लाल कमल से बनाया है, कुन्द की कली से दाँत बनाये, नवीन पल्लव से अधर बनाया, चम्पा के दलों से दूसरे अङ्ग बनाये, (इस प्रकार जब अन्य अङ्गों को बनाने में फूलों का ही उपयोग किया फिर) हे प्रिये ! तुम्हारे चित्त को पत्थर का क्यों बनाया।'

(२) नायिका की सखी का सहारा लेने को भेद कहते हैं। इसका उदाहरण:—

कृतेऽप्याज्ञा भङ्गे कथमिव मयाते प्रणतयो
धृताः स्मित्वा हस्ते विसृजसि रुषं सुभ्रु बहुशः ।
प्रकोपः कोऽप्यन्यः पुनरयमसीमाद्य गुणितो
वृथाः यत्र स्निग्धाः प्रियसहचरीणामपि गिरः ॥

'हे सुन्दर भौंहोंवाली ! आज्ञा भङ्ग करने पर भी जैसे-तैसे मैंने तुम्हें प्रणाम किया और तुमने बहुत बार मुस्कुराकर तत्काल ही अपना क्रोध छोड़ दिया। आज यह तुम्हारा कोई दूसरी ही प्रकार का निस्सीम क्रोध मालूम पड़ रहा है जिसमें प्यारी सखियों की प्रेममयी वाणी भी व्यर्थ हो रही है।'

(३) किसी बहाने से आभूषण इत्यादि के दान करने का उदाहरण जैसे माघ में :—

मुहुरुपहसितामिवालि नादैर्वितरसिनः कलिकां किमर्थयेनाम् ।
अधिरजनि गतेन धाम तस्याः शठ कलिरेष महांस्त्वयाद्य दत्तः ॥

'तुम इस कलिका (छोटी कली) को मुझे क्यों दे रहे हो जिस पर भौरों

की बार-बार गुञ्जार ऐसी प्रतीत हो रही है मानो उसकी हँसी उड़ाई जा रही हो। हे दुष्ट! रात के समय उसके घर जाकर आज तुमने बहुत कलि (१–कली २–पाप) मुझे प्रदान किया है।'

(४) पैरों पर गिरने को नति कहते हैं। इसका उदाहरण :—

णेउर कोडि विलग्गं चिहुरं दयिअस्स पाअपडिअस्य।
हिअअं माणपउत्थं उम्मोअंतिच्चिअ कहेइ॥
[नूपुर कोटि विलग्नं चिकुरं दयितस्य पाद पतितस्य।
हृदयं मानपदो त्थयुन्युक्तमित्येव कथयति॥]

'पैरों पर पड़े हुए प्रियतम के नूपुरों के किनारे का स्पर्श करनेवाले बाल यही कह रहे हैं कि मानों मानशब्द के सुनने उठे हुए हृदय को ही खोल दिया हो।'

(५) उपेक्षा परित्याग को कहते हैं। इसका उदाहरण :—

किं गतेननहि युक्तमुपैतुं नेश्वरे परुषता सखि साध्वी।
आनयैनमनुनीय कथं वा विप्रियाणि जनयन्ननुनेयः॥

'हे सखी! जाने की क्या आवश्यकता ? उसके पास जाना ठीक नहीं। किन्तु अपने स्वामी के प्रति कठोरता भी अच्छी नहीं; तुम जाकर इसको समझा-बुझाकर अनुनय विनय के साथ ले आओ; अथवा रहने दो अपकार करनेवाले के सामने अनुनय विनय ठीक नहीं।

(६) जल्दबाजी में त्रास या हर्ष के द्वारा मानभङ्ग को रसान्तर कहते हैं। इसका उदाहरण जैसे धनिक का पद्य :—

अभिव्यक्तालीकः सकल विफलोपाय विभवः।
चिरंध्यात्वा सद्यः कृत कृतक संरम्भनिपुणम्।
इतः पृष्ठे पृष्ठे किमिदमिति संत्रास्य सहसा।
कृताश्लेषां धूर्तः स्मितमधुरमालिङ्गतिवधूम्॥

'नायक का अपराध प्रगट हो गया था; उसके उपायों का सारा वैभव नष्ट हो गया था; उसने बड़ी देर तक विचार करके और बनावटी उद्वेग की निपुणता को प्रगट करते हुए 'अरे यह पीछे-पीछे क्या आ रहा है' यह कर एकदम नायिका को भयभीत कर दिया; तब नायिका दौड़कर उससे चिपट गई और उसने मधुर मुस्कुराहट के साथ प्रियतमा का आलिङ्गन कर लिया।'

प्रवास विप्रयोग का वर्णन :—

कार्यतः सम्भ्रमाच्छायात् प्रवाशो भिन्न देशता ॥६४॥
द्वयोस्तत्राश्रुनिश्वास कार्श्यलम्बालकादिता।
स च भावी भवन् भूतस्त्रिधाऽऽद्यो बुद्धिपूर्वकः ॥६५॥

[प्रवास भिन्न देशों में रहने को कहते हैं। यह तीन प्रकार से हो सकता है (१) किसी कार्य से, (२) सम्भ्रम से या (३) शाप से। इस प्रवास विप्रयोग में नायक और नायिका दोनों के आँसू, गहरी, श्वासें कृशता बालों का बिखरे हुए होना ये बातें हुआ करती हैं। प्रथम (कार्य से) विप्रयोग जाना हुआ होता है। अतएव इसके तीन भेद होते हैं: (१) भावी, (२) वर्तमान और (३) भूत।]

(१) प्रवास विप्रयोग :—

(अ) कार्यवश होनेवाले भावी विप्रयोग का उदाहरण :—

होन्त पहिअस्स जाआ आउच्छण जीअ धारण रहस्सम्।
पुच्छन्ती भमइ घरंघरेसु पिअ विरह सहिरीआ॥
[भविष्यत्पथिकस्य जाया आयुः क्षण जीवधारण रहस्यम्।
पृच्छन्ती भ्रमति गृहाद्गृहेषु प्रिय विरह सह्नीका॥]

'परदेश जाने की तैयारी करनेवाले पुरुष की पत्नी प्रियतम के वियोग से लज्जा से भरी हुई क्षणमात्र जीवित रहने के रहस्य को पूछती हुई एक घर से दूसरे घर में घूम रही है।]

(आ) गच्छत्प्रवास (कार्य वश परदेश को चलने के समय के प्रवास) का उदाहरण। जैसे अमरुशतक में :—

प्रहर विरतौ मध्ये वाह्नस्ततोऽपि परेऽथवा।
दिनकृतिगते वास्तं नाथ त्वमद्य समेष्यसि।
इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो।
हरति गमनं वालालापैः सवाष्पगलज्जलैः॥

" 'हे नाथ! आज तुम क्या पहर बीत जाने पर आओगे या मध्याह्न, में आओगे; अथवा उसके भी बाद आओगे या कि जब सूर्य अस्त हो जावेगा तब आओगे?' ये प्रश्न उस बाला ने उस समय पूछे जब प्रियतम ऐसे स्थान को जा रहा था जहाँ पहुँचने के लिए १०० दिनों की आवश्यकता थी; उस समय उसके नेत्रों से आँसुओं के जलविन्दु भी गिर रहे थे। इस प्रकार आँसुओं के साथ ये प्रश्न करते हुए नायिका ने अपने प्रियतम का जाना रोक दिया।"

दूसरा उदाहरण जैसे अमरुशतक में हो :—

देशैरन्तरितः शतैश्च सरितामुर्वीभृतां काननैः
यत्नेनापि न याति लोचनपथं कान्तेति जानन्नपि।
उद्ग्रीवश्चरणार्धरुद्धवसुधः कृत्वाश्रुपूर्णे दृशौ
तामाशां पथिकस्तथापि किमपि ध्यात्वा चिरंतिष्ठति।

'यद्यपि परदेशी जानता है कि उसके और उसकी प्रियतमा के बीच में कई

देश आ गये हैं, सैकड़ों नदियाँ, पर्वत और वन भी आ पड़े हैं; प्रयत्न करने पर भी उसकी प्रियतमा उसके नेत्रों के सामने नहीं आ सकती, किन्तु फिर भी वह अपनी गर्दन ऊपर उठाकर आधे पैरों से पृथ्वी पर खड़े होकर (उचककर) और अपने नेत्रों में आँसू भरकर कुछ ध्यान सा करते हुए उस दिशा की ओर दृष्टि लगाये हुए बड़ी देर से खड़ा हो रहा है।'

(इ) गत प्रवास (परदेश चले जाने के बाद के वियोग) का उदाहरण जैसे मेघदूत में :—

उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्यनिक्षिप्य वीणाम्।
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा॥
तन्त्रीमार्द्रां नयन सलिलैः सारयित्वा कथञ्चित्—
भूयोभूयः स्वयमपिकृतां मूर्छनां विस्मरन्ती॥

'हे सौम्य मेघ ! (जब तुम अलकापुरी में पहुँच जाओगे और मेरी प्रियतमा को देखोगे उस समय या तो वह पूर्वोक्त कार्यों में लगी होगी अथवा) मलिन वस्त्रोंवाली अपनी गोद में वीणा रखकर मेरे नाम से युक्त रचे हुए शब्दोंवाले गाने को गाना चाहती होगी; उस समय उसके आँसू बहते होंगे जिससे वह वीणा भीग जाती होगी, उस वीणा को अपने हाथ से पोछती होगी और जैसे-तैसे जिन मूर्छनाओं को निकालती होगी उन अपने आप ही निकाली हुई मूर्छनाओं को स्वयं ही भूल जाती होगी।'

यदि प्रियतम लौटकर आ रहा हो या आ गया हो तो उसमें वियोग नहीं रहता। अतएव इन दोनों अवस्थाओं को विप्रयोग का भेद नहीं माना जा सकता। यदि प्रियतम लौटकर आनेवाला हो तब तो वह गत प्रवास ही होता है। गत प्रवास की अपेक्षा इसमें कोई विशेषता नहीं होती। अतएव प्रवास विप्रयोग के तीन ही भेद करना उचित है।

(२) सम्भ्रमजन्य विप्रलम्भ :—

द्वितीयः सहसोत्पन्नो दिव्यमानुष विप्लवात्।

[दिव्य (उत्पात, निर्वात वायु इत्यादि) विप्लव से अथवा मनुष्य सम्बन्धी (शत्रु के घेरे इत्यादि से उत्पन्न) विप्लव से जो सहसा वियोग हो जाता है उसे सम्भ्रमजन्य विप्रयोग कहते हैं।]

यह केवल एक प्रकार का होता है क्योंकि इसमें पता नहीं चलता कि वियोग होनेवाला है। विक्रमोर्वशी में उर्वशी और पुरुरवा का वियोग अथवा मालती माधव में मालती के कपालकुण्डला द्वारा हर लिए जाने पर मालती और माधव का वियोग इसके उदाहरण हैं।

(३) शापज विप्रयोग का उदाहरण :—

स्वरूपान्यत्वकरणाच्छापजः सन्निधावपि ॥६६॥

[जहाँ पर निकट होते हुए भी स्वरूप और ही कर दिया जावे वहाँ पर शापज वियोग होता है ।]

शापज विप्रयोग का उदाहरण जैसे कादम्बरी में वैशम्पायन का वियोग ।

मृतेत्वेकत्र यत्रान्यः प्रलयेच्छोक एव सः ।
व्याश्रयत्वान्न श्रृंगारः प्रत्यापन्ने तु नेतरः ॥६७॥

[यदि दो में एक मर जावे और दूसरा शोक से कृश होकर विलाप करे वहां पर शोक ही स्थायी भाव होता है । आलम्बन रूप आश्रय के नष्ट हो जाने से उसे श्रृङ्गार का नाम नहीं दिया जा सकता और (आकाशवाणी इत्यादि से) पुनर्मिलन की आशा हो जाने पर शोक नहीं किन्तु श्रृङ्गार ही कहा जाता है।]

जैसे रघुवंश में इन्द्रमती के मर जाने के बाद अज का करुण रस ही कहा जावेगा । किन्तु कादम्बरी में पुण्डरीक के मर जाने के बाद पहले तो करुण रस कहा जावेगा और बाद में आकाशवाणी सुनने पर प्रवास श्रृङ्गार कहा जावेगा ।

उपर्युक्त श्रृंगार के अयोग और विप्रयोग नामक भेदों में नायिका के विषय में इतनी बात और याद रखनी चाहिए :—

प्रणयायोगयोरुत्का प्रवासे प्रोषित प्रिया ।
कलहान्तरितेर्ष्यायां विप्रलब्धा च खण्डिता ॥६८॥

[प्रणय उत्पन्न हो जाने पर सम्मिलन होने (अयोग) की अवस्था में नायिका उत्कण्ठित होती है; पति के प्रवास में प्रोषितपतिका होती है । (पर स्त्री समागम के ज्ञान होने पर) ईर्ष्या में कलहान्तरिता, विप्रलब्धा और खंडिता होती है ।]

(२) सम्भोग श्रृंगार :—

अनुकूलौ निषेवेते यत्रान्योन्यं विलासिनौ ।
दर्शन स्पर्शनादीनि स सम्भोगो मुदान्वितः ॥६९॥

जहाँ पर अनुकूल विलासी एक दूसरे के दर्शन और स्पर्श इत्यादि का सेवन करते हैं वह आनन्द से युक्त सम्भोग श्रृंगार कहलाता है ।]

उदाहरण के लिए उत्तर राम चरित में :—

किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगा-
दविरलित कपोलं जल्पतोरक्रमेण ।
सपुलकपरिरम्भव्यापृतैकैक दोष्णो
रविदित गतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत् ॥

'निकटता के कारण कपोलों को एक दूसरे से पृथक् न करते हुए बहुत धीरे-धीरे कुछ इधर-उधर बातें बिना क्रम के ही करते हुए और रोमाञ्च के साथ

आलिङ्गन में एक दूसरे की बाहों में बाहें जोड़े हुए हम लोग सारी रात रमण ही करते रहते थे और पहर बीतते चले जाते थे किन्तु हम लोगों को पता भी न चलता था।'

दूसरा उदाहरण—'हे प्रिये ! यह तुम्हारा स्पर्श क्या वस्तु है ?

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा।
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः॥
तव स्पर्शे स्पर्शे ममहि परिमूढेन्द्रियगणो।
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते॥

'यही निश्चय नहीं किया जा सकता है कि यह सुख है कि दुःख है, क्या यह उत्कट मोह है कि निद्रा है कि विष का प्रसार है कि कोई नशा है ? तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श में मेरी इन्द्रियों के समूह को अत्यन्त मूढ़ बनानेवाला विचित्र प्रकार का विकार मेरी अन्तरात्मा को जड़ भी बना रहा है और सन्ताप भी उत्पन्न कर रहा है।'

तीसरा उदाहरण जैसे धनिक का पद्य :—

लावण्यामृतवर्षिणि प्रतिदिशं कृष्णागुरुश्यामले।
वर्षाणामिव ते पयोधरभरे तन्वङ्गि दूरोन्नते॥
नासावंशमनोज्ञ केतक तनुर्भ्रूपत्रगर्भोल्लसत्।
पुष्पश्रीस्तिलकः सहेलमलकैर्भृङ्गैरिवापीयते॥

'हे कृशाङ्गि ! तुम्हारा यह स्तनों का भार लावण्यरूपी अमृत को वर्षानेवाला है और काले अगर के समान श्याम वर्ण का है। यह ऐसा शोभित हो रहा है जैसे मानो वर्षाकाल के बादल उठ रहे हों। क्योंकि बादलों के समान ही यह ऊँचा उठा हुआ है। नाक का भाग सुन्दर केतकी के समान ज्ञात होता है और भौंहरूपी पत्तों के अन्दर शोभित होनेवाले पुष्प के सुन्दर तुम्हारे इस तिलक को क्रीडा करते हुए केशरूपी भौंर पी रहे हैं।'

चेष्टास्तत्र प्रवर्तन्ते लीलाद्याः दशयोषिताम्।
दाक्षिण्यमार्दव प्रेम्णामनुरूपाः प्रियं प्रति ॥७१॥

[नायिकाओं की अपने प्रियतमों के प्रति लीला इत्यादि १० चेष्टाएँ दाक्षिण्य कोमलता और प्रेम के अनुकूल ही प्रवृत्त होती हैं।]

नायक के वर्णन करने के प्रसङ्ग उदाहरणों के साथ उनका निरूपण कर दिया गया है।

रमयेच्चाटुकृत्कान्तः कला क्रीडादिभिश्चताम्।
न ग्राम्यमा चरेत्किञ्चिन्नर्मभ्रंशकरं न च ॥७१॥

[प्रियतम को चाहिए कि चाटुकारिता के साथ कला और क्रीड़ा इत्यादि

से उस नायिका को रमण करावे। कोई भी ग्राम्य आचरण न करे और (क्रोध इत्यादि) कोई ऐसा भी कार्य न करे जिससे सम्भोग के आनन्द में कमी आ जावे।]

रङ्गमञ्च पर ग्राम्य संभोग नहीं दिखाया जाना चाहिए यह तो पहले ही कहा जा चुका है। दूसरी बार उसका निषेध इसलिए कर दिया है कि काव्य में भी उसका प्रयोग न करे। अग्राम्य संभोग का उदाहरण जैसे रत्नावली में :—

स्पृष्टस्त्वयैष दयिते स्मरपूजा व्यापृतेन हस्तेन।
उद्भिन्नापरमृदुतरकिसलय इव लक्ष्यतेऽशोकः॥

उदयन वासवदत्ता से कह रहे हैं —'हे प्रियतमे ! कामदेव की पूजा में संलग्न अपने हाथ से तुमने जो इस अशोक को छू लिया उस तुम्हारी उँगली के यह अशोक ऐसा मालूम पड़ रहा है मानो इसमें एक दूसरा अधिक कोमल किसलय निकल आया हो।'

अच्छे कवि को चाहिए कि लक्षण शास्त्रों में कहे हुए नायक नायिका कैशिकी वृत्ति नाटक नाटिका इत्यादि के लक्षणों को समझ ले कवि परम्परा को जान ले और स्वयं भी औचित्य की कल्पना कर ले। इस प्रकार औचित्य के गुणों का अनुसरण करते हुए शृङ्गार की रचना करे।

वीर

वीरः प्रतापविनयाध्यवसाय सत्व-
मोहाविषाद नय विस्मय विक्रमाद्यैः।
उत्साहभूः सच दया रण दान योगात्
त्रेधाकिलात्र मतिगर्वधृतिप्रहर्षाः ॥७२॥

[वीर रस में प्रताप, विनय, अध्यवसाय (लगन) तेज, मोह, विषाद का अभाव, नीति विस्मय पराक्रम इत्यादि विभाव होते हैं। मतिगर्व धृति अमर्ष स्मृतिवितर्क और प्रहर्ष के सञ्चारी भाव होते हैं; उत्साह (स्थायी भाव) से उत्पन्न होता है। इसके अनुभाव दया, युद्ध और दान होते हैं। इसलिए इसके तीन भेद होते हैं दयावीर, दानवीर और युद्धवीर।]

यह वीररस स्थायी भाव उत्साह के आस्वादन से उत्पन्न होता है जिससे अनुशीलन करनेवालों की चित्तवृत्ति का विस्तार हो जाता है। यही वीररस का स्वरूप है। दयावीर का उदाहरण जैसे नागानन्द में जीमूतवाहन का चरित्र, युद्धवीर जैसे वीरचरित में राम, दानवीर जैसे परशुराम, बलि इत्यादि।

जैसे—'त्याग की सीमा सातों समुद्रों से घिरी हुई पृथ्वी बिना दान कर देना ही है।' दूसरा उदाहरण :—

खर्वं ग्रन्थिविमुक्तसन्धि विकसद्वक्षः स्फुरत्कौस्तुभं,
निर्यन्नाभिसरोज कुड्मल कुटी गम्भीरसाम ध्वनि।
पात्रावाप्ति समुत्सुकेन बलिना सानन्दमालोकितं
पायाद्वः क्रम वर्धमान महिमाश्चर्यं मुरारेर्वपुः॥

'बलि ने क्रमशः बढ़ने की महिमा और आश्चर्य से भरे हुए भगवान् के शररी को आनन्दपूर्वक देखा, उस समय वह शरीर बौनापन की गाँठ के खुल जाने से शरीर का घना मिलाव भी दूर हो रहा था; वक्षस्थल खिल रहा था जिस पर कौस्तुभ की शोभा फैल रही थी; नाभिरूपी कमल की कली की कुटी से गम्भीर सामगान की ध्वनि निकल रही थी, उन भगवान् को देखकर पात्र के प्राप्त कर लेने की उत्कण्ठा में बलि को बहुत अधिक आनन्द आया। इस प्रकार का भगवान् का शरीर आप सब लोगों की रक्षा करे।'

दूसरा उदाहरण जैसे धनिक का ही पद्य :—

लक्ष्मीपयोधरोत्सङ्ग कुंकुमारुणितो हरेः।
बलिरेष सयेनास्य भिक्षापात्रीकृतः करः॥

'यह वही राजा बलि हैं जिन्होंने लक्ष्मीजी के स्तनों पर पड़ने से केसर से लाल हुए भगवान् के हाथ को आज भिक्षा-पात्र बना दिया।'

नायक के प्रकरण में विनय इत्यादि गुणों के उदाहरण दिये जा चुके हैं। वहीं उनको समझना चाहिए। यह केवल प्रायोवाद है कि वीररस तीन प्रकार का होता है। जहाँ कहीं किसी बात के उत्साह का वर्णन हो और उसका विभाव इत्यादि से परिपोष भी हो जाता हो। वहाँ भी वीररस हो सकता है। जैसे प्रताप वीर, गुणवीर, शास्त्रार्थवीर, खण्डनवीर, कर्मवीर विद्यावीर इत्यादि। युद्धवीर वहीं पर होता है जहाँ पसीना, मुख की लाली, नेत्रों की लाली इत्यादि क्रोध के अनुभाव न हों। क्रोध के अनुभावों के होने पर रौद्र रस होता है।

वीभत्स

वीभत्सः कृमिपूतिगन्धिवमथुप्रायै जुगुप्सैकभूः
उद्वेगी रुधिरान्त्रकीकसवसामांसादिभिः क्षोभणः।
वैराग्याज्जघनस्तनादिषु घृणा शुद्धोऽनुभावैर्वृतो
नासा वक्त्रविकूणनादिभिरिहावेगार्ति शङ्कादयः॥७३॥

[जुगुप्सा (घृणा) स्थायीभाव से उत्पन्न होनेवाले रस को वीभत्स रस कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है उद्वेगी, क्षोभण और शुद्ध। यदि कीड़ा दुर्गन्धि हवाकी इत्यादि अनुभावों से युक्त हों तो उद्वेगी (मनोमालिन्यमय घृणापूर्ण) वीभत्स कहलाता है। यदि रक्त, आंत, चर्बी, हड्डियाँ, मांस इत्यादि विभाव-वाला हो तो उसे क्षोभण वीभत्स कहते हैं। यदि वैराग्य से जङ्घा, स्तन इत्यादि में घृणा हो तो शुद्ध वीभत्स कहलाता है। इसमें नाक, मुख इत्यादि का सिकोड़ना अनुभाव होता है और आवेग आर्ति और शङ्का इत्यादि सञ्चारी होते हैं।]

(१) अत्यन्त अहृद्य कीड़ा दुर्गन्धि इत्यादि विभावोंवाले उद्वेगी वीभत्स का उदाहरण :—

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूच्छोप भूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक् पृष्ठपिण्डाद्यवयव सुलभान्युग्र पूतीनि जग्ध्वा।
आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-
पङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुरगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति॥

यह अत्यन्त दीन पिशाच पहले खाल को फाड़-फाड़कर कंधे, नितम्ब, पीठ इत्यादि मसीले अवयवों में सरलता से प्राप्त हो सकनेवाले बहुत तेज दुर्गन्धि से युक्त अधिक फूले होने के कारण अधिकता को प्राप्त मांसों को खाकर आर्त होकर अपने नेत्रों को फैलाये हुए दाँतों को निकाल-निकालकर अपनी गोद में रक्खे हुए मुर्दे की हड्डियों के ढाँचे से ऊँचे नीचे विषम स्थानों में चिपटे हुए भी मांस बिना किसी व्यग्रता के खा रहा है।'

(२) रक्त, आँत, चर्बी, हड्डी मांस इत्यादि विभावोंवाले क्षोभण वीभत्स का उदाहरण जैसे वीरचरित में :—

अन्त्रप्रोतबृहत्कपालनलक क्रूरक्वणत्कङ्कण,
प्राय प्रेङ्खितभूरिभूषणरवैराघोषयन्त्यम्बरम्।
पीतोच्छर्दित रक्त कर्दम घन प्राग्भारघोरोल्लस-
द्व्यालोलस्तनभार भैरव वपुर्दर्पोद्धतं धावति॥

'देखो यह कितनी औद्धत्यपूर्ण दौड़ रही है। इसकी आँत में पिरोये हुए बड़े-बड़े कपालों की और लम्बी हड्डियों के कङ्कण इत्यादि आभूषण धारण कर लिए हैं जिनका शब्द बड़ा ही क्रूर मालूम पड़ रहा है और इन आभूषणों के हिलने-डुलने से उठे हुए शब्द से सारा आकाश-मण्डल भयानक शब्द से भर गया है। इसने खून को पीकर कै कर दी है जिससे आगे के भाग में कीचड़ सी फैल गई हो और उससे सन कर शोभित होनेवाला जो स्तनों का भार चञ्चल हो रहा है उससे इसका शरीर बड़ा ही भयानक मालूम पड़ता है।'

(३) रमणीय भी स्त्री के जङ्घा और स्तनों में वैराग्य से घृणा होने पर शुद्ध वीभत्स होता है। इसका उदाहरण :—

लालां वक्त्रासवं वेत्ति मांसपिण्डौ पयोधरौ।
मांसास्थिकूटं जघनं जनः काम ग्रहातुरः॥

'कामदेव की पकड़ से पीड़ित व्यक्ति लार को मुख की मदिरा समझता है, मांस के पिण्डों को पयोधर कहता है तथा मांस और हड्डी के समूह को जङ्घा बतलाता है।'

यहाँ पर शान्त रस नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसका वैराग्य शान्ति के कारण नहीं है किन्तु घृणा उत्पन्न होने से इसे विरक्ति हुई है।

रौद्र

क्रोधोमत्सर वैरि वैकृतमयैः पोषोऽस्यरौद्रोऽनुजः,
क्षोभः स्वाधरदंश कम्प भ्रू कुटिस्वेदास्परागैयु तः।
शस्त्रोल्लास विकत्थनांसधरणीधात प्रतिज्ञा ग्रहै-
रत्रामर्षमदौ स्मृतिश्चपलतासूयौग्रवेगादयः॥७४॥

[जहाँ क्रोध स्थायीभाव हो उसे रौद्र रस कहते हैं; इसका परिपोष मत्सर, शत्रुकृत अपकार इत्यादि विभावों के द्वारा हुआ करता है; इसका छोटा भाई क्षोभ है; इसमें दाँतों से ओठ काटना कापना, भौं टेढ़ी करना, पसीना, मुख का लाल हो जाना, शस्त्र उठाना, बढ़-बढ़कर बातें करना, कंधों को ठोंकना, पृथ्वी पर पैर पटकना, प्रतिज्ञा और आग्रह ये अनुभाव होते हैं। अमर्ष, मद, स्मृति, चपलता, असूया, उग्रता, आवेग इत्यादि सञ्चारीभाव होते हैं।]

(१) मात्सर्य विभाववाले रौद्र का उदाहरण। जैसे वीरचरित में :—

त्वं ब्रह्मवर्चसधरो यदि वर्तमानो
यद्वास्वजातिसमयेन धनुर्धरः स्याः।
उग्रेण भोस्तव तपस्तयसा दहामि
पक्षान्तरस्य सदृश परशुः करोति॥

'चाहे तुम ब्रह्म तेज धारण करनेवाले होने का अभिमान लेकर हमारे सामने खड़े हो रहे हो या अपनी जाति के नियम के अनुसार धनुर्धर होने का तुम्हें अभिमान है (दोनों ही दशाओं में मैं तुम्हारे अभिमान को तोड़ दूँगा।) अभी मैं तुम्हारी तपस्या को अपनी उग्र तपस्या के प्रभाव से जला देता हूँ और दूसरी बात (धनुर्धर होने) का उचित उत्तर हमारा कुठार दे देगा।'

(२) वैरियों के विकार से उत्पन्न रौद्र का उदाहरण जैसे वेणी-संहार में :—

लाक्षागृहानलविषान्न सभाप्रवेशैः,
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ।
आकृष्ट पाण्डवधू परिधानकेशाः
स्वस्था भवन्तु मपि जीवति धार्तराष्ट्रः ॥

'लाख के घर में आग लगाना, विषमय भोजन कराना, द्यूत के लिए सभा में बुलाना इत्यादि कार्यों से हम लोगों के प्राणों पर धन राशि पर प्रहार करके, पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी के वस्त्र और केशों को खींचकर धृतराष्ट्र के पुत्र हम लोगों के जीवित रहते हुए स्वस्थ रह सकें यह कैसे हो सकता है ?

उपर्युक्त विभावों, पसीना, मुख और नेत्रों की लाली इत्यादि अनुभावों तथा वैर अमर्ष इत्यादि सञ्चारियों से जब क्रोध का पूर्ण परिपोष हो जाता है तब उसे रौद्र रस कहते हैं। इस रौद्र रस का अनुसन्धान परशुराम, भीमसेन, दुर्योधन इत्यादि के व्यवहारों में तथा वीरचरित और वेणीसंहार इत्यादि नाटकों में करना चाहिए।

हास्य

वकृताकृतिवाग्वेषैरात्मनोऽथ परस्य वा।
हासः स्यात्परिपोषोऽस्य हास्यस्त्रिप्रकृतिः स्मृतः ॥७५॥

[अपनी या दूसरे की विगड़ी हुई आकृति, वाणी या वेष को आलम्बन मानकर हास का परिपोष होता है। इसे हास्य रस कहते हैं। इसकी तीन प्रकृति होती है उत्तम, मध्यक और अधम।]

हास्य रस के दो अधिष्ठान होते हैं एक तो स्वयम् और दूसरे कोई अन्य व्यक्ति। इन दोनों में प्रत्येक की तीन तीन प्रकृतियाँ होती हैं उत्तम, मध्यम और अधम। इस प्रकार हास्य रस छः प्रकार का होता है।

(१) आत्मस्थ हास्य रस का उदाहरण जैसे रावण कह रहा है :—

जातं मे, परुषेण भस्मरजसा तच्चन्दनेद्धलनं
हारो वक्षसि यज्ञसूत्रमुचितं क्लिष्टाः जराः कुन्तलाः।
रुद्राक्षैः सकलैः सरलवलयं चित्रांशुकं वल्कलं
सीतालोचनहारि कल्पितमहो रम्यं वपुः कामिनः ॥

'कठोर भस्म की धूल से मेरे शरीर का सारा चन्दन छूट गया है; हृदय पर पड़ा हुआ हार जनेऊ के रूप में बदल गया; अच्छे बने हुए बाल कठोर जटा बन गये। रत्नों के वलय रुद्राक्ष के रूप में बदल गये और रंग-बिरंगे रेशमी वस्त्र वल्कल बन गये। यह मैंने कैसा रमणीय रूप बनाया है; यह कामी व्यक्ति के योग्य ही हैं, अवश्य ही सीता जैसी सुन्दरी के नेत्र इस रूप पर रीझ जावेंगे।'

(२) परस्थ हास्य का उदाहरण :—

भिक्षो मांस निषेवणं प्रकुरुषे ? किं तेन मद्यं बिना ।
किं ते मद्यमपिप्रियं ? प्रियमहो वाराङ्गनाभिः सह ॥
वेश्या द्रव्यरुचिः कुतस्तवधनं ? द्यूतेन चौर्येण वा ।
चौर्यद्यूत परिग्रहोऽपि भवतो नष्टस्य कान्यागतिः ॥

'हे भिक्षु क्या तुम मांस खाते हो ?' 'बिना शराब के मांस अच्छा नहीं लगता ।' 'अच्छा तुम्हें मद्य भी पसन्द है ?' 'हाँ वेश्याओं के साथ में पसन्द है ।' 'वेश्याओं को तो धन अच्छा लगता है, तुम्हारे पास धन कहाँ से आया ?' 'जुये से या चोरी से ।' 'तो तुम जुआ और चोरी का भी अभ्यास रखते हो ?' 'जो नष्ट हो चुका है उसके लिए और सहारा ही क्या है ?'

हास्य छः प्रकार का होता है। उनके भेद और लक्षण नीचे दिये जा रहे हैं :—

स्मितमिह विकासि नयनं किञ्चिल्लक्ष्य द्विजं तु हसितं स्यात् ।
मधुरस्वरं विहसितं सशिरः कम्पमिदमुपहसितम् ॥७६॥
अपहसितं सास्राक्षं विक्षिप्तांगं भवत्यतिहसितम् ।
द्वे द्वे हसिते चैषा ज्येष्ठे मध्येऽधमे क्रमशः ॥७७॥

[स्मित उस हास्य को कहते हैं जिसमें नेत्र कुछ खिल जावें; हसित उसे कहते हैं जिसमें कुछ दाँत दिखाई पड़ने लगें; विहसित उसे कहते हैं जिसमें मधुर स्वर सुनाई पड़े; उपहसित उसे कहते हैं जिसमें सर कँपाकर हँसा जावे, अपहसित उसे कहते हैं जिसमें आँसू निकल आवें, अतिहसित उसे कहते हैं जिसमें अङ्गविक्षिप्त (लोट-पोट) हो जावे । इनमें दो दो हँसी क्रमशः ज्येष्ठ, मध्य और अधम की हुआ करती हैं अर्थात् ज्येष्ठ की स्मित और हसित, मध्य की विहसित और उपहसित तथा अधम की अपहसित और अतिहसित होती हैं ।]

इनके उदाहरणों को स्वयं समझना चाहिए।

हास्यरस के व्यभिचारी भाव ये होते हैं :—

निद्रालस्य ग्लानिमूर्छाश्च सहचारिणः ।

[निद्रा आलस्य ग्लानि और मूर्छा ये हास्य रस के सहचारी होते हैं ।]

अद्भुत

अतिलोकैः पदार्थैः स्याद्विस्मयात्मा रसोऽद्भुतः ॥७८॥
कर्मास्य साधुवादाश्रु वेपथुस्वेदगद्गदाः ।
हर्षावेग धृति प्रायाः भवन्ति व्यभिचारिणः ॥७९॥

[लोक सीमा का अतिक्रमण करनेवाले पदार्थ जिसमें विभाव होते हैं, विस्मय स्थायीभाव ही जिसकी आत्मा होती है, साधुवाद, आँसू, कम्पन, पसीना, कण्ठ का गद्गद होना ये जिसके कर्म हैं (अनुभाव) होते हैं; हर्ष, आवेग, धृति इत्यादि जिसके व्यभिचारीभाव होते हैं उसे अद्भुत रस कहते हैं। जैसे :—

दोर्दण्डाञ्चित चन्द्रशेखर धनुर्दण्डावभङ्गोद्धत-
ष्टङ्कारध्वनिरार्यबालचरित प्रस्तावना डिण्डिमः ॥
द्राक्पर्याप्तकपालसम्पुटमिलद्ब्रह्माण्ड भाण्डोदर-
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमसौ नाद्यापिविश्राम्यति ॥

'अपने भुजदण्डों में चन्द्रशेखर भगवान् शङ्कर के धनुर्दण्ड को लेकर उसके तोड़ने में उद्धत धनुष के टङ्कार का शब्द जो कि आर्य श्री रामचन्द्रजी के बालचरित्र की प्रस्तावना का एक डिण्डिमघोष था और जिसकी प्रचण्डता शीघ्र ही नरमस्तक रूपी कपालों के सम्पुटों के मिलने से बने हुए ब्रह्माण्ड रूप एक बर्तन के अन्दर घूमती हुई पिण्डित हो गई है क्या आज भी नहीं रुक रहा है ?'

भयानक

विकृत स्वर सत्वादे र्भयाभावो भयानकः ।
सर्वाङ्ग वेपथुस्वेद शोष वैवर्ण्य लक्षणः ।
दैन्य संभ्रम संमोह त्रासादिस्तत्सहोदरः ॥८०॥

[विकृत स्वर और विकृत सत्व जिसमें विभाव हैं, सर्वाङ्ग कम्पन, पसीना, सूखना, रंग फीका पड़ना इत्यादि जिसमें अनुभाव हैं, दैन्य, सम्भ्रम, संमोह, त्रास इत्यादि जिसमें व्यभिचारी भाव होते हैं, इस प्रकार इन सबसे परिपोष को प्राप्त हुए भय नामक स्थायीभाव को भयानक रस कहते हैं।]

यह भयानक रस रौद्र शब्द श्रवण और रौद्र सत्वदर्शन से उत्पन्न होता है। जैसे :—

शस्त्रमेतत्समुत्सृज्य कुब्जीभूय शनैः शनैः ।
यथातथागतेनैव यदि शक्नोषि गम्यताम् ॥

'इस शस्त्र को छोड़कर और कुबड़े बनकर (झुककर) धीरे-धीरे जैसे-तैसे (किसी भी) रूप में यदि जा सकते हो तो चले जाओ।'

दूसरा उदाहरण जैसे रत्नावली में 'नष्टं वर्ष वरैः' इत्यादि पद्य। इसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है। दे० पृ० —

तीसरा उदाहरण :—

स्वगेहात्पन्थानं तत उपचितं काननमथो ।
गिरिं तस्मात्सान्द्रद्रुमगहनमस्मादपि गुहाम् ॥
तदन्वङ्गान्यङ्गैरभिनिविशमानो न गणय-
त्यरातिः क्वालीये तव विजययात्रा चकितधीः ॥

तुम्हारा शत्रु तुम्हारी विजय यात्रा से चकित बुद्धिवाला होकर यही नहीं समझ पा रहा है कि कहाँ छिपूँ-अपने घर से मार्ग को गया, वहाँ से वन को ढूँढ़ डाला, वहाँ से पर्वत को, फिर घने वृक्षोंवाले महावन को और इसके बाद गुहा को छिपने के लिए ढूँढ़ा। इसके बाद अब अपने ही अङ्गों से अपने अङ्गों में घुसा जा रहा है, अब उसे छिपने का कहीं स्थान ही नहीं मिलता।'

करुण

इष्टनाशादनिष्टाप्तौ शोकात्मा करुणोऽनुतम् ।
निश्श्वासोच्छ्वास रुदितस्तम्भ प्रलयितादयः ॥८१॥
स्वापापस्मार दैन्याधिमरणालस्य सम्भ्रमाः ।
विषाद जड़तोन्माद चिन्ताद्याः व्यभिचारिणः ॥८२॥

[बान्धव इत्यादि इष्टजनों के नाश और वधबन्धन इत्यादि भी नष्ट की प्राप्ति जिसमें विभाव हो, निश्वास, उच्छ्वास, रुदित, स्तम्भ, प्रलयित इत्यादि जिसमें अनुभाव हों, स्वाप, अपस्मार, दैन्य, आधि, मरण, आलस्य, सम्भ्रम, विषाद, जड़ता, उन्माद, चिन्ता इत्यादि व्यभिचारी भाव हों, इन सबसे पुष्ट होनेवाले शोक स्थायी भाव को करुण रस कहते हैं।] इष्ट नाश से उत्पन्न होनेवाले करुण का उदाहरण :—

अयि जीवितनाथ जीवसीत्यभिधायोत्थितया तया पुरः ।
ददृशे पुरुषाकृति क्षितौ हर कोपानलभस्म केवलम् ॥

'हे जीवननाथ ! तुम जी रहे हो ! यह कहकर उठी हुई उस रति ने अपने सामने पृथ्वी पर पड़ी हुई पुरुष की आकृतिवाली शङ्करजी के कोप की केवल राख ही देखी।'

यहाँ से लेकर रति विलाप इष्टनाशजन्य करुण का उदाहरण है।

अनिष्ट प्राप्तिजन्य करुण का उदाहरण जैसे रत्नावली में सागरिका के बन्धन और भवन में आग लग जाने से राजा और रानी इत्यादि को शोक हुआ है।

अन्य रसों और भावों का अन्तर्भाव

प्रीति भक्त्यादयो भावाः मृगयाक्षादयो रसाः ।
हर्षोत्साहादिषुस्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिताः ॥८३॥

[प्रीति, भक्ति इत्यादि भावों और मृगया, अक्ष इत्यादि रसों का अन्तर्भाव

हर्ष और उत्साह इत्यादि में हो जाता है यह स्पष्ट ही है । अतएव यहाँ पर उनका पृथक् उल्लेख नहीं किया गया ।]

षट्त्रिंशद्भूषणादीनि सामादीन्येकविंशतिः ।
लक्ष्यसंध्यन्तराख्यानि सालङ्कारेषु तेषु च ॥८४॥

[(इसी प्रकार) ३६ भूषण इत्यादि और २१ साम इत्यादि जो दूसरे लक्ष्य और दूसरी संधियाँ हैं उनका अन्तर्भाव अलङ्कारों के सहित हर्ष उत्साह इत्यादि में हो जाता है; अतएव उनका पृथक् उल्लेख यहाँ पर नहीं किया गया ।]

आशय यह है कि भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में 'विभूषणं चाक्षर संहतिश्च शोभाभिमानौ गुण कीर्तनंच' से लेकर ३६ प्रकार के काव्यगत का भूषण इत्यादि लक्षण का वर्णन किया है उनका अन्तर्भाव उपमा इत्यादि अलङ्कारों में हो जाता है । इसी प्रकार 'साम भेदः प्रदानं च' इत्यादि में जो २१ प्रकार की दूसरी संधियाँ बतलाई हैं उनका अन्तर्भाव हर्ष उत्साह इत्यादि में हो जाता है । इसी लिए उनके पृथक् उल्लेख की आवश्यकता नहीं ।

ग्रन्थ का उपसंहार

रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीच-
मुग्रंप्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु ।
यद्वाप्यवस्तु कविभावक भाव्यमानं
तत्रास्तियत्र रसभावमुपैति लोके ॥८५॥

[चाहे वस्तु रमणीय हो, चाहे घृणास्पद हो, चाहे उदार हो या नीच हो अथवा उग्र हो या प्रसन्न करनेवाली हो, गहन हो या विकृत हो अथवा अवस्तु ही हो किन्तु यदि कवि और भावक (परिशीलन करनेवाले) उसे अपनी भावना का विषय बना लेवें तो संसार में कोई ऐसी वस्तु नहीं जो रस और भाव को न प्राप्त हो जावे ।'

विष्णोः सुतेनापिधनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः ।
आविष्कृतं मुञ्जमहीष गोष्ठीवैदग्ध्य भाजादशरूपमेतत् ॥८६॥

'मुञ्ज राज की गोष्ठी में विदग्धता को प्राप्त विष्णु के पुत्र धनञ्जय ने विद्वानों के मनोराग के निबन्धन के लिए इस दशरूपक की रचना की है ।'

इति श्री विद्वद्वरधनञ्जय प्रणीतं दशरूपकं समाप्तम् ।

—:०:—